नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग १—संवत् १६७७
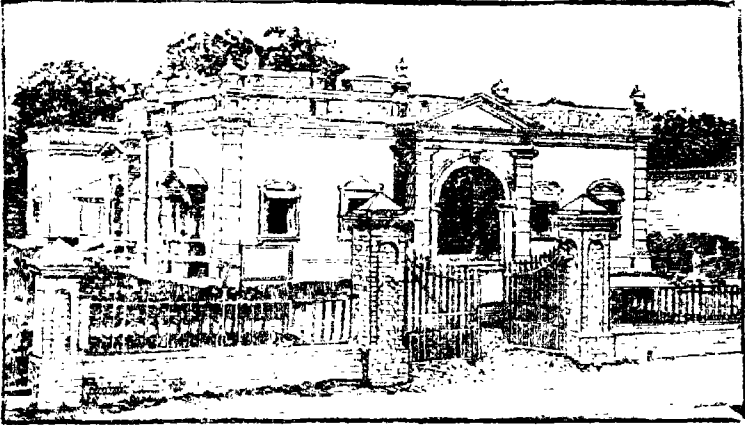
संपादक

रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा,

[मुंशी] देवीप्रसाद, चंद्रधर शर्म्मा गुलेरी बी० ए०,

श्यामसुंदरदास बी० ए०

—:—

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित।

लेख-सूची ।

पृष्ठांक

*

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

[नवीन संस्करण]

पहला भाग-संवत् १९७७

१—प्राक्-कथन।

किसी जाति को सजीव रखने, अपनी उन्नति करने तथा उसपर दृढ़ रहकर सदा अग्रसर होते रहने के लिये इतिहास से बढ़कर दूसरा कोई साधन नहीं है। पूर्व गौरव तथा कृतियों के कारण जिस संजीवनी शक्ति का संचार होता है उसको अन्य किसी उपाय से प्राप्त करके रक्षित रखना कठिन ही नहीं वरन एक प्रकार से असंभव है। साथ ही किसी जाति का साहित्य-भांडार तब तक पूर्ण नहीं माना जा सकता जब तक इतिहासरूपी रत्नों को भी उसमें पूर्ण गौरव का स्थान न मिला हो। इन बातों को सामने रखकर जब हम अपने प्यारे देश भारतवर्ष का ध्यान करते हैं तो हमें इसके इतिहास के संपन्न करने तथा रक्षित रखने की आवश्यकता और भी अधिक जान पड़ती है। जगन्नियंता जगदीश्वर ने पृथ्वीतल पर इस भारतभूमि को ऐसा रचा है कि बहुत प्राचीन काल से भिन्न भिन्न देशों के विजेताओं ने इसे सदा अपने हस्तगत करने ही में अपने बल और पौरुष की पराकाष्ठा समझी है। यही कारण है कि हम अपने देश को बहुत काल से पृथ्वी के विजयी शूरवीरों का क्रीड़ा-क्षेत्र पाते हैं। जिस देश पर

शताब्दियों से आक्रमण होते चले आए हों और जहाँ युद्धों ने प्रचंड रूप धारण किया हो वहाँ की ऐतिहासिक सामग्री का ज्यों का त्यों बना रहना असंभव है। जब से ऐतिहासिक काल का आरंभ होता है अथवा उसके भी बहुत पहले से हम इस देश में लड़ाई झगड़ों का ही अखंड राज्य स्थापित पाते हैं। आर्यों के इस देश में आकर बसने से ही इस लीला का आरंभ होता है। आदिम निवासियों को मार काट कर पीछे हटाने और अच्छे अच्छे स्थानों को अधिकार में लाने ही से इस देश के आर्य इतिहास का आरंभ होता है। कुछ काल के अनंतर हम इन्हें अपनी सभ्यता के फैलाने के उद्योग में यत्नशील देखते हैं। यों बहुत काल तक आर्य जाति भारतवर्ष में अपने संघटन में तत्पर रही। जब राज्यों की स्थापना हो चुकी तो ईर्ष्या और मत्सर ने अपना प्रभुत्व दिखाया और परस्पर के झगड़ों ने देश में रक्त की नदियाँ बहाईं। इसके अनंतर विदेशियों के आक्रमणों का आरंभ होता है। पहले यूनानियों ने इस देश पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहा, फिर मुसलमानों की इसपर कृपा हुई और अंत में युरोपीय जातियों का यह लीलाक्षेत्र बना। इन सब घटनाओं से यह स्पष्ट है कि ऐसी अवस्था में इस देश का श्रृंखलाबद्ध इतिहास बना रहना और मिलना कठिन ही नहीं वरन असंभव सा है। फिर भी जो कुछ सामग्री उपलब्ध है या उद्योग करके प्रस्तुत की जा सकती है उसके द्वारा हम इस देश का एक भला चंगा प्राचीन इतिहास उपस्थित कर सकते हैं। यह सामग्री चार भागों में विभक्त की जा सकती है—

(१) हमारे यहाँ की प्राचीन पुस्तकें।

(२) विदेशियों के यात्रा-विवरण और इस देश के वर्णन-संबंधी ग्रंथ।

(३) प्राचीन शिलालेख तथा दानपत्र।

(४) प्राचीन सिक्के, मुद्रा या शिल्प।

(१) यद्यपि भारतवर्ष से विस्तीर्ण देश का, जिसमें अनेक स्वतंत्र राज्यों का उदय और अस्त होता रहा, श्रृंखलाबद्ध इतिहास नहीं

मिलता, पर यह बात निर्विवाद है कि भिन्न भिन्न समयों पर भिन्न भिन्न राज्यों का इतिहास संक्षेप से अथवा काव्यों में लिखा गया था और भिन्न भिन्न वंशों के राजाओं की वंशावलियाँ तथा ऐतिहासिक घटनाएँ लिखी जाती थीं। विष्णु, भागवत, वायु, मत्स्य आदि पुराणों में सूर्य और चंद्रवंशी राजाओं की प्राचीन काल से लगा कर भारत के युद्ध के पीछे की कई शताब्दियों तक की वंशावलियाँ एवं नंद, मौर्य, शुंग, कण्व, आंध्र आदि वंशों की नामावलियाँ तथा प्रत्येक राजा के राजत्व-काल के वर्षों की संख्या तक मिलती है। रामायण में रघुवंश का और महाभारत में कुरुवंश का विस्तृत इतिहास है। ईसवी सन् के पीछे के समय में भी अनेक ऐतिहासिक ग्रंथ लिखे गए थे। हर्षचरित में थानेश्वर के बैसवंशी राजाओं का, गौडवहो में कन्नौज के राजा यशोवर्मन् का, नवसाहसांकचरित में मालवा के परमारों का, विक्रमांकदेवचरित में कल्याण के चालुक्यों (सोलंकियों) का, पृथ्वीराज-विजय में साँभर और अजमेर के चौहानों का, द्व्याश्रय काव्य, कीर्तिकौमुदी, कुमारपालचरित आदि में गुजरात के सोलंकियों का और राजतरंगिणी में कश्मीर पर राज्य करनेवाले भिन्न भिन्न वंशों के राजाओं का इतिहास लिखा गया था। इसी प्रकार धर्माचार्यों की परंपरा भी कुछ कुछ वृत्तांत सहित लिखी जाती थी। इस प्रकार के ग्रंथों में मुख्य मुख्य ग्रंथ जिनका अब तक पता चला है ये हैं—रामायण, महाभारत, पुराण, राजतरंगिणी, हर्षचरित, गौडवहो, मुद्राराक्षस, नवसाहसांकचरित, विक्रमांकदेवचरित, रामचरित, द्व्याश्रय काव्य, कुमारपालचरित, पृथ्वीराजविजय, कीर्तिकौमुदी, सुकृतसंकीर्तन, हम्मीरमद-मर्दन, प्रबंधचिंतामणि, चतुर्विंशति प्रबंध, कुमारपाल-चरित (कई), वस्तुपालचरित, हम्मीर महाकाव्य, जगडूचरित, वल्लालचरित, मंडलीक काव्य, कंपरायचरितम्, कर्मचंद्रवंशोत्कीर्तनकम्, अच्युतरायाभ्युदयकाव्यम्, मूषकवंशम् इत्यादि।

इन ऐतिहासिक ग्रंथों के अतिरिक्त भिन्न भिन्न विषयों की कितनी ही पुस्तकों में कहीं प्रसंगवश और कहीं उदाहरण के रूप में

कुछ न कुछ ऐतिहासिक वृत्तांत मिल जाता है। कई नाटक ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर रचे हुए मिलते हैं और कई काव्य कथा आदि की पुस्तकों में ऐतिहासिक पुरुषों के नाम एवं उनका कुछ वृत्तांत भी मिल जाता है। जैसे पतंजलि के महाभाष्य से साकेत (अयोध्या) और मध्यमिका (नगरी, चित्तौड़ से ७ मील उत्तर में) पर यवनों (यूनानियों) के आक्रमण का पता लगता है। महाकवि कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में सुंगवंश के संस्थापक राजा पुष्यमित्र के समय में उसके पुत्र अग्निमित्र का विदिशा (भेलसा) में शासन करना, विदर्भ (बराड़) के राज्य के लिये यज्ञसेन और माधवसेन के बीच विरोध होना, माधवसेन का विदिशा के लिये भागना तथा यज्ञसेन के सेनापति द्वारा कैद होना, माधवसेन को छुड़ाने के लिये अग्निमित्र का यज्ञसेन से लड़ना तथा विदर्भ के दो विभाग कर एक उसको और दूसरा माधवसेन को देना, पुष्यमित्र के अश्वमेध के घोड़े का सिंध (सिंधु—राजपूताने में) नदी के दक्षिण तट पर यवनों (यूनानियों) द्वारा पकड़ा जाना, वसुमित्र का यवनों से लड़कर घोड़े को छुड़ाना और पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ का पूर्ण होना आदि वृत्तांत मिलता है। वात्स्यायन 'कामसूत्र' में कुंतल देश के राजा शातकर्णी के हाथ से क्रीड़ाप्रसंग में उसकी रानी मलयवती की मृत्यु होना लिखा मिलता है। वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' तथा बाणभट्ट के 'हर्षचरित' में कई राजाओं की मृत्यु भिन्न भिन्न प्रकार से होने का प्रसंगवशात् उल्लेख है। अजमेर के चौहान राजा विग्रहराज के राजकवि सोमेश्वर रचित 'ललितविग्रहराज' नाटक में विग्रहराज (वीसलदेव) और मुसलमानों के बीच की लड़ाई का हाल मिलता है। कृष्णमित्र के 'प्रबोधचंद्रोदय' नाटक से पाया जाता है कि चेदी देश के राजा कर्ण ने कलिंजर के चंदेल राजा कीर्तिवर्मन् को फिर राज्य-सिंहासन पर बिठलाया था।

ऐसे ही कई विद्वानों ने अपने ग्रंथों के प्रारंभ या अंत में अपना तथा अपने आश्रयदाता राजा या उसके वंश का वर्णन किया है। किसी

किसी ने अपनी पुस्तक की रचना का संवत् तथा उस समय के राजा का नाम भी दिया है। कई नकल करनेवालों ने पुस्तकों के अंत में नकल करने का संवत् तथा उस समय के राजा का नाम भी दिया है। जैसे, जल्हण पंडित ने 'सूक्तिमुक्तावली' के प्रारंभ में अपने पूर्वजों के वृत्तांत के साथ देवगिरि के कितने एक राजाओं का परिचय दिया है। हेमाद्रि पंडित ने अपनी 'चतुर्वर्गचिंतामणि' के व्रतखंड के अंत की 'राजप्रशस्ति' में राजा दृढ़प्रहार से लगाकर महादेव तक के देवगिरि (दौलताबाद) के राजाओं की वंशावली तथा कितनों ही का कुछ कुछ हाल भी दिया है। ब्रह्मगुप्त ने शक संवत् ५५० (ई० सन् ६२८) में 'ब्राह्मस्फुट सिद्धांत' रचा। उसके लेख से यह पता चलता है कि उस समय भीनमाल (मारवाड़ में) का राजा चाप (चावड़ा) वंशी व्याघ्रमुख था। ई० सन् की सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में माघ कवि ने, जो भीनमाल का रहनेवाला था, 'शिशुपालवध' काव्य रचा, जिसमें वह अपने दादा सुप्रभदेव को राजा वर्मलात का सर्वाधिकारी बतलाता है। वि० संवत् १२८४ (ई० स० १२२८) के फाल्गुन मास में सेठ हेमचंद्र ने 'ओघ-निर्युक्ति' की नकल करवाई। उस समय आघाटदुर्ग (आहाड—मेवाड़ की पुरानी राजधानी) में जैत्रसिंह का राज्य था। ऐसी ऐसी अनेक घटनाओं का उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में मिलता है।

ऐतिहासिक काव्यों आदि के अतिरिक्त कई वंशावलियों की पुस्तकें मिलती हैं, जैसे कि क्षेमेंद्र-रचित 'नृपावली' (राजावली), जैन पंडित विद्याधर-रचित 'राजतरंगिणी', रघुनाथ-रचित 'राजावली'। ई० सन् की १४ वीं शताब्दी की हस्तलिखित नेपाल की तीन वंशावलियाँ तथा जैनों की कई एक पट्टावलियाँ आदि मिली हैं। ये भी इतिहास के मूल साधन हैं।

अब तक अनेक संस्कृत, प्राकृत, आदि ग्रंथों के संग्रहों की कुछ कुछ विवरण सहित १०० से अधिक रिपोर्टें या सूचियाँ छप चुकी हैं जिनमें से १८ के आधार पर डॉक्टर ऑफ्रे ने 'कैटेलागस कैटेलॉ-गोरम्' नामक पुस्तक तीन खंडों में छपवाई है। उसमें अकारादि क्रम

से प्रत्येक ग्रंथकार और ग्रंथ के नामों की सूची है। असाधारण श्रम से बने हुए इस ग्रंथ से संस्कृत साहित्य के महत्त्व का अनुमान हो सकता है।

भाषा की ऐतिहासिक पुस्तकों में हिंदी की रत्नमाला, पृथ्वीराज-रासा, खुम्माण-रासा, राणा-रासा, रायमल-रासा, हम्मीर-रासा, बीसलदेव-रासा, गुजराती के कान्हड़दे-प्रबंध, विमल-प्रबंध आदि, और तामिल भाषा के काळव ळनाडपटु, कलिंगत्तुपरणी, विक्रमशीलनुला, राजराजनुला, कोंगुदेशराजाकल आदि से भी बहुत से ऐतिहासिक वृत्तांतों का पता चलता है।

इस प्रकार इन ग्रंथों से अनेक ऐतिहासिक घटनाओं तथा ऐतिहासिक पुरुषों का पता चल सकता है तथा उनके विवरण जाने जा सकते हैं।

(२) जिन विदेशियों ने अपनी भारतयात्राओं का तथा इस देश की बातों का वर्णन लिखा है उनमें सबसे प्राचीन यूनान-निवासी हैं। इनमें से निम्न-लिखित लेखकों के वर्णन या तो स्वतंत्र पुस्तकों में या उनके वर्णनों का उल्लेख दूसरे ग्रंथों में मिलता है—हिराडोटस, केसियस, मेगास्थनीज़, एरिअन, कर्टिअस रूफस, प्ल्यूटार्क, डायाडारिस, एरिप्लस, टालमी आदि।

यूनानियों के पीछे चीनवालों का नंबर आता है। इस देश के कई यात्री भारतवर्ष में आए और उन्होंने अपने अपने यात्रा-वर्णनों में इस देश का अच्छा वर्णन किया है। इनमें से सब से पुराना यात्री फाहियान है जो ईसवी सन् ३९९ में चीन से चला और सन् ४१४ में अपने देश को लौटा। इसके पीछे सन् ५१८ में सुंगयुन यहां आया। फिर सन् ६२९ में हुएन्त्सांग आया। इसकी यात्रा के संबंध में दो ग्रंथ मिलते हैं—एक में तो हुएन्त्सांग की यात्रा का वर्णन है और दूसरे में उसका जीवनचरित है। अंत में सन् ६७१ में इत्सिंग यहाँ आया। इन यात्रा-विवरणों के अतिरिक्त अनेक संस्कृत ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद

हुआ है और उन्हींसे कई मूल ग्रंथों का पता लगता है जिनका भारत-वर्ष में उच्छेद हो चुका है।

तिब्बतवालों का भारतवर्ष से घनिष्ठ संबंध रहा है और उन्होंने अपनी भाषा में अनेक संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद किया है। तिब्बती साहित्य का अभी तक विशेष अनुसंधान नहीं हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि इसके होने पर भारतवर्ष के संबंध में अनेक नई बातों का पता लगेगा। लंकावालों का भी भारतवर्ष से बड़ा घनिष्ठ संबंध रहा है। इनके दीपवंश, महावंश और मलिंदपन्हो नामक ग्रंथों से अनेक ऐतिहासिक बातों का पता लगता है।

यद्यपि भारतवर्ष में मुसलमानों के आने के पहले प्राचीन इतिहास के संबंध में इनके समय में लिखे गए ग्रंथों से कोई विशेष सहायता नहीं मिलती, फिर भी मुसलमानी राजत्व-काल में भारतवर्ष के इतिहास का इन लोगों ने अच्छा वर्णन किया है। इनके मुख्य ग्रंथ ये हैं— सिल्सिलातुत्तवारीख़, मुरुजुलजहब, तहकीके हिंद, चचनामा, तारीख़ यमीनी, तारीख़स्सुबुक्तगीन, जामेउल हिकायत, ताजुलमआसिर, कामिलुत्तवारीख़, तबक़ाते नासिरी, तारीख़ अलाई, तारीख़ फ़रिश्ता, इत्यादि।

(३) भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के लिये सब से अधिक सहायता देने और सच्चा इतिहास बतलानेवाले शिलालेख और दानपत्र हैं। शिलालेख बहुधा चट्टानों, गुफाओं, स्तंभों, मंदिरों, मठों, स्तूपों, तालाबों, बावलियों आदि में लगी हुई, अथवा गाँवों या खेतों के बीच गड़ी हुई शिलाओं, मूर्तियों के आसनों या पीठों तथा स्तूपों के भीतर रखे हुए पाषाण आदि के पात्रों पर खुदे हुए मिलते हैं। वे संस्कृत, प्राकृत, हिंदी, कनड़ी, तेलगू, तामिल आदि भिन्न भिन्न भाषाओं में, गद्य और पद्य दोनों में, मिलते हैं। जिसमें राजाओं आदि का प्रशंसायुक्त वर्णन होता है उस को प्रशस्ति कहते हैं। शिलालेख पेशावर से कन्याकुमारी तक और द्वारका से आसाम तक सर्वत्र मिलते हैं, पर कहीं कम और कहीं अधिक। नर्मदा के उत्तर के प्रदेश की अपेक्षा दक्षिण में ये बहुत अधिक

मिलते हैं। इसका कारण यह है कि उधर मुसलमानों का अत्याचार उत्तर की अपेक्षा कम हुआ है। अब कई हजार शिलालेख ई० सन् से पूर्व की पाँचवीं शताब्दी से लगाकर ई० सन् की १९ वीं शताब्दी तक के मिल चुके हैं। शिलालेखों में से अधिकतर मंदिर, मठ, स्तूप, गुफा, तालाब, बावली आदि धर्मस्थानों के बनवाने या उनके जीर्णोद्धार कराने, मूर्त्तियों के स्थापित करने आदि के सूचक होते हैं। उनमें से कई एक में उन कामों से संबंध रखनेवाले पुरुषों या उनके वंश के अतिरिक्त उस समय के राजा या राजवंश का भी वर्णन मिलता है। राजाओं, सामंतों, रानियों, मंत्रियों आदि के बनवाए हुए मंदिर आदि के लेखों में से कई एक में, जो अधिक विस्तीर्ण हैं, राजवंश का वर्णन विस्तार के साथ मिलता है। ऐसे लेख एक प्रकार के छोटे छोटे काव्य ही हैं और उनसे इतिहास के ज्ञान के अतिरिक्त कभी कभी अज्ञात परंतु प्रतिभाशाली कवियों की मनोहारिणी कविता का आनंद भी प्राप्त होता है। दूसरे प्रकार के शिलालेखों में, जिनका धर्मस्थानों से संबंध नहीं होता, राजाज्ञा, विजय, यज्ञ, किसी वीर पुरुष का युद्ध में या गायों को चोरों से छुड़ाने में मारा जाना, स्त्रियों का अपने पति के साथ सती होना, शेर आदि हिंसक जानवरों के द्वारा किसी की मृत्यु होना, पंचायत से फैसला होना, धर्मविरुद्ध कोई कार्य न करने की प्रतिज्ञा करना, अपनी इच्छा से चिता पर बैठ कर शरीरांत करना, भिन्न भिन्न धर्मावलंबियों के बीच के झगड़ों का समाधान होना आदि घटनाओं का उल्लेख मिलता है। पाषाण पर लेखों को खुदवाने का अभिप्राय यही है कि उक्त धर्मस्थान या घटना की एवं उससे संबंध रखनेवाले व्यक्ति की स्मृति चिरस्थायी रहे। इसी अभिप्राय से कितने एक विद्वान् राजाओं या धनाढ्यों ने कितनी एक पुस्तकों को भी शिलाओं पर खुदवाया था। परमार राजा भोज-रचित 'कूर्मशतक' नाम के दो प्राकृत काव्य और परमार राजा अर्जुन-वर्मन् के राजकवि मदन रचित 'पारिजातमंजरी (विजयश्री)' नाटिका— ये तीनों ग्रंथ राजा भोज की बनाई हुई धारा नगरी की 'सरस्वतीकंठा-

भरण' नाम की पाठशाला से, जिसे अब 'कमलमौला' कहते हैं, मिले हैं। अजमेर के चौहान राजा विग्रहराज (वीसलदेव) का रचा हुआ 'हरकेलि नाटक', उक्त राजा के राजकवि सोमेश्वर-रचित 'ललित-विग्रहराज नाटक' और विग्रहराज या किसी दूसरे राजा के समय में बने हुए चौहानों के ऐतिहासिक काव्य की शिलाओं में से पहली शिला, ये अजमेर में मिले हैं। सेठ लोलाक ने 'उन्नतशिखरपुराण' नामक जैन (दिगंबर) पुस्तक बीजोल्यां (मेवाड़ में) के पास की एक चट्टान पर वि० संवत् १२२६ (ई० सन् ११७०) में खुदवाई थी, जो अब तक सुरक्षित है। चित्तौड़ (मेवाड़) के महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) ने कीर्तिस्तंभों के विषय की एक पुस्तक शिलाओं पर खुदवाई थी, जिसकी पहली शिला के प्रारंभ का अंश चित्तौड़ में मिला है। मेवाड़ के महाराणा राजसिंह ने तैलंग भट्ट मधुसूदन के पुत्र रणछोड़ से 'राजप्रशस्ति' नामक २४ सर्ग का महाकाव्य (जिसमें महाराणा राजसिंह तक का मेवाड़ का इतिहास है) तैयार करवा कर अपने बनाए हुए 'राजसमुद्र' नामक तालाब की पाल पर (२४ बड़ी बड़ी शिलाओं पर खुदवा कर) लगवाया था, जो अब तक वहाँ विद्यमान है।

राजाओं तथा सामंतों की तरफ से ब्राह्मणों, साधुओं, चारणों, धर्माचार्यों, मंदिरों, मठों आदि को धर्मार्थ दिए हुए गाँव, कुएँ, खेत आदि की सनदें चिरस्थायी रखने के विचार से ताँबे के पत्रों पर खुदवा-कर दी जाती थीं जिनको ताम्रपत्र या दानपत्र कहते हैं। ये कभी गद्य में और कभी गद्य पद्य दोनों में लिखे मिलते हैं। कितने एक दानपत्र एक ही छोटे या बड़े पत्र पर खुदे मिलते हैं, परंतु कितने ही दो या अधिक पत्रों पर खुदे रहते हैं, जिनमें से पहला तथा अंतिम पत्र भीतर की ओर ही खुदा रहता है और बाकी दोनों तरफ। ऐसे सब पत्रे छोटे हों तो एक, और बड़े हों तो दो कड़ियों से जुड़े रहते हैं। इनमें बहुधा दान दिए जाने का संवत्, मास, पक्ष और तिथि तथा दान देनेवाले और लेनेवाले के नामों के अतिरिक्त किसी किसी में दान देनेवाले राजा के वंश का वर्णन तक मिलता है। पूर्वी चालुक्यों

के कई दानपत्रों में राजवंश की नामावली के अतिरिक्त प्रत्येक राजा का राजत्वकाल भी दिया हुआ मिलता है। अब तक सैकड़ों दानपत्र मिल चुके हैं।

प्राचीन शिलालेख और दानपत्र हमारे प्राचीन इतिहास के लिये बड़े उपयोगी हैं, क्योंकि उनसे मौर्य, ग्रीक, शातकर्णी (आंध्रभृत्य), शक, पार्थियन, क्षत्रप, कुशन, आभीर, गुप्त, हूण, वाकाटक, यौद्धेय, बैस, लिच्छवी, मौखरी, परिव्राजक, राजर्षितुल्य, मैत्रक, गुहिल, चापोत्कट, (चावडे), सोलंकी, प्रतिहार, परमार, चौहान, राठौड़, कछवाहा, तँवर, कलचुरि (हैहय), त्रैकूटक, चंद्रात्रेय (चंदेल), यादव, गुर्जर, मिहिर, पाल, सेन, पल्लव, चोल, कदंब, शिलार, सेंद्रक, काकतीय, नाग, निकुंभ, बाण, गंगा, मत्स्य, शालंकायन, शैल, नाग, चतुर्थवर्ण (रेड्डि) आदि अनेक राजवंशों का बहुत कुछ वृत्तांत, उनकी वंशावलियाँ, कई राजाओं तथा सामंतों के राज्याभिषेक और देहांत आदि के निश्चित संवत् मिल जाते हैं। ऐसे ही अनेक विद्वानों, धर्माचार्यों, मंत्रियों, दानी, वीर आदि प्रसिद्ध पुरुषों तथा अनेक विदुषी स्त्रियों आदि के नाम तथा उनके समय आदि का पता चलता है और हमारे यहाँ चलनेवाले अनेक संवतों के आरंभ का निश्चय होता है।

(४) एशिया और युरोप के प्राचीन सिक्कों के देखने से पाया जाता है कि सोने के सिक्के चाँदी के सिक्कों से पीछे बनने लगे थे। ई० सन् से पूर्व की पाँचवीं और चौथी शताब्दी में ईरान के चाँदी के सिक्के गोली की आकृति के होते थे, जिन पर ठप्पा लगाने से वे कुछ चपटे पड़ जाते थे, परंतु बहुत मोटे और भद्दे होते थे। उनपर कोई लेख नहीं होता था, किंतु मनुष्य आदि की भद्दी शकलों के ठप्पे लगते थे। ईरान के ही नहीं किंतु लीडिया, ग्रीस आदि के सिक्के भी ईरानियों के सिक्कों की नाईं गोल, भद्दे, गोली की शकल के चाँदी के टुकड़े ही होते थे। केवल हिंदुस्तान में ही प्राचीन काल में चौकोर या गोल चिपटे चाँदी के सुंदर सिक्के बनते थे, जिनको 'कार्षापण' कहते थे। उनपर भी लेख नहीं होते थे, केवल सूर्य, मनुष्य, वृक्ष

आदि के ही ठप्पे लगते थे। ई० सन् पूर्व की पाँचवीं शताब्दी के आस पास से लेखवाले सिक्के मिलते हैं।

अब तक सोने, चाँदी और ताँबे के लेखवाले हज़ारों सिक्के मिल चुके हैं और मिलते जाते हैं। उनपर के छोटे छोटे लेख भी प्राचीन इतिहास के लिये उपयोगी हैं। जिन वंशों के राजाओं के शिला-लेखादि अधिक नहीं मिलते उनकी नामावली का पता कभी कभी सिक्कों से लग जाता है, जैसे कि पंजाब के ग्रीक राजाओं का अब तक केवल एक शिलालेख बेस नगर (बिदिशा) से मिला है, जो राजा ऐंटिअल्किडिस (अंतिलिकित) के समय का है, परंतु सिक्के २७ राजाओं के मिल चुके हैं, जिनसे उनके नाम मात्र मालूम होते हैं। त्रुटि यही है कि उनपर राजा के पिता का नाम तथा संवत् नहीं है। इससे उनका वंशक्रम स्थिर नहीं हो सकता। पश्चिमी क्षत्रपों के भी शिलालेख थोड़े ही मिलते हैं। परंतु उनके हज़ारों सिक्कों पर राजा (या शासक) और उसके पिता का नाम तथा संवत् होने से उनकी वंशावली सिक्कों से ही बन जाती है। गुप्तवंशी राजाओं के ई० सन् की चौथी और पाँचवीं शताब्दी के सिक्कों पर भिन्न भिन्न छंदों में लेख मिलते हैं, जिनसे पाया जाता है कि सब से पहले हिंदुओं ने ही अपने सिक्के कविताबद्ध लेखों में अंकित किए थे। ग्रीक, शक और पार्थियन राजाओं के तथा कितने एक कुशनवंशी और क्षत्रप आदि विदेशी राजाओं के सिक्कों पर एक तरफ प्राचीन ग्रीक लिपि में ग्रीक भाषा का लेख और दूसरी ओर बहुधा उसी आशय का प्राकृत भाषा का लेख खरोष्ठी लिपि में होता था, परंतु प्राचीन शुद्ध भारतीय सिक्कों पर ब्राह्मी लिपि के ही लेख हैं। ई० सन् की तीसरी शताब्दी के आस पास सिक्कों एवं लेखों से खरोष्ठी लिपि, जो ईरानियों ने पंजाब में चलाई थी, उठ गई।

अब तक ग्रीक (यूनानी), शक, पार्थियन, कुशन (तुर्क), सातवाहन (आंध्रभृत्य), क्षत्रप, औदुंबर, कुनिंद, आंध्र, गुप्त, त्रैकूटक, बोधि, मौखरी, मैत्रक, हूण, परिव्राजक, चौहान, प्रतिहार, यौधेय, सोलंकी,

तँवर, गहरवाल, पाल, कलचुरि, चंदेल, गुहिल, नाग, यादव आदि कितने ही राजवंशों के तथा कश्मीर, नैपाल, अफ़गानिस्तान आदि पर राज्य करनेवाले हिंदू राजाओं के सिक्के मिल चुके हैं। कितने एक प्राचीन सिक्के ऐसे भी मिले हैं, जिन पर राजा का तो नाम नहीं, किंतु देश नगर या जाति का नाम है। ये सिक्के अब तक इतने अधिक और इतने भिन्न भिन्न प्रकार के मिले हैं कि उनका परिचय देने के लिये कई लेखों की आवश्यकता पड़ेगी।

भारतवर्ष में मुद्रा अर्थात् मुहर लगाने की प्रथा प्राचीन काल से चली आती है। कितने एक ताम्रपत्रों पर तथा कितने ही ताम्रपत्रों की कड़ियों की संधियों पर राजमुद्राएँ लगी हुई मिलती हैं। कितने ही पकाए हुए मिट्टी के गोले ऐसे मिले हैं जिनपर भिन्न भिन्न पुरुषों की मुद्राएँ लगी हुई हैं। अंगूठियों तथा अक़ीक आदि क़ीमती पत्थरों पर खुदी हुई कई मुद्राएँ मिली हैं। वे भी हमारे यहाँ के प्राचीन इतिहास में कुछ कुछ सहायता देती हैं। कन्नौज के प्रतिहार राजा भोजदेव (प्रथम) के दानपत्र के साथ जुड़ी हुई मुद्रा में देवशक्ति से भोजदेव तक की पूरी वंशावली तथा चार रानियों के नाम हैं। उसी वंश के राजा विनायकपाल के ताम्रपत्र की मुद्रा में देवशक्ति से विनायकपाल तक की वंशावली एवं छः रानियों के नाम मिलते हैं। गुप्तवंशी राजा कुमारगुप्त (दूसरे) की मुद्रा में महाराजगुप्त से लगा कर कुमारगुप्त (दूसरे) तक की वंशावली और ६ राजमाताओं के नाम अंकित हैं। मौखरी शर्ववर्मन् की मुद्रा में हरिवर्मन् से लगा कर शर्ववर्मन् तक की वंशावली और चार रानियों के नाम दिए हैं। गुप्तवंशी राजा चंद्रगुप्त (दूसरे) के पुत्र गोविंदगुप्त के नाम का पता मिट्टी के एक गोले पर लगी हुई उस (गोविंदगुप्त) की माता ध्रुवस्वामिनी की मुद्रा से ही लगता है। ऐसे ही कई राजाओं, धर्माचार्यों, धनाढ्यों आदि के नाम उनकी मुद्राओं से मिलते हैं। अब तक ऐसी सैकड़ों मुद्राएँ मिल चुकी हैं।

प्राचीन चित्र, मंदिर, गुफा आदि स्थानों तथा प्राचीन मूर्तियों

आदि से भी इतिहास में कुछ कुछ सहायता मिल जाती है। प्राचीन चित्रों से पोशाक, ज़ेवर आदि का हाल तथा उस समय की चित्र-विद्या की दशा का ज्ञान होता है। प्रसिद्ध अजंटा की गुफाओं में १००० वर्ष से अधिक पूर्व के बहुत से रंगीन चित्र विद्यमान हैं, जो इतने अधिक काल तक खुले रहने पर भी अब तक अच्छी दशा में हैं और चित्रविद्या के ज्ञाताओं को मुग्ध कर देते हैं। दक्षिण की अनेक भव्य गुफाएँ, देलवाडा (आबू पर), बाडोली (मेवाड़ में) आदि अनेक स्थानों के विशाल मंदिर, अनेक प्राचीन स्तंभ, मूर्तियाँ आदि सब उस समय की शिल्पविद्या की उत्तमता का परिचय देती हैं। प्राचीन चित्र, गुफा, मंदिर, स्तंभ, मूर्तियाँ आदि के विवरण सहित चित्र कई पुस्तकों में छप चुके हैं।

ऊपर जिन चार प्रकार की सामग्रियों का संक्षेप में उल्लेख किया गया है उनसे भारतवर्ष के इतिहास से संबंध रखनेवाली कई प्राचीन बातों का पता लगा है और अनेक नवीन ग्रंथ लिखे गए हैं। साथ ही इस सामग्री की खोज समाप्त नहीं हो गई है। वह निरंतर हो रही है और नित्य नई बातों का पता लग रहा है। परंतु दुःख की बात यह है कि यह सब सामग्री प्रायः अँग्रेजी ही भाषा में उपलब्ध है और प्रायः उसीमें नए अनुसंधानों का वर्णन छपता है। युरोपीय देशों को छोड़ दीजिए। भारतवर्ष में अनेक पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं जिनमें इन विषयों के लेखों का समावेश रहता है और सर्कारी रिपोर्टें जो छपती हैं वे सब भी अँग्रेज़ी ही में छपती हैं और उनकी सूचनाएँ आदि भी प्रायः अँग्रेज़ी ही समाचारपत्रों में देखने में आती हैं, हिंदी में तो यदा कदा उनके दर्शन हो जाते हैं। इस अवस्था में यह बहुत आवश्यक है कि हिंदी में एक ऐसी सामयिक पत्रिका हो जिसमें प्राचीन शिलालेख, दानपत्रादि, सिक्के, ऐतिहासिक ग्रंथों के सारांश, विदेशियों की पुस्तकों में लिखी हुई भारतीय ऐतिहासिक बातों, प्राचीन भूगोल, राजाओं और विद्वानों आदि के समय का निर्णय आदि भिन्न भिन्न विषयों पर लेख प्रकाशित होते रहें। इससे

प्राचीन शोध संबंधी साहित्य का प्रचार तथा ऐतिहासिक ज्ञान की वृद्धि होगी। इस अभाव की पूर्ति तथा हिंदी का गौरव बढ़ाने के लिये काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने अपनी मुखपत्रिका को यह नया रूप देने का निश्चय किया है और उसी सिद्धांत के अनुसार इस पत्रिका का यह नवीन संस्करण इस अंक से प्रारंभ होता है। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि प्राचीन शोध का काम करनेवालों में भारतवासियों की संख्या दिनों दिन बढ़ती जा रही है। इस अवस्था में जिस उद्देश्य से इस पत्रिका को यह नया रूप दिया गया है उसके पूर्ण होने की बहुत कुछ संभावना ही नहीं वरन आशा भी देख पड़ती है। हमें विश्वास है कि प्राचीन शोध के अनुरागी विद्वान् अपने लेखों से इस पत्रिका को विभूषित करेंगे और यह पत्रिका मौलिक लेखों के साथ ही साथ हिंदी जाननेवालों को इस बात की सूचना भी निरंतर देती रहेगी कि प्राचीन शोध का कहाँ क्या काम हो रहा है और विद्वत्समाज किस प्रकार ज्ञानभांडार को परिपूर्ण कर रहा है।

२–डूंगरपुर राज्य की स्थापना।

[लेखक—राय बहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, अजमेर ।]

राजपूताने का प्राचीन इतिहास अब तक लिखा नहीं गया और ईसवी सन की १४ वीं शताब्दी के पूर्व की घटनाओं का जो कुछ वृत्तांत अब तक प्रसिद्धि में आया है उसमें कई स्थलों पर पुरातत्त्व-अनुसंधान के अनुसार फेर फार करने की आवश्यकता है; क्योंकि कई एक घटनाएं उनके समकालीन लेखकों की लिखी हुई नहीं किंतु अनिश्चित जनश्रुति के आधार पर, या संबंध मिलाने के लिये पीछे से कल्पित, लिख दी गई हैं। इस प्रकार की घटनाओं में से एक 'डूंगरपुर राज्य की स्थापना' भी है।

मेवाड़ के गुहिल (सीसोदिया) वंश के सब इतिहास-लेखकों ने मुक्तकंठ से यह तो स्वीकार किया है कि डूंगरपुर का राजवंश मेवाड़ (उदयपुर) के राजवंश से ही निकला है। उन्होंने यह भी माना है कि बड़े भाई के वंश में डूंगरपुर के रावल और छोटे भाई के वंश में मेवाड़ (उदयपुर) के महाराणा हैं। इसको मेवाड़ के राजा, सर्दार आदि सब स्वीकार करते हैं। परंतु डूंगरपुर का राज्य मेवाड़ के राज-वंश के किस पुरुष ने और कब स्थापित किया इसका पिछले इतिहास-लेखकों को ठीक पता न होने के कारण उन्होंने इस घटना का किसी न किसी तरह बंद बिठलाने के लिये मनमानी कल्पनाएं की हैं जो आधुनिक प्राचीन शोध की कसौटी पर अपना शुद्ध होना प्रकट नहीं कर सकतीं।

भिन्न भिन्न इतिहासकारों ने इस विषय में जो कुछ लिखा है उसकी समालोचना करने के पहिले उसका सारांश नीचे लिखा जाता है—

(अ) मेवाड़ के राजसमुद्र नामक सुविशाल तालाब के राजनगर की तरफ़ के बंद पर, २५ ताकों में लगी हुई २५ बड़ी बड़ी शिलाओं पर खुदा हुआ 'राजप्रशस्ति' नामक महाकाव्य, जो विक्रम संवत् १७३२ (ई० स० १६७६) में समाप्त हुआ था, सुरक्षित है। उसमें लिखा है कि "उस (रावल समरसिंह) का पुत्र रावल कर्ण हुआ, जिसका पुत्र रावल माहप डूंगरपुर का राजा हुआ। कर्ण का दूसरा पुत्र राहप हुआ जिसने अपने पिता की आज्ञा से मंडोवर (मंडोर, जोधपुर राज्य में) जाकर मोकलसी को जीता और उसे बाँधकर अपने पिता के पास ला उपस्थित किया। कर्ण ने उस (मोकलसी) का 'राणा' खिताब छीनकर अपने प्रिय पुत्र राहप को दिया और उसे छोड़ दिया[1]।"

(आ) 'वीरविनोद' नामक मेवाड़ के बड़े इतिहास के लेखक महामहोपाध्याय कविराजा श्यामलदासजी ने अपने उक्त इतिहास में लिखा है कि "दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन खलजी ने चित्तौड़ का किला बड़े रक्तप्रवाह के साथ लिया, जब कि समरसिंह के पुत्र रावल रत्नसिंह वहाँ के राजा थे.........आखिरकार हि० ७०३ मुहर्रम

१. तस्यात्मजोभून्नृपकर्णरावलः
प्रोक्तास्तु षड्विंशति रावला इमे।
कर्णात्मजो माहपरावलोऽभव-
त्स डुंगराद्येतु पुरे नृपो बभौ ॥ २८ ॥
कर्णस्य जातस्तनयो द्वितीयः
श्रीराहपः कर्णनृपाज्ञयोग्रः।
वाक्येन वा शाकुनिकस्य गत्वा
मंडोवरे मोकलसीं स जित्वा ॥ २९ ॥
तातांतिके त्वानयति स्म बद्धं
कर्णोऽस्य राणाबिरुदं गृहीत्वा।
मुमोच तं चारु ददौ तदीयं
रानाभिधानं प्रियराहपाय ॥ ३० ॥
'राजप्रशस्ति महाकाव्य,' सर्ग तीसरा।

(विक्रमी १३६० भाद्रपद = ई० १३०३ ऑगस्ट) में अलाउद्दीन ने चारों तरफ़ से क़िले पर सख़्त हमला किया......राजपूतों ने जोश में आकर किले के दर्वाज़े खोल दिए और रावल रत्नसिंह मय कई हज़ार राजपूतों के बड़ी बहादुरी के साथ लड़कर मारा गया। बादशाह ने भी नाराज़ होकर क़त्लआम का हुक्म दे दिया, और ६ महीना ७ दिन तक लड़ाई रह कर हि० ७०३ ता० ३ मुहर्रम (वि० १३६० भाद्रपद शुक्ल ४ = ई० १३०३ ता० १८ ऑगस्ट) को बादशाह ने किला फ़तह कर लिया......रावल रत्नसिंह ने अपने कई भाई बेटों को यह हिदायत करके क़िले से बाहर निकाल दिया था कि यदि हम मारे जावें तो तुम मुसलमानों से लड़कर क़िला वापस लेना। बाज़ लोगों का क़ौल है कि रावल रत्नसिंह के दूसरे भाई, और बाज़ लोग कहते हैं कि रत्नसिंह के बेटे, कर्णसिंह पश्चिमी पहाड़ों में रावल कहलाए। उस ज़माने में मंडोवर का रईस मोकल पड़ियार पहिली अदावतों के कारण रावल कर्णसिंह के कुटुंबियों पर हमला करता था, इस सबब से उक्त रावल का बड़ा पुत्र माहप तो आहड़ में और छोटा राहप अपने आबाद किए हुए सीसोदा ग्राम में रहता था। माहप की टालाटूली देखकर राहप अपने बाप की इजाज़त से मोकल पड़ियार को पकड़ लाया, तब कर्णसिंह ने मोकल पड़ियार का 'राणा' ख़िताब छीन कर राहप को दिया और मोकल को राव की पदवी देकर छोड़ दिया। इसके बाद कर्णसिंह तो चित्तौड़ पर हमला करने की हालत में मारा गया और माहप चित्तौड़ लेने से नाउम्मेद होकर डूंगरपुर को चला गया। बाज़े लोग इस विषय में यह कहते हैं कि माहप ने अपने भाई राणा राहप की मदद से डूंगर्या भील को मारकर डूंगरपुर लिया था[२]।"

(इ) कर्नल जेम्स टॉड ने अपने 'राजस्थान' नामक इतिहास में लिखा है कि "समरसी के कई पुत्र थे परंतु करण उसका वारिस

२. 'वीरविनोद,' प्रथम खंड, पृष्ठ २७३, २८८।

था......करण सं० १२४९ (ई० ११९३) में गद्दी पर बैठा......चित्तौड़ का राज्य छोटे भाई के वंश में गया और बड़ा भाई डूंगरपुर शहर आबाद कर एक नई शाखा कायम करने को पश्चिम के जंगलों में चला गया। इस विषय में इतिहासों का कथन एक दूसरे से भिन्न है। आम तौर पर यह कहा जाता है कि करण के दो पुत्र माहप और राहप थे, परंतु यह भूल है। समरसी और सूरजमल भाई थे। समरसी का पुत्र करण और करण का माहप हुआ, जिसकी माता बागड़ के चौहानवंश की थी। सूरजमल का पुत्र भरत हुआ जो किसी राजप्रपंच के कारण चित्तौड़ से निकाला जाने पर सिंध में चला गया और वहाँ के मुसलमान राजा से उसको अरोर की जागीर मिली। उसने पूँगल के भट्टि (भाटी) राजा की पुत्री से विवाह किया जिससे राहप उत्पन्न हुआ। भरत के चले जाने और माहप के अयोग्य होने के रंज से करण मर गया। माहप उस (करण) को छोड़कर अपने ननिहालवाले चौहानों में जा रहा।

"जालोर के सोनगरे राजा ने करण की पुत्री से शादी की थी जिससे रणधवल पैदा हुआ था। उस सोनगरे ने मुख्य मुख्य गुहिलोतों को छल से मारकर अपने पुत्र (रणधवल) को चित्तौड़ की गद्दी पर बिठला दिया। माहप में अपना पैतृक राज्य प्राप्त करने का सामर्थ्य न होने तथा उसके लिये यत्न करने की इच्छा न रहने से बप्पा रावल का राज्य-सिंहासन चौहानों के अधीन हो जाता परंतु उस घराने के एक परंपरागत भाट ने उसे बचा दिया। वह भाट अरोर जाकर भरत से मिला। भरत सिंध की सेना सहित माहप के छोड़े हुए राज्य के लिये वहाँ से चला और उसने पाली के पास सोनगरों को परास्त किया। मेवाड़ के राजपूत उसके झंडे के नीचे चले गए और उनकी सहायता से वह चित्तौड़ की गद्दी पर बैठ गया[३]।"

---

३. कर्नल जेम्स टॉड का 'राजस्थान' (अँगरेज़ी, कलकत्ते का छपा हुआ) जिल्द १, पृ० २७९-२८०।

(ई). मेजर के. डी. अर्सकिन् ने अपने 'डूंगरपुर राज्य के गेज़ेटिअर' में लिखा है कि "बारहवीं शताब्दी के अंत में करणसिंह मेवाड़ का रावल था और उसकी राजधानी चित्तौड़ थी। उसके दो पुत्र माहप और राहप थे। मंडोर (जोधपुर राज्य में) का पड़िहार राणा मोकल उसके देश को बर्बाद करता था जिससे रावल ने मोकल को वहाँ से निकालने के लिये माहप को भेजा परंतु वह उस काम को न बजा सका। इस पर उसने वह काम राहप को सौंपा जो तुरंत ही उस पड़िहार को कैद कर ले आया। इससे करणसिंह ने राहप को अपना उत्तराधिकारी नियत किया, जिससे अप्रसन्न होकर माहप अपने पिता को छोड़ कुछ समय तक अहाड़ (उदयपुर के पास) में जा रहा। वहां से दक्षिण में जाकर वह अपने ननिहालवाले बागड़ के चौहानों के यहां रहा। फिर क्रमशः भील सर्दारों को हटाकर वह तथा उसके वंशज उस देश के अधिकतर हिस्से के मालिक बन गए। इधर उक्त वंश की राणा शाखा का पहला पुरुष मेवाड़ के करणसिंह का छोटा बेटा राहप हुआ। यद्यपि इस जनश्रुति के विरुद्ध यह निश्चित है कि डूंगरपुर से मिले हुए शिलालेखों में से किसी में भी माहप को बागड़ का राजा नहीं लिखा तो भी यह संभव है कि माहप ऊपर लिखे अनुसार बागड़ को चला गया हो और अपने ननिहालवालों में रहकर आलस्य में पड़ा रहना उसने पसंद किया हो और इसीसे उसका नाम शिलालेखों में छोड़ दिया गया हो।

"दूसरा कथन ऐसा है कि ई० स० १३०३ में अलाउद्दीन खिलजी के चित्तौड़ के घेरे में मेवाड़ के रावल रत्नसिंह के मारे जाने के बाद उसके वंश के जो लोग बचे वे बागड़ को भाग गए और वहां उन्होंने अलग राज्य कायम किया। यदि यह बात ठीक है तो हमें यह मानना पड़ेगा कि बागड़ के पहले ९ राजाओं ने मिलकर करीब ९० वर्ष राज्य किया क्योंकि डेसां से मिले हुए शिलालेख से पाया जाता है कि १० वां राजा ई० स० १३९६ में विद्यमान था।

"तो भी यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि बागड़ के

राजा अर्थात् वर्तमान डूंगरपुर और बांसवाड़े के महारावल गहलोत या सीसोदिया वंश से हैं और उनके पूर्वज ने १३ वीं या १४ वीं (संभवतः १३ वीं) शताब्दी में उस देश में जाकर रावल का खिताब और अपना कौमी नाम अहाड़िया (अहाड़ गांव पर से) धारण किया, और वे उदयपुर के वर्तमान राजवंश की बड़ी शाखा में होने का दावा करते हैं[४]।"

(उ) मुंहणोत नेणसी ने अपनी प्रसिद्ध ख्यात (ऐतिहासिक बातों का संग्रह) के, जो वि० सं० १७०५ और १७२० (ई० स० १६४८ और १६६३) के बीच संग्रह की गई थी, लिखा है कि "रावल समतसी (=सामंतसिंह) चित्तौड़ का राजा था। उसके छोटे भाई ने उसकी बड़ी सेवा बजाई जिससे प्रसन्न होकर उसने उससे कहा कि मैंने चित्तौड़ का राज्य तुमको दिया। इस पर छोटे भाई ने निवेदन किया कि चित्तौड़ का राज्य मुझे कौन देता है? उसके स्वामी तो आप हैं। तब समतसी ने फिर कहा कि यह मेरा वचन है कि चित्तौड़ का राज्य तुम्हें दिया। इस पर छोटे भाई ने कहा कि यदि आप वास्तव में चित्तौड़ का राज्य मुझे देते हैं तो इन राजपूतों (=सर्दारों) से वैसा कहला दो। तब समतसी ने उनसे कहा कि तुम ऐसा कह दो। इस पर उन्होंने निवेदन किया कि आप इस बात का फिर अच्छी तरह विचार कर लें। इसके उत्तर में उसने कहा कि मैंने प्रसन्नतापूर्वक अपना राज्य अपने छोटे भाई को दे दिया है इसमें कोई शंका की बात नहीं है। तब सर्दारों ने उसे स्वीकार कर लिया। फिर उसने राणा के खिताब के साथ राज्य अपने छोटे भाई के सुपुर्द कर दिया और वह स्वयं अहाड़ में जा रहा। कुछ दिनों के बाद उसने अपने राजपूतों से कहा कि राज्य मैंने अपने भाई को दे दिया है इसलिये अब उसमें मेरा रहना उचित नहीं, मुझे अपने लिये कोई दूसरा राज्य प्राप्त करना चाहिए।

---

४. डूंगरपुर राज्य का गैज़ेटियर (अँगरेज़ी), पृ० १३१-१३२।

"उस समय बागड़ में बड़ौदे के राजा चौरसीमलक (डूंगरपुर की ख्यात में 'चौरसीमल' नाम है) था जिसके अधीन ५०० भोमिये थे। उसके यहां एक डोम रहता था जिसकी स्त्री को उसने अपनी पासवान (उपपत्नी) बना रक्खा था। वह रात को उस डोम से गवाया करता था और वह भाग न जावे इसके लिये उस पर पहरा नियत किया गया था। एक दिन मौका पाकर वह बड़ौदे से भागकर रावल समतसी के पास अहाड़ में पहुँचा और उसने उसे चौरसी पर हमला कर बड़ौदा लेने को उद्यत किया। समतसी नए राज्य की तलाश में ही था जिससे उसने उसके कथन को स्वीकार कर लिया। फिर उससे वहां का हाल मालूम कर वह ५०० सवारों के साथ अहाड़ से चढ़ा और अचानक बड़ौदे जा पहुँचा। वहां पर घोड़ों को छोड़कर उसने अपनी सेना के दो दल बनाए। एक दल को उसने अपने पास रक्खा और दूसरे को उस डोम के साथ चौरसी के निवास-स्थान पर भेजा। उन्होंने वहां जाकर उसके दरवाज़े के पहरेवालों को मार डाला जिसके बाद उन्होंने महल में पहुँचकर चौरसी को भी मार लिया। इस तरह समतसी ने बड़ौदे पर अधिकार कर लिया और धीमे धीमे सारा बागड़ देश भी अपने अधीन कर लिया [४]।"

ऊपर उद्धृत किए हुए पाँच इतिहासलेखकों के अवतरणों में से—

(१) 'राजप्रशस्ति महाकाव्य' का कर्ता मेवाड़ के रावल समरसिंह के पुत्र कर्ण के बड़े बेटे माहप का डूंगरपुर का राज्य कायम करना प्रकट करता है पर उसके लिये कोई संवत् नहीं देता।

(२) 'वीरविनोद' में समरसिंह के पीछे उसके पुत्र रत्नसिंह का राजा होना तथा वि० सं० १३६० (ई० स० १३०३) में अलाउद्दीन खिलजी के चित्तौड़ के हमले में उसका मारा जाना लिखकर रत्नसिंह के पुत्र करणसिंह के बड़े बेटे माहप का डूंगरपुर का राज्य लेना बतलाया

---

४. मुंहणोत नैणसी की ख्यात (हस्तलिखित), पत्र १६।

है। इसमें से इतना तो ठीक है कि रावल समरसिंह के पीछे उसका पुत्र रत्नसिंह मेवाड़ का राजा हुआ और वह वि० सं० १३६० (ई० स० १३०३) में मारा गया, क्योंकि महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) के समय की वि० सं० १५१७ (ई. स. १४६०) की कुंभलगढ़ की प्रशस्ति में समरसिंह के बाद उसके पुत्र रत्नसिंह का राजा होना[६] तथा मुसलमानों के साथ की लड़ाई में उसका मारा जाना लिखा है। समरसिंह के राज्य समय के चार शिलालेख वि० सं० १३३०[७], १३३५[८], १३४२[९] और १३४४[१०] (ई० स० १२७३, १२७८, १२८५ और १२८७) के मिल चुके हैं जिनसे निश्चित है कि वि० सं० १३३० से १३४४ (ई० स० १२७३ से १२८७) तक तो वह मेवाड़ का राजा था। रावल समरसिंह के समकालीन तथा उसकी मृत्यु के बाद भी जीवित रहनेवाले[११] जैन विद्वान् जिन-प्रभ सूरि ने अपनी 'तीर्थकल्प' नामक पुस्तक में लिखा है कि "विक्रम संवत् १३५६ (ई० स० १२६६) में सुरताण अल्लावदीण (सुल्तान अलाउद्दीन) का छोटा भाई उल्लुखान (उलगखां) ढिल्लि (देहली) नगर से गुजरात पर चढ़ा। चित्तकूड (चित्रकूट = चित्तौड़) के अधिपति सम-

६ स रत्नसिंहं तनयं नियुज्य स्वचित्रकूटाचलरक्षणाय।
महेशपूजाहतकश्मषौघ इलापतिस्स्वर्गपतिर्बभूव॥
कुंभलगढ़ का शिलालेख, श्लोक १७५।

७. Wiener Zeitschrift (जर्मन पुस्तक) जिल्द २१, पृ० १४३।

८. बंगाल एशिआटिक् सोसाइटी का जर्नल, जिल्द ५५, भाग १ पृ० ४८।

९. इंडियन् एंटिक्वेरी, जि० १६, पृ० ३४७।

१०. बंगाल एशिआटिक् सोसाइटी का जर्नल, जि० ५५, भाग १, पृ० १६।

११. जिनप्रभ सूरि ने अपने 'तीर्थकल्प' के कई एक कल्पों के अंत में उनके समाप्त होने के संवत् भी दिए हैं। ऐसे संवतों से पाया जाता है कि 'तीर्थ-कल्प' का प्रारंभ वि० सं० १३४६ से कुछ पूर्व और समाप्ति वि० सं० १३८४ में हुई थी।

रसीह (समरसिंह) ने उसे दंड देकर मेवाड़ देश की रक्षा करली[१२]," इससे यह भी पाया जाता है कि रावल समरसिंह वि० सं० १३५६ (ई० स० १२९९) तक तो जीवित था, जिसके पीछे उसका पुत्र रत्नसिंह राजा हुआ जो वि० सं० १३६० (ई० स० १३०३) में मारा गया जैसा कि फ़ारसी तवारीख़ों से पाया जाता है[१३]। ऐसी दशा में 'राजप्रशस्ति' और 'वीरविनोद' के माहप का वि० सं० १३६० (ई० स० १३०३) के पीछे और वि० सं० १३७७ (ई० सं० १३२०) के आस पास होना माना जा सकता है जो असंभव है क्योंकि डूंगरपुर राज्य में से मिले हुए कई एक शिलालेखों से सिद्ध होता है कि वि० सं० १२२८ (ई० स० ११७१) से पूर्व डूंगरपुर (बागड़) पर वर्तमान राजवंश का अधिकार हो चुका था। डूंगरपुर राज्य में शिलालेख और दानपत्र मिलाकर अनुमान २५० मेरे देखने में आए जिनमें से कई एक में वहां के राजवंश की वंशावली भी मिलती है परंतु उनमें से एक में भी माहप का नाम नहीं है जैसा कि मेजर अर्सकिन् का कथन है।

(३) कर्नल टॉड ने रावल समरसी (समरसिंह) के पौत्र और करण के पुत्र माहप को डूंगरपुर (बागड़) के राज्य का संस्थापक माना है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि ऊपर कुंभलगढ़ के शिलालेख से बतलाया जा चुका है कि समरसिंह का पुत्र करण (कर्णसिंह) नहीं किंतु रत्नसिंह था। ऐसे ही करण की गद्दीनशीनी वि० सं० १२४९ (ई० स० ११९२) में होना लिखा है वह भी अशुद्ध है क्योंकि यह संवत् तो प्रसिद्ध चौहान राजा पृथ्वीराज के शहाबुद्दीन गोरी के साथ की लड़ाई में मारे जाने का है। कर्नल टॉड ने 'पृथ्वीराजरासे' के

---

१२. अह तेरससयछप्पन्नविक्कमवरिसे अल्लावदीणसुरताणस्स कणिट्ठो भाया उल्लखाननामधिज्जो ढिल्लीपुराओ मंतिमहिवपरिओ गुज्जरधरं पट्ठिओ। चित्तकूडाहिवइ समरसीहेण दंडं दाउं मेवाड़देसो तया रक्खिओ।

तीर्थकल्पांतर्गत 'सत्यपुरकल्प', इंडिअन् ऐंटिक्वेरी, जि० २६, पृ० १९४।

१३. मिस् डफ् की 'क्रॉनॉलॉजी', पृ० २११।

भरोसे पर मेवाड़ के रावल समरसिंह का पृथ्वीराज चौहान के सहायतार्थ शहाबुद्दीन के साथ के युद्ध में मारा जाना मान लिया और समरसिंह के देहांत तथा उसके पुत्र करण की गद्दीनशीनी का वही संवत् मान लिया, परंतु ऊपर बतलाया जा चुका है कि समरसिंह वि० सं० १३५६ (ई० स० १२९९), अर्थात् पृथ्वीराज चौहान के देहांत से १०७ वर्ष पीछे तक जीवित था।

(४) मेजर अर्सकिन् ने डूंगरपुर (बागड़) के राज्य की स्थापना के संबंध में दो कथनों का उल्लेख किया है परंतु उनमें से किसी का भी निश्चयात्मक होना स्वीकार नहीं किया। तो भी ई० स० की १३ वीं या १४ वीं शताब्दी में माहप का बागड़ में जाकर अपने ननिहाल वाले चौहानों के यहाँ रहना और भील सर्दारों से बागड़ (डूंगरपुर) का अधिकतर हिस्सा लेना संभव माना है, जो ठीक नहीं है क्योंकि ऊपर शिलालेखों के आधार पर यह लिखा जा चुका है कि बागड़ (डूंगरपुर) राज्य पर वर्तमान राजवंश का अधिकार वि० सं० १२२८ (ई० स० ११७१) से पूर्व हो चुका था।

(५) मुंहणोत नैणसी के इस कथन की तो शिलालेख भी पुष्टि करते हैं कि राज्य छूटने पर मेवाड़ (चित्तौड़) के रावल समतसी (सामंतसिंह) ने बागड़ की राजधानी बड़ौदे पर अधिकार कर क्रमश: सारा देश अपने अधीन कर लिया परंतु वे इस कथन को स्वीकार नहीं करते कि सामंतसिंह ने चित्तौड़ (मेवाड़) का राज्य अपनी खुशी से अपने छोटे भाई को दे दिया।

अब यह देखना चाहिए कि डूंगरपुर (बागड़) राज्य पर गुहिलवंशियों का अधिकार होने के विषय में शिलालेखों का कथन क्या है?

(क) आबू पर अचलगढ़ के नीचे अचलेश्वर के प्रसिद्ध मंदिर के पास मेवाड़ के रावल समरसिंह का वि० सं० १३४२ (ई० स० १२८५) का बड़ा शिलालेख लगा हुआ है जिसमें लिखा है कि—

"उस (खेमसिंह) से कामदेव से भी अधिक सुंदर शरीरवाला राजा सामंतसिंह उत्पन्न हुआ जिसने सामंतों का सर्वस्व छीन लिया।

"उसके पीछे कुमारसिंह ने इस पृथ्वी को, जिसने पहले गुहिलवंश का वियोग कभी नहीं देखा था [परंतु] जो [पीछे से] शत्रु के हाथ में चली गई थी और जिसकी शोभा खुम्माण की संतति के वियोग से फीकी पड़ गई थी, फिर छीनकर (प्राप्त कर) राजन्वती (अच्छे राजा वाली) बनाया[१४]।"

(ख) उपर्युक्त महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) के वि० सं० १५१७ (ई० स० १४६०) के कुंभलगढ़ के शिलालेख में लिखा है कि—

"सामंतसिंह नामक पृथ्वी का राजा हुआ। उसका भाई कुमारसिंह हुआ जिसने अपना [पैतृक] राज्य छीननेवाले कीतु नाम के शत्रु

---

१४. सामंतसिंहनामा कामाधिकसर्वसुंदरशरीरः।
भूपालोऽजनि तस्मादपहृतसामंतसर्वस्वः॥ ३६॥
खों(खों)माणसंततिवियोगविलक्षलक्ष्मी-
[मेनाम] दृष्टविरहां गुहिलान्वयस्य।
राजन्वतीं वसुमतीमकरोत्कुमार-
सिंहस्ततो रिपुगतामपहृत्य भूयः॥ ३७॥

इंडिअन् ऐंटिक्वेरी, जि० १६, पृ० ३४८। यह शिलालेख डा० कीलहार्न ने इंडिअन् ऐंटिक्वेरी (जि० १६, पृ० ३४७-३५१) में छपवाया है और 'भावनगर इन्स्क्रिप्शंस' नामक पुस्तक में (पृ० ८४-८७) भी छपा है। कीलहार्न ने ३४ वीं पंक्ति के अंत (श्लोक ३७) में 'लक्ष्मीं नेताथ' पढ़ा है और 'ने' तथा 'थ' अक्षरों को संदिग्ध बतलाया है। भावनगर की पुस्तक में '°लक्ष्मीं सेनाम' पाठ दिया गया है, परंतु भावनगर की पुस्तक में शिलालेख का जो फोटोग्राफ छपा है उसमें 'लक्ष्मी' के 'क्ष्मी' पर अनुस्वार नहीं है। दोनों में पाठ संदिग्ध है, शुद्ध पाठ 'लक्ष्मीमेनामदृष्ट०' प्रतीत होता है, जो ऊपर दिया गया है, और उसी के अनुसार ऊपर अनुवाद किया गया है।

राजा को देश से निकाला, गुजरात के राजा को प्रसन्न कर आघाटपुर (आहाड़) प्राप्त किया और राजत्व पाया (राजा बना)[१५]।"

आबू के लेख से पाया जाता है कि किसी शत्रु राजा ने गुहिल-वंशियों से मेवाड़ का राज्य छीन लिया था परंतु कुमारसिंह ने अपना पैतृक राज्य उससे लौटा लिया। वह शत्रु कौन था इस विषय में उक्त लेख में कुछ भी नहीं लिखा है, परंतु कुंभलगढ़ का लेख इस त्रुटि की पूर्ति कर देता है क्योंकि उसमें स्पष्ट लिखा है कि वह शत्रु कीतु नामक राजा था जिसको सामंतसिंह के भाई कुमारसिंह ने गुजरात के राजा की सहायता से मेवाड़ से निकाला और आहाड़ प्राप्त कर वह (कुमार-सिंह) मेवाड़ का राजा बन गया।

यह कीतु मेवाड़ का पड़ोसी और नाडौल (जोधपुर राज्य के गोड़वाड़ ज़िले में) के चौहान राजा आल्हणदेव का तीसरा पुत्र था। बड़ा वीर और उच्चाभिलाषी होने के कारण उसने अपने ही बाहुबल से परमारों से जालौर (कांचनगिरि = सोनलगढ़) का राज्य छीना[१६] और वह चौहानों की सोनगरा शाखा का मूल पुरुष और स्वतंत्र राजा हुआ। उसने सिवाणा का किला भी परमारों से छीन[१७] कर अपने राज्य में मिला लिया। चौहानों के शिलालेखों[१८] और ताम्रपत्रों में उसका नाम कीर्तिपाल मिलता है, परंतु राजपूताने में वह कीतु नाम

१५. सामंतसिंहनामा भूपतिर्भूतले जातः ॥ १४६ ॥
भ्राता कुमारसिंहोऽभूत्स्वराज्यग्राहिणं परं ।
देशान्निष्कासयामास कीतूसंज्ञं नृपं तु यः ॥ १५० ॥
स्वीकृतमाघाटपुरं गूर्जरनृपतिं प्रसाद्य...........।
येन नृपत्वे लब्धे तदनु श्रीमहणसिंहोभूत् ॥ १५१ ॥
कुंभलगढ़ का शिलालेख ।

१६. मुंहणोत नैणसी की ख्यात, पत्र ४२ ।

१७. " " " "

१८. एपिग्राफ़िया इंडिका, जि० ६, पृ० ६६, ७७; जि० ११, पृ०, ५३ ।

से ही प्रसिद्ध है और मुंहणोत नैणसी की ख्यात तथा राजपूताने की दूसरी ख्यातों में उसका नाम कीतु ही मिलता है।

कीर्तिपाल (कीतु) का अब तक केवल एक ही लेख मिला है जो वि० सं० १२१८ (ई० स० ११६१) का दानपत्र[19] है। उससे पाया जाता है कि उस समय उसका पिता जीवित था और उस (कीर्तिपाल) को अपने पिता की ओर से १२ गाँवों की जागीर मिली थी जिसका मुख्य गाँव नड्डूलाई (नारलाई, जोधपुर राज्य के गोड़वाड़ ज़िले में, मेवाड़ की सीमा के निकट) था। कीर्तिपाल (कीतु) ने जालौर का राज्य छीनने तथा स्वतंत्र राजा बनने के पीछे मेवाड़ का राज्य छीना हो ऐसा अनुमान होता है क्योंकि उपर्युक्त कुंभलगढ़ के शिलालेख में उसको 'राजा कीतु' लिखा है।

जालौर से मिले हुए वि० सं० १२३९ (ई० स० ११८२) के शिलालेख[20] से पाया जाता है कि उस संवत् में कीर्तिपाल (कीतु) का पुत्र समरसिंह वहाँ का राजा था, अतएव कीर्तिपाल का उस समय से पूर्व मरना निश्चित है। ऐसी दशा में यह कहा जा सकता है कि उसने जालौर तथा मेवाड़ के राज्य वि० सं० १२१८ और १२३९ (ई० स० ११६१ और ११८२) के बीच किसी समय छीने थे।

मेवाड़ और वागड़ (डूंगरपुर राज्य) के राजा सामंतसिंह के राजत्वकाल के दो शिलालेख हमें मिले हैं जिनमें से एक डूंगरपुर राज्य की सीमा से मिले हुए मेवाड़ के छप्पन ज़िले के जगत गाँव के देवी के मंदिर के स्तंभ पर खुदा हुआ वि० सं० १२२८ (ई० स० ११७२) फाल्गुन सुदि ७ का[21] है और दूसरा डूंगरपुर राज्य में

---

१९. एपिग्राफ़िआ इंडिका, जि० ९, पृ० ६८-७०।

२०. ” ” जि० ११, पृ० ५३-५४।

२१. संवत् १२२८ वरिखे (वर्षे) फगुन (फाल्गुन) सुदि ७ गुरौ श्रीअंबिकादेवी (व्यै) महाराजश्रीसामंतसिंघदेवेन सुवर्न (र्ण)मयकलसं (शः) प्रदत्त (त्तः)......

सोलज गाँव से लगभग डेढ़ मील की दूरी पर बोरेश्वर महादेव के मंदिर की दीवार में लगा हुआ वि० सं० १२३६ (ई० स० ११७९) का[२२] है। इन लेखों से निश्चित है कि सामंतसिंह वि० सं० १२२८ से १२३६ (ई० स० ११७२ से ११७९) तक जीवित था और जालौर के चौहान राजा कीर्तिपाल (कीतु) का समकालीन था। उपर्युक्त सामंतसिंह के दो शिलालेखों में से बोरेश्वर के मंदिर का लेख तो खास डूंगरपुर राज्य में ही है परंतु जगत के मंदिर का लेख मेवाड़ राज्य के छप्पन ज़िले से संबंध रखता है। इस समय छप्पन का इलाका मेवाड़ में है परंतु पहले वह भी बागड़ का ही हिस्सा था, क्योंकि बागड़ के अर्थूणा गाँव से मिले हुए वहां के परमार राजा चामुंडराज के वि० सं० ११३६ (ई० स० १०७९) के शिलालेख में उक्त राजा के बनवाए हुए मंडनेश (मंडलेसर) के मंदिर के निर्वाह के लिये जो जो कर लगाए गए थे उनमें उच्छपनक (छप्पन) के महाजनों के प्रत्येक घर पर चैत्री [पूर्णिमा] को एक द्रम्म तथा पवित्री [चतुर्दशी] को एक द्रम्म का कर भी था[२३]। यदि छप्पन का ज़िला उस समय बागड़ के अंतर्गत न होता तो राजा चामुंडराज वहां के महाजनों पर कोई कर न लगा सकता था। छप्पन का इलाका बहुत पीछे से मेवाड़

२२ राजपूताना म्यूज़िअम्, अजमेर, की सन् १९१४-१५ की रिपोर्ट, पृ० ३, ७।

२३. तच्छो(थो)च्छपनके तेन वणिजां प्रतिमंदिरं।
चैत्र्यां द्रम्मः पवित्र्यां च द्रम्म एकः प्रदापितः ॥ ७३ ॥

अर्थूणा का शिलालेख (अब तक छपा नहीं है)।

पवित्री का अर्थ पवित्रारोपण की तिथि है। विष्णु का पवित्रारोपण एकादशी को तथा शिव का चतुर्दशी को होता है। पवित्रारोपण अर्थात् पवित्र (रेशम आदि के डोरक) चढ़ाए जाने का पर्व बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है।

के अधीन हुआ है। सामंतसिंह के उक्त दोनों लेखों से पाया जाता है कि वि० सं० १२२८ से पूर्व ही वह मेवाड़ का राज्य खो चुका था और बागड़ में राज्य करता था। डूंगरपुर की ख्यात में लिखा है कि सामंतसिंह के पीछे उसका पुत्र सीहड़देव[२४] बागड़ का राजा हुआ। सीहड़देव के शिलालेखों में से सब से पहला वि० सं० १२७७ (ई० स० १२२०) का[२५] उपर्युक्त जगत गाँव के देवी के मंदिर के एक स्तंभ पर खुदा हुआ है जिससे निश्चित है कि सामंतसिंह का देहांत वि० सं० १२३६ और १२७७ (ई० स० १०७९ और १२२०) के बीच किसी समय हुआ होगा।

उदयपुर राज्य के शिलालेखों में मिलनेवाली वहां के राजाओं की वंशावली में सामंतसिंह के पीछे उसके छोटे भाई कुमारसिंह का और उसके पीछे क्रमशः मथनसिंह (महणसिंह), पद्मसिंह, जैत्रसिंह (जयंतसिंह, जयतल्ल), तेजसिंह, समरसिंह और रत्नसिंह तक रावल शाखा की वंशावली मिलती है। सामंतसिंह के पीछे के तीन राजाओं अर्थात् कुमारसिंह, मथनसिंह और पद्मसिंह का कोई शिला-

२४. कविराजा श्यामलदासजी ने अपने 'वीरविनोद' के डूंगरपुर के इतिहास (खंड दूसरा, पृ० १००१) में और मेजर अर्स्किन् ने 'डूंगरपुर राज्य के गैज़ेटिअर' (टेबल संख्या २१) में सामंतसिंह के पीछे सीहड़दे (सिहड़ी) का राजा होना तो लिखा है परंतु उन दोनों ने माहप को डूंगरपुर राज्य का संस्थापक मानकर उसके पीछे क्रमशः नरवर्म्मा, भालु और केसरीसिंह का होना तथा उस (केसरीसिंह) के बाद सामंतसिंह का होना माना है जो सर्वथा असंभव है, क्योंकि उनके हिसाब से सामंतसिंह का समय ई० स० की १४ वीं शताब्दी के अंत या १५ वीं के प्रारंभ के आसपास स्थिर होता है, जब कि उसके शिलालेख उसका वि० सं० १२२८ और १२३६ (ई० स० ११७१ और ११७९) में जीवित होना प्रकट करते हैं।

२५. संवत् १२७७ वरिषे (वर्षे) चैत्र शुदि १४ सोमदिने......महाराऊ (रावल श्रीसी[ह]डदेवराज्ये.........

जगतगांव का लेख (अप्रकाशित)

लेख अब तक नहीं मिला है परंतु जैत्रसिंह के समय के दो लेख वि० सं० १२७१[२६] और १२७९[२७] (ई० स० १२१४ और १२२२) के मिल चुके हैं और उसके राजत्वकाल की हस्तलिखित पुस्तकों से वि० सं० १३०९[२८] (ई० स०१२५२) तक उसका विद्यमान होना निश्चित है। उसके उत्तराधिकारी तेजसिंह के समय के दो शिलालेख वि० सं० १३१७[२९] और १३२४ (ई० स० १२६० और १२६७) के मिले हैं। तेजसिंह के पुत्र समरसिंह के राज्यसमय के वि० सं० १३३० से १३४४ (ई० स० १२७३ से १२८७) तक के चार शिलालेखों का मिलना और 'तीर्थकल्प' के अनुसार वि० सं० १३५६ (ई० स० १२९९) तक उसका जीवित रहना ऊपर बतलाया गया है। उसके पुत्र रत्नसिंह का वि० स० १३६० (ई० स० १३०३) में मारा जाना निश्चित है।

डूंगरपुर की ख्यात तथा वहां के शिलालेखों में वहां के राजाओं की नामावली सामंतसिंह से प्रारंभ होती है और उसके पीछे क्रमशः सीहडदे (सीहड़देव), देदू (देवपाल) और बरसिंघदेव (वीरसिंहदेव) का राजा होना लिखा मिलता है। इनमें से सामंतसिंह के वि० सं० १२२८ और १२३६ (ई० स० ११७१ और ११७९) के शिलालेख मिले हैं। सीहडदेव के दो शिलालेखों में से पहला उपर्युक्त

---

२६. यह लेख मेवाड़ के प्रसिद्ध एकलिंगजी के मंदिर में एक स्तंभ पर खुदा है (भावनगर इंस्क्रिप्शंस, पृ० ९३, टिप्पण)।

२७. यह लेख मेवाड़ के नांदेसमा गांव में सूर्य के मंदिर के एक स्तंभ पर खुदा है (अब तक छपा नहीं है)।

२८. पीटर्सन की हस्तलिखित संस्कृत पुस्तकों की खोज की तीसरी रिपोर्ट, पृष्ठ १३०; एपिग्राफिया इंडिका, जि० ११, पृ० ७४।

२९. यह लेख चित्तौड़ के निकट के घाघसा गांव की एक टूटी हुई बावली में लगा हुआ मिला, जहां से उठाकर मैंने उसे उदयपुर के विक्टोरिया हाल के म्यूज़ियम में सुरक्षित किया है।

वि० सं० १२७७ (ई० स० १२२०) का जगत गाँव का है तथा दूसरा डूंगरपुर राज्य के भैंकरोड़ गाँव के पास के देवी के मंदिर की दीवार में लगा हुआ वि० सं० १२६१ (ई० स० १२३४) पौष शुदि ३ का[३०] है, जिसमें उसकी राजधानी वागड़ का वटपद्रक (बड़ौदा) लिखी है। देवपाल (देदू) का कोई शिलालेख अब तक नहीं मिला परंतु उसके उत्तराधिकारी वीरसिंहदेव (बरसिंघदेव) का एक दानपत्र[३१] वि० सं० १३४३ (ई० स० १२८६) वैशाख सुदि १५ रविवार का मिला है जिसमें उस का निवासस्थान (राजधानी) वागड़ का वटपद्रक (बड़ौदा) लिखा है। वह दानपत्र महाराजकुल (महारावल) श्रीदेवपालदेव के श्रेय के लिये भूमिदान करने के संबंध का ही है जिससे यह माना जा सकता है कि देवपालदेव (देदू) का उत्तराधिकारी वीरसिंहदेव (बरसिंघदेव) था, जैसा कि डूंगरपुर की ख्यात में लिखा मिलता है। देवपालदेव (देदू) का दूसरा लेख वागड़ की उस समय की राजधानी बड़ौदे के एक शिवमंदिर के कोने में रक्खी हुई एक ही पाषाण की बनी हुई जल भरने की कुंडी पर खुदा है जो वि० सं० १३४६ (ई० स० १२६२) वैशाख वदि ३ शनिवार[३२] का है।

ऊपर लिखे हुए उदयपुर और डूंगरपुर राज्यों के राजाओं के

---

३०. संवत् १२६१ वर्षे। वैशाष (ख) शुदि ३ रवौ। वागडवट्ट(ट)पद्रके महाराजाधिराजश्रीसीहडदेवविजयोदयी।.........

भैंकरोड का लेख (अप्रसिद्ध)

३१. संवत् १३४३ वर्षे। वैशाष (ख) शु० १५ रवावद्येह। वागडवटपद्रके महाराजकुल श्रीवि(वी)रसिंहदेवकल्याणविजयराज्ये.............महाराजकुलश्रीदेवपालदेवश्रेयसे......(यह दानपत्र अजमेर के राजपूताना म्यूज़ियम् में सुरक्षित है)।

३२. संवत् १३४६ वर्षे वैशाख सुदि ३ शनौ महाराजकुलश्रीवि(वी)रसिंहदेवकल्याणविजयराज्ये महाप्रधानपंच०श्रीवामणप्रतिपत्ती............(बड़ौदे का लेख, अप्रकाशित)।

शिलालेखादि से स्पष्ट है कि जब मेवाड़ पर कुमारसिंह से लगाकर समरसिंह तक के राजाओं का राज्य रहा उस समय बागड़ (डूंगरपुर) के राज्य पर सामंतसिंह से लगा कर वीरसिंहदेव तक के राजा हुए जैसा कि नीचे वंशवृक्ष में बतलाया गया है—

क्षेमसिंह (मेवाड़ का राजा)

डूंगरपुर की शाखा	मेवाड़ की शाखा
सामंतसिंह (वि० सं० १२२८-१२३६)	कुमारसिंह
सीहडदेव (वि० सं० १२७७-१२९१)	मथनसिंह
देवपालदेव	पद्मसिंह
वीरसिंहदेव (१३४३-१३४९)	जैत्रसिंह (वि० सं० १२७१-१३०९)
	तेजसिंह (वि० सं० १३१७-१३२४)
	समरसिंह (वि० सं० १३३०-१३४६)

मुंहणोत नैणसी ने समतसी (सामंतसिंह) का बड़ौदे में जाकर वहां अपना राज्य करना लिखा है जो यथार्थ है, क्योंकि सीहड़देव के भैकरोड़ के शिलालेख एवं वीरसिंहदेव के दानपत्र से ऊपर बतलाया जा चुका है कि वीरसिंहदेव तक बागड़ (डूंगरपुर) के गुहिलवंशी राजाओं की राजधानी बड़ौदा ही थी। जब वीरसिंहदेव के पोते डूंगरसिंह ने डूंगरपुर शहर बसाकर उसको अपनी राजधानी बनाया तब से बागड़ के राज्य का नाम उसकी नई राजधानी के नाम पर से 'डूंगरपुर' प्रसिद्ध हुआ। फिर वहां के रावल उदयसिंह ने, जो मेवाड़ के प्रतापी महाराणा संग्रामसिंह (सांगा) के सहायतार्थ बादशाह बाबर के साथ की खानवा (भरतपुर राज्य में बयाने के निकट) की लड़ाई में मारा गया, अपने जीतेजी बागड़ (डूंगरपुर) के राज्य के दो हिस्से कर पश्चिमी हिस्सा अपने ज्येष्ठ पुत्र पृथ्वीराज को और पूर्व का अपने दूसरे पुत्र

जगमाल को दिया। पृथ्वीराज की राजधानी डूंगरपुर रही और जगमाल की बांसवाड़ा हुई।

ऊपर के वंशवृक्ष में दिए हुए मेवाड़ तथा डूंगरपुर के राजाओं के निश्चित संवतों से स्पष्ट है कि डूंगरपुर का चौथा राजा वीरसिंहदेव मेवाड़ के समरसिंह का समकालीन था। ऐसी दशा में माहप का, जिसको 'राजप्रशस्ति' तथा कर्नल टॉड ने समरसिंह का पौत्र और 'वीरविनोद' के कर्ता ने प्रपौत्र बतलाया है, डूंगरपुर (बागड़) के राज्य का संस्थापक होना सर्वथा असंभव है।

डूंगरपुर के राज्य का संस्थापक मेवाड़ के राजा क्षेमसिंह का ज्येष्ठ पुत्र सामंतसिंह हुआ। जब उससे मेवाड़ का राज्य जालौर के चौहान राजा कीर्तिपाल (कीतु) ने छीन लिया तब उसने वि० सं० १२२८ (ई० स० ११७१) से कुछ पूर्व बागड़ में पहुँचकर चौरसीमल को मारा और उसकी राजधानी बड़ौदा छीनकर वहां अपना नया राज्य जमाया। फिर वह तथा उसके वंशज वहीं रहे और मेवाड़ का राज्य पीछा ले न सके। उसके छोटे भाई कुमारसिंह ने अपने बाहुबल एवं गुजरात के राजा की सहायता से कीर्तिपाल (कीतु) को मेवाड़ से निकालकर अपना पैतृक राज्य लौटा लिया (न कि सामंतसिंह ने खुशी से उसको दिया, जैसा कि नैणसी लिखता है), और वहां उसका तथा उसके वंशजों का राज्य बना रहा। वि० सं० १३६० (ई० स० १३०३) में अलाउद्दीन खिलजी ने कुमारसिंह के वंशधर और मेवाड़ के रावलशाखा के अंतिम राजा रत्नसिंह को मारकर चित्तौड़ का किला जो मेवाड़ की राजधानी था, छीन लिया और मेवाड़ का राज्य मुसलमानों के अधिकार में चला गया परंतु वे इतने दूर के राज्य को अधिक समय अपने अधिकार में रख न सके, जिससे उन्होंने जालौर के चौहानों के राज्यच्युत वंशधर राव मालदेव को उसे दे दिया। फिर सीसोदे की राणा शाखा के वंशज राणा हम्मीर ने मालदेव की पुत्री से विवाह

कर छल के साथ चित्तौर का किला छीन मेवाड़ पर सीसो-दियों का राज्य जमाया। तब से उसके वंशज वहां के स्वामी चले आते हैं।

मेरे इस लेख को पढ़कर राजपूताने के इतिहास से प्रेम रखने वाले अवश्य यह शंका करेंगे कि 'राजप्रशस्ति', 'वीरविनोद', टॉड के 'राजस्थान' तथा अर्सकिन् के 'डूंगरपुर राज्य के गैज़ेटिअर' में मेवाड़ के रावल समरसिंह या रत्नसिंह के पीछे करणसिंह और उसके पुत्रों (माहप और राहप) का राजा होना लिखा है उनमें से किसी का भी इस लेख से मेवाड़ या बागड़ का राजा होना पाया नहीं जाता तो क्या वे सब के सब नाम बिलकुल ही कृत्रिम हैं? यदि ऐसा नहीं है तो उदयपुर और डूंगरपुर के राजाओं की वंशावलियों में उनके लिये कोई स्थान है या नहीं? इस शंका के समाधान में मेरा यह कथन है कि वे रावल समरसिंह या रत्नसिंह के पीछे नहीं किंतु उनसे बहुत पहले हुए। उनमें से कर्णसिंह मेवाड़ का राजा भी अवश्य हुआ परंतु माहप और राहप के लिये न तो मेवाड़ के और न डूंगरपुर के राजाओं की नामावली में स्थान है, क्योंकि उनका स्थान मेवाड़ की छोटी शाखा अर्थात् सामंतवर्ग में है। मेवाड़ की जिस छोटी शाखा में वे हुए वह 'राणा' शाखा है और उसकी जागीर का मुख्य स्थान 'सीसोदा' गाँव होने से उस शाखा वाले 'सीसोदिये' कहलाए हैं। मेरे इस कथन का प्रमाण यह है कि राणपुर (जोधपुर राज्य के गोड़-वाड़ ज़िले में सादड़ी गाँव के निकट) के प्रसिद्ध जैन-मंदिर के महाराणा कुंभकर्ण के समय के वि० सं० १४९६ (ई० स० १४३९) के शिलालेख[११] में मेवाड़ के जिस राजा का नाम रणसिंह लिखा है उसी का नाम उसी महाराणा कुंभकर्ण के समय के बने हुए 'एक-लिंग माहात्म्य' में 'कर्ण' (कर्णसिंह) दिया है और साथ में यह भी लिखा है कि "उस (कर्णसिंह) से दो शाखाएँ, एक 'रावल' नाम की

११. भावनगर इन्स्क्रिप्शंस्, पृ० ११४।

और दूसरी 'राणा' नाम की, फटीं। 'रावल' शाखा में जितसिंह (जैत्र-सिंह), तेजसिंह, समरसिंह और रत्नसिंह हुए और 'राणा' शाखा में राहप, माहप आदि हुए[३४]"। इससे स्पष्ट है कि रणसिंह और कर्ण-सिंह (करणसिंह) एक ही राजा के दो भिन्न नाम हैं और महाराणा कुंभकर्ण के समय में रणसिंह या करणसिंह एवं राहप और माहप का समरसिंह या रत्नसिंह के पीछे नहीं किंतु जैत्रसिंह से भी पूर्व होना माना जाता था। इस जटिल समस्या को, जिसने मेवाड़ के इतिहास-लेखकों को बड़े चक्कर में डाला, अधिक सरल करने के लिये शिला-लेखादि से मेवाड़ की 'रावल' तथा 'राणा' शाखाओं का रणसिंह (करणसिंह) से लगा कर राणा हम्मीर तक का वंशवृक्ष नीचे दिया जाता है—

---

३४ अथ कर्णभूमिभर्तुः शाखाद्वितयं विभाति भूलोके।
एका राउलनाम्नी राणानाम्नी परा महती ॥२०॥
अत्रापि यां (यस्यां ?) जितसिंहस्तेजःसिंहस्तथा समरसिंहः।
श्रीचित्रकूटदुर्गेऽभूवन् जितशत्रवो भूपाः ॥ २१ ॥
तेजःसिंह का वर्णन ॥२२॥...
समरसिंहस्तस्य पुत्रः ॥२३-६८॥...
स रत्नसिंहं तनयं नियुज्य० ॥६९॥ (देखो ऊपर, टिप्पण ६)
अपरस्यां शाखायां माहपराहप्रमुखमहीपालाः।
यद्वंशे नरपतयो गजपतयः छत्रपतयोऽपि ॥ ७० ॥
श्रीकर्णे नृपतित्वं भुक्त्वा देवेन्द्रता (?) मथ प्राप्ते।
राणत्वं प्राप्तः सन् पृथिवीपतिराहपो भूपः ॥७१॥

(राणा कुंभा के समय का एकलिंग-माहात्म्य, राजवर्णन अध्याय, अमुद्रित)।
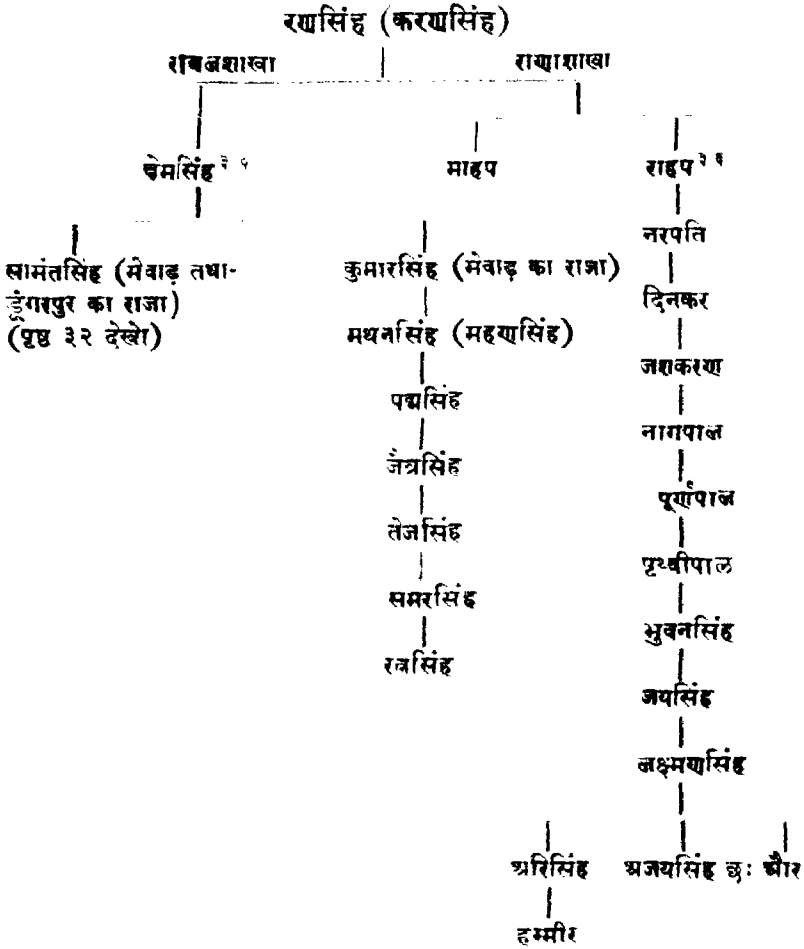
महाराणा कुंभकर्ण के समय के उपर्युक्त वि० सं० १५१७ (ई०

३५. इस वंशवृक्ष में खेमसिंह से लगाकर समरसिंह तक के रावल शाखा के राजाओं के नाम आबू के वि० सं० १३४२ के और राणपुर के वि० सं० १४९६ के शिलालेखों के आधार पर दिए हैं। रत्नसिंह का नाम कुंभलगढ़ के वि० सं० १५१७ के शिलालेख से लिया गया है।

३६. करणसिंह और राहप से लगाकर हम्मीर तक के नाम 'वीरविनोद' के अनुसार दिए हैं। ये नाम भाटों की पुस्तकों एवं सीसोदिया शाखा के मेवाड़ के राजाओं के शिलालेखों में भी मिलते हैं। कहीं दो तीन नाम कम दिए हैं

स० १४६०) के कुंभलगढ़ के लेख से पाया जाता है कि रावल रत्न-सिंह के समय चित्तौड़ पर मुसलमानों (अलाउद्दीन खिलजी) का हमला हुआ जिसमें राणा लखमसी (लक्ष्मणसिंह, भड़लखमसी, गढ लक्ष्मणसिंह) वीरता से लड़कर अपने सात पुत्रों सहित मारा गया। इससे रावल रत्नसिंह और राणा लक्ष्मणसिंह का समकालीन होना निश्चित है। ऐसी दशा में राणा लक्ष्मणसिंह के १०वें पूर्वपुरुष करणसिंह (रणसिंह) का रावल रत्नसिंह का उत्तराधिकारी होना कैसे संभव हो सकता है? 'वीरविनोद' से पाया जाता है कि "लक्ष्मणसिंह का ज्येष्ठ पुत्र अरिसिंह भी उसी लड़ाई में मारा गया और केवल अजय-सिंह घायल होकर बचा। उस समय अरिसिंह का पुत्र हम्मीर बालक था, जिससे वह (अजयसिंह) राणाओं के अधीन इलाके का स्वामी बना परंतु उसने अपने अंतिम समय अपने पुत्र को नहीं किंतु हम्मीर को, जो वास्तव में हकदार था, अपना उत्तराधिकारी नियत किया। हम्मीर ने मालदेव से चित्तौड़ का किला छल से छीना और क्रमशः सारे मेवाड़ पर अपना राज्य जमा लिया। वि० सं० १४२१ (ई० स० १३६४) में उसका देहांत हुआ।"

अब यह जानना भी आवश्यक है कि उपर्युक्त इतिहासलेखकों ने रावल समरसिंह से ९ और रत्नसिंह से १० पीढ़ी (पुश्त) पहले होनेवाले करणसिंह (रणसिंह) का समरसिंह या रत्नसिंह का उत्त-राधिकारी होना कैसे मान लिया? अनुमान यह होता है कि उन्होंने बड़वों (भाटों) की पुस्तकों को प्रामाणिक समझ कर उनके अनुसार लिख दिया है परंतु पुरातत्त्व-अनुसंधान की कसौटी पर भाटों की पुस्तकें ई० स० की १४ वीं शताब्दी के पूर्व के इति-हास के लिये अपनी विशुद्धि सर्वथा प्रकट नहीं कर सकतीं, क्योंकि उनमें उस समय के पूर्व की वंशावलियाँ बहुधा कृत्रिम पाई जाती हैं और शुद्ध नाम बहुत कम मिलते हैं एवं उनमें १४ वीं शताब्दी के पूर्व के जो कुछ संवत् मिलते हैं वे भी विश्वास के योग्य नहीं हैं।

भाटों को रावल समरसिंह के चौहान पृथ्वीराज के सहाय-

तार्थ वि० सं० ११५८ में शहाबुद्दीन ग़ोरी के साथ की लड़ाई में मारा जाना 'पृथ्वीराजरासे' में लिखा हुआ मिल गया और राणा हम्मीर की मृत्यु का संवत् भी उनको ज्ञात था। इन दोनों घटनाओं के बीच बड़ा अंतर था जिसको पूरा करने के लिये उन्होंने, रावल रत्न-सिंह का नाम एवं राणा शाखा के फटने का वास्तविक हाल मालूम न होने से, समरसिंह के पीछे कर्णसिंह (रणसिंह) का राजा होना तथा उसके पीछे राहप से लगाकर हम्मीर तक के सीसोदे की राणा शाखा के सब सामंतों का एक दूसरे के बाद मेवाड़ (चित्तौड़) का राजा होना लिख दिया और उनके लिये मनमाने संवत् धरकर संवतों का हिसाब भी कुछ कुछ बिठला दिया।

'राजप्रशस्ति' के कर्ता को मेवाड़ का पुराना हाल भाटों की पुस्तकों के आधार पर लिखना पड़ा जिससे उसने समरसिंह का पृथ्वीराज चौहान का बहनोई होना तथा शहाबुद्दीन ग़ोरी के साथ की लड़ाई में मारा जाना लिख दिया और उसके प्रमाण के लिये 'भाषा के रासा नामक पुस्तक' (पृथ्वीराज-रासा) की दुहाई दे दी। फिर कर्ण को उसका उत्तराधिकारी एवं उसके दो पुत्रों से बड़े माहप को डूंगरपुर का और छोटे राहप को मेवाड़ का राजा मान लिया।

कर्नल टॉड को पृथ्वीराज के मारे जाने का ठीक संवत् मालूम हो गया था जिससे उन्होंने 'पृथ्वीराजरासे' के संवत् ११५८ को न मानकर वि० सं० १२४९ (ई० स० ११९२) में समरसिंह का देहांत मान लिया और चौहानों के भाटों के दिए हुए संवतों में करीब १०० वर्ष का अंतर होना लिख दिया। परंतु उसके बाद के वृत्तांत के लिये तो कर्नल टॉड को भाटों की पुस्तकों का ही आधार रहा जिससे उसने समरसिंह के पीछे उसके पुत्र कर्ण का चित्तौड़ की गद्दी पर बैठना, उसके पुत्र माहप का डूंगरपुर जाना तथा राहप का सोनगरों से चित्तौड़ लेना लिख दिया।

कविराजा श्यामलदासजी ने ऐतिहासिक शोध में और भी उन्नति की और जब उनको रावल तेजसिंह का वि० सं० १३२४ (ई० स०

११६७) का एवं समरसिंह के वि० सं० १३३५, १३४२ और १३४४ (ई० स० १२७८, १२८५ और १२८७) के शिलालेख मिल गए तब उन्होंने पृथ्वीराज चौहान के साथ रावल समरसिंह के मारे जाने की बात को निर्मूल बतलाकर समरसिंह का वि० सं० १३४४ (ई० स० १२८७) तक जीवित रहना प्रकट किया। फिर फारसी तवारीखों के आधार पर समरसिंह के पुत्र रत्नसिंह का वि० सं० १३६० (ई० स० १३०३) में मारा जाना भी लिखा। उनका शोध इससे आगे न बढ़ सका और राणा शाखा वास्तव में कब और कहां से फटी यह उन्हें मालूम न हो सका जिससे भाटों की पुस्तकों, 'राजप्रशस्ति' तथा कर्नल टॉड के 'राजस्थान' पर ही निर्भर रह कर रत्नसिंह के बाद उसके पुत्र करणसिंह (कर्ण) का राजा होना, उसके बड़े पुत्र माहप का डूंगरपुर जाना तथा छोटे राहप का मेवाड़ का राजा होना मानकर ऊपर दिए हुए वंशवृक्ष के अनुसार करणसिंह से लगाकर हम्मीर तक की वंशावली (रत्नसिंह के पीछे) अपने 'वीरविनोद' में दे दी। उनको यह भी ज्ञात था कि रत्नसिंह का देहांत वि० सं० १३६० (ई० स० १३०३) में, हम्मीर का वि० सं० १४२१ (ई० स० १३६४) में हुआ और इन दोनों घटनाओं के बीच केवल ६१ वर्ष का अंतर था जिसमें करणसिंह से लगाकर हम्मीर तक की १३ पीढ़ियाँ (पुश्तें) मानना पड़ती हैं जिसके लिये समय बहुत कम है परंतु और कोई साधन न होने से यही कहना पड़ा कि ये सब राजा चित्तौड़ लेने के उद्योग में थोड़े ही समय में लड़कर मारे गए। उनके देहांत के पीछे जब प्राचीन शोध का कार्य अधिक हुआ, कई नए लेखों का पता लगाया गया, आबू, कुंभलगढ़ आदि मेवाड़ के तथा डूंगरपुर राज्य के सैकड़ों शिलालेखादि एवं महाराणा कुंभकर्ण के समय का बना हुआ 'एकलिंग-माहात्म्य' पढ़ा गया तभी डूंगरपुर राज्य का वास्तव में संस्थापक कौन हुआ एवं मेवाड़ के राजवंश की राणा शाखा कब और कहां से फटी इसका ठीक पता चला जैसा कि ऊपर बतलाया गया है।

३–शैशुनाक मूर्तियाँ।

शिशुनाक वंश के महाराजाओं की दो प्रतिमाएँ।

[लेखक—पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बी० ए०, अजमेर।]

लगभग सौ वर्ष हुए, गंगा की बाढ़ का पानी उतर जाने पर, पटने से दक्षिण की ओर नदी तीर पर, बुकानन महाशय को पत्थर की एक विशाल मूर्ति मिली। यह सिर समेत पुरुष की मूर्ति थी किंतु इसके हाथ पाँव खंडित और चेहरे के नाक आदि त्रुटित थे। ऊँचाई में यह पूरे पुरुष के आकार की थी और कुछ भद्दी थी, सुकुमार शिल्प का नमूना न थी। दुपट्टा कंधे पर होकर पीछे को गया था। उस पर पीठ की ओर कंधे के पास कपड़े की सलवटों में कुछ अक्षर थे। मूर्ति को खोदकर बुकानन साहब के घर पर लानेवाले मज़दूरों ने कहा कि कुछ वर्ष हुए देहात के दक्षिण भाग में एक खेत में यह मूर्ति मिली थी और लोग इसे पूजने लगे, किंतु पहले दिन ही वहां पर आग लग जाने से इसका पूजन अशुभ समझ कर लोगों ने इसका गंगा-प्रवाह कर दिया था। उसी स्थान पर एक और ऐसी ही मूर्ति की टाँगें पृथ्वी के बाहर निकल रही हैं और एक तीसरी मूर्ति को हाकिंस साहब उठवा ले गए थे। उस स्थान पर जाकर बुकानन साहब ने देखा तो ५०। ६० फुट लंबे ईंटों के मकान के ध्वंसावशेष पाए। उनमें से ईंट आदि तो लोग निकाल कर ले गए थे। खोदने पर पहली मूर्ति के समान, किंतु उससे मोटी और कुछ लंबी, दूसरी मूर्ति मिली। इसके पैर साबित तथा भुजाओं के कुछ अंश थे। सिर न था और बाएं कंधे पर चँवर बना हुआ था। जैन साधु भी ऐसा ही चँवर (ओगा) रखते हैं। मिस्टर बुकानन ने समझा कि मंदिर और उसकी मुख्य प्रतिमा नष्ट हो गई हैं, ये परिचारकों या पार्षद देवताओं की प्रतिमाएँ हैं। तीसरी मूर्ति मिस्टर

बुकानन ने देखी ही नहीं। ये दोनों मूर्तियाँ डाक्टर टेलर के हाथ लग गईं और उसके भाई ने सन् १८२० ई० में इन्हें बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी को भेंट कर दिया। वहां इनकी कुछ कद्र न हुई, पिछवाड़े के बग़ीचे की झाड़ियों में ये बरसों पड़ी रहीं। चालीस वर्ष पीछे इन पर बेगलर महाशय की दृष्टि पड़ी तब उसने उस समय के पुरातत्त्व विभाग के डाइरेक्टर सर अलिगज़ेंडर कनिंगहाम का ध्यान इनकी ओर खींचा। सन् १८७९ ई० में ये इंडियन म्यूज़ियम की भरहुत गैलरी में ऊँची चौकियों पर पधराई गईं। जेनरल कनिंगहाम ने अपनी पंद्रहवीं रिपोर्ट में इनका वर्णन किया। उस समय उसे याद आया कि पटने शहर के बाहर अगम कुआं नामक स्थान के पास एक ऐसी ही तीसरी मूर्ति है जो ढंग, हाथों के निवेश और वेशविन्यास में ठीक इन विशाल-काय मूर्तियों की सी है। अगम कुएँ के पास रहनेवाले ग्रामीण उस पर नया सिर लगाकर उसे माता माई के नाम से पूजते थे। संभव है कि वह कभी वहीं कहीं मिल जाय। यदि हाकिंसवाली मूर्ति यही हो तो तीन, नहीं चार, समानाकार मूर्तियाँ वहां से मिलीं।

जेनरल कनिंगहाम ने उनकी बहुत ही चमकदार पालिश या ज़िलअ पर ध्यान देकर उनके शिल्प संबंधी महत्त्व को समझा और प्राचीन हिंदू शिल्प के नमूनों में उन्हें सर्वोच्च स्थान दिया। यह ज़िलअ मौर्य पालिश कहलाती है। मौर्यकाल से पहले की मूर्तियाँ तो उस समय मिली ही कहां थीं, मौर्यकाल के पीछे की चीज़ों में ऐसी सुंदर दर्पणाकार पालिश नहीं मिलती। खोजियों ने यह भी माना है कि यह पालिश हिंदुस्तान की अपनी उपज नहीं, पर्शिया (ईरान) के कारीगरों की लाई हुई है। इस विषय पर पीछे विचार किया जायगा।

जेनरल कनिंगहाम ने इन्हें यक्षों की मूर्तियाँ माना और उनके पीठ पर के लेखों को यों पढ़ा—

(सिरवाली मूर्ति (१) पर) **यखे अचुसनिगिक** [अर्थात् अचुसनिगिक यक्ष]

(बिना सिर की मूर्ति (२) पर) **यखे सनतनंद** [अर्थात् सनतनंद यक्ष]

कनिंगहाम साहब के पीछे किसी ने इन मूर्तियों वा उनपर के लेखों पर ध्यान नहीं दिया।

यों ये मूर्तियाँ सन् १८१२ में मिलीं, सन् १८७६ में उनका स्वरूप ज्ञात हुआ, किंतु उनका वास्तव विवरण सन् १९१९ में बाबू काशीप्रसाद जायसवाल ने किया। जायसवाल महाशय ने खूब विचार कर निर्णय किया है कि ये दोनों मूर्तियाँ शिशुनाक वंश के दो महाराजाओं की हैं। बुकानन साहब ने जिस ईंट के मकान का उल्लेख किया है वह शैशुनाक राजाओं का देवकुल था। देवकुल क्या होते थे तथा भास के प्रतिमा-नाटक से उनके विषय में क्या जाना जाता है इस पर इसी अंक में एक पृथक् लेख पढ़िए। पहली (सिरवाली) मूर्ति शैशुनाकों के देवकुल में से महाराज अज-उदयिन् की है जिसने पाटलिपुत्र बसाया और जिसका समय ईसवी सन पूर्व ४८३ से ४६७ है। दूसरी (बिना सिर की) मूर्ति प्रसिद्ध विजेता सम्राट् नंदिवर्धन की है जिसका समय ईसवी सन् पूर्व ४४९ से ४०९ है। लेख दोनों पर इस प्रकार हैं— (१) **भगे अचो छोनीधीशे** (२) **सपखते वट नंदि**, या **सपखेते वेट नंदि।**

दीदारगंज की प्रतिमा।

ता० १८ अक्तूबर सन् १९१७ को पटने से पूर्व गंगातीर पर नसीरपुर ताजपुर हिस्सा खुर्द, या दीदारगंज कदम रसूल, में एक मुसलमान सज्जन को कोई बड़ा पड़ा पत्थर दिखाई दिया। खोदने से जान पड़ा कि वह एक मूर्ति की चौकी थी। मूर्ति निकलते ही बाँस की छतरी बनाकर लोग उसे पूजने लग गए किंतु कई उत्साही खोजियों के उद्योग से यह मूर्ति बचा कर पटना म्यूज़ियम में पहुँचा दी गई। विहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी के जर्नल की मार्च १९१९ की संख्या में डाक्टर स्पूनर ने इस प्रतिमा के विषय में एक लेख लिखा

(१) दीदारगंज की मूर्ति।

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग।

है। यह किसी चामरग्राहिणी स्त्री की प्रतिमा है जो किसी मंदिर या महल की देवमूर्ति या राजमूर्ति के दाहिने हाथ पर खड़ी हुई परिचारिका हो। साधारण परिचारिका के भूषण तथा शृंगार इतने अधिक नहीं होते। मूर्ति तथा चौकी मिलकर साढ़े छः फुट ऊँची है। मूर्ति तथा चौकी चुनार के चकतेदार रेतीले पत्थर की एक ही शिला से गढ़ी हुई है। इस पर भी मौर्य काल की वही चमत्कारी पालिश है जो कहीं कहीं पानी या मैल के दागों से बिगड़ गई है, तो भी बाएं कंधे, दाहिने हाथ, जांघ और नंगी पीठ पर वही काँच की सी चमक विद्यमान है जिसे मौर्य काल (और उसके पूर्व के) शिल्पी ही चुनार के पत्थर पर ला सकते थे। अशोक के आज्ञास्तंभ सदा के लिये इस शिल्पकला यश के ध्वज के समान हैं।

हिंदुस्तान में जो मूर्तियाँ या प्रतिमाएं मिली हैं वे प्रायः पत्थर पर कोरकर ही बनाई हुई मिली हैं। कहीं कुराई से आकार, अंग, भूषण आदि अधिक उभरे हैं, कहीं कम; किंतु समूची मूर्ति ही तक्षण से प्रायः नहीं बनाई जाती है, पीछे पत्थर का आधार रख लिया जाता है। पिछला भाग पत्थर ही से चिपका रहता है। देवमूर्तियों में सहारे के लिये आभा, प्रभामंडल, तकिया, दंड या भुजा और जंघाओं के सहारे की आड़ी या खड़ी पत्थर की शिला रख ली जाती है। समूची मूर्तियाँ गुलाई में चारों तरफ से कोरी हुई, अंगरेज़ी स्टेच्यू के ढंग की, बहुत ही कम मिलती हैं। इंडियन म्यूज़ियम की दोनों विशालकाय (शिशुनाक) मूर्तियाँ, बेसनगर की स्त्री मूर्ति जो महाराजा सेंधिया ने वहां पर भेट की है, तलिम मूर्ति, सांची की स्त्री-मूर्ति, मथुरा की परखम मूर्ति, और यह प्रतिमा—ये मूर्तियाँ ही सुडौल गोल सब ओर से कोर कर बिना सहारे बनाई हुई मिली हैं। ऐसी बनावट में शिल्पी की वस्त्र और भाव बताने की चतुराई पाई जाती है। ये सब मूर्तियाँ बहुत प्राचीन काल की एक ही शिल्प-संप्रदाय की होनी चाहिएँ।

यह प्रतिमा बहुत ही सुंदर है तो भी इसका आगा जितना अच्छा बना है पीछा तथा बगलें उतनी रमणीय नहीं। नीचे के भाग पर धोती

की तरह एक ही वस्त्र पहनाया गया है। उसे सामने घनी चुनावट में समेट कर एक लंबी लांग के रूप में पैरों तक गिराया है। नितंब पर उसकी सलवट तथा जंघाओं पर उसकी मोड़ बहुत फबती है। बाएं नितंब पर एक मोरी है जिसमें होकर वस्त्र का एक छोर पीठ पर से टेढ़ा जाकर दाहिनी कुहनी पर टिक कर बल खाता हुआ नीचे की ओर गिरा है। ऊपर का भाग नंगा है। दाहिने हाथ में चँवर बड़ी अच्छी धज से लिया हुआ है। भूषणों में एक पांच लड़ी की मेखला है। लड़ियां पीछे को छितरी हुई हैं किंतु आगे एक ही जगह सिमट गई हैं और दो घंटों के से छल्लों में निकल कर लटकती लांग के नीचे आ गई हैं। छल्ले, संभव है, सोने के हों, किंतु मेखला की कड़ियां शकरपारे के आकार के मूल्यवान पत्थरों की हैं। प्रत्येक नगीने के दोनों ओर गोल मनके हैं। गले में बड़े मोतियों की एक तिलड़ी है जिसकी ऊपर की लड़ कंठ से चिपकी हुई है; बाकी दोनों छातियों तक आई हैं। कुंडल डमरू के आकार के हैं, उनके नीचे के टोकन ओंधे हैं। दाहिने हाथ में १४ चूड़ियां हैं और कुहनी के पास उनके पीछे एक बड़ा कड़ा है। सिर पर मोतियों की लड़ें हैं जो ललाट पर एक गोल बिंदे में सिमटी हैं और सिर पर भिन्न धाराओं में जाकर सुंदर लटों के विशेष रूढ़ि से गुंथे हुए केशपाश तक चली गई हैं। पैरों में घुंघरू हैं। क्या वस्त्र, क्या भूषण, और क्या सिर चेहरे तथा नेत्रों के भाव, सब में प्रतिमा मनोहारिणी है। भावभंगी बहुत ही नैसर्गिक है। कुछ उभकन और चमरवाले हाथ का बल अच्छी तरह दिखाया है। आंख का कटाक्ष ठीक वैसा ही है जैसा कुमराहर में उपलब्ध मौर्य काल के सिर में है। नंगे अंगों की बनावट बहुत चमत्कारिणी है। नीचे तथा पीछे का भाग उतना अच्छा नहीं। पृथुजघना का कविसंकेत ठीक निबाहा नहीं गया।

वेश में बेसनगर की प्रतिमा की इससे समानता है। उसमें कौंधनी ऐसी ही है किंतु केशविन्यास और तरह का है। यह ऐतिहासिक पालिश भी उसमें नहीं है तथा और कई बातों में वह इससे भद्दी

है। नीचे के भाग में उसमें भी यही न्यूनता है। अंगों की बनावट में भरहुत गैलरी की (शैशुनाक) प्रतिमाएँ इसके समान नहीं किंतु भाव-गठन आदि में यह दीदारगंज की चामरग्राहिणी तथा शैशुनाक मूर्तियाँ एक ही शिल्प-संप्रदाय की हैं।

संभव है कि यह मूर्ति किसी गणिका की हो। बौद्ध जातकों (६।४३२) में उल्लेख है कि राजमहलों में मातृकाओं की सजीव-सदृश प्रतिमाएँ रहा करती थीं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार (पृष्ठ १२३) मातृकाएँ एक प्रकार की दरबारी गणिकाएँ होती थीं जो त्यौहारों के अवसर पर राजचिह्न (चामर, भृंगार आदि) लेकर राजा की सेवा में उपस्थित होती थीं। क्षेमेंद्र की समयमातृका में ऐसी ही चतुर मातृका (गणिका, वारस्त्री) की कथा है। कवियों ने 'एतासामरविन्द-सुन्दरदृशां द्राक् चामरान्दोलनादुद्वेल्लद्भुजवल्लिकंकणझणत्कारः'[1] तथा 'लीलावलयरणितं चामरग्राहिणीनां'[2] का वर्णन किया है। यह विभूषण-विभूषित प्रतिमा भी किसी गणिका की होगी जो किसी राजमहल के सहन में रक्खी गई होगी।

अस्तु। यह प्रतिमा भी 'मौर्य पालिश' के कारण यक्षिणी मानी गई। पटना म्यूज़ियम में इस पर यक्षिणी का टिकिट (लेबल) लगाया जाने लगा। जायसवाल महाशय ने सोचा कि भारतवर्षीय शिल्प में सांकेतिक व्यवहार यह है कि यक्षों तथा यक्षिणियों की नाक चिपटी और गाल की हड्डियाँ निकली हुई होती हैं। इस गोल ठुड्डी तथा उभरे वक्षःस्थल की आर्यमहिला को यक्षिणी क्यों कहा जाता है ? तब कनिंगहाम साहिब की दुहाई देकर कहा गया कि इंडियन म्यूज़ियम की भरहुत गैलरी की विशालकाय प्रतिमाएं भी तो उन पर के लेखों से यक्षों की सिद्ध होती हैं।

इस पर जायसवाल महाशय ने उन मूर्तियों पर के लेखों की छापों को देखा तो उन पर यक्ष पद ही कहीं न था !

---

१ भोजप्रबन्ध। २ रुद्रट।

मूर्तियों का विवरण।

मूर्तियाँ मिरज़ापुर या चुनार के मटमैले रेतीले पत्थर की बनी हुई हैं। इन पर मौर्य पालिश है। जहां मूर्तियाँ पहले थीं वहां अवश्य अग्निकोप हुआ होगा उसीसे रंग पीला पड़ गया है। इसी तरह के पत्थर पर अशोक के स्तंभाभिलेख हैं और अशोककालीन प्रतिमाएँ भी इसी पत्थर की मिली हैं। उन सब पर भी यही उत्कृष्ट पालिश है। दोनों मूर्तियों के हाथ टूटे हैं। अज की मूर्ति में धोती के फूंदे तथा पैर पलस्तर से भद्दी तरह पुनः बनाए गए हैं। नंदि की मूर्ति के सिर ही नहीं है। अज के नाक आदि कुछ खंडित हैं। उसके दुहरी ठुड्डी है। बाल किसी विशेष शैली से पीछे की ओर सँवारे हुए हैं। चेहरे पर दाढ़ी मूँछ नहीं है। मूर्ति छः फुट ऊँची है। नंदि की मूर्ति उससे कुछ ऊंची, गठीली और मोटी है। वर्त का अर्थ पीतल या लोहा होता है सो मूर्ति देखने से 'वर्तनंदि' नाम दृढ़ता के विचार से अन्वर्थ जान पड़ता है। प्रतिमाओं में सजीवता है, जीव-सदृश कल्पना है। नीचे का वस्त्र धोती है, आगे वह कुछ ऊँची है जिससे पैर दिखाई देते रहें। पीठ की ओर लगातार सलवटों की लहरों से धोती एड़ी तक दिखाई गई है। धोती के पीछे लांग या मोरी लगी हुई नहीं है। धोती के ऊपर सलवटदार गुलाईवाला कमरबंद है जो धोती तथा मिरज़ई को सम्हाले हुए है। इस कमरबंद पर धोती के छोर की फूलदार घुलवाँ गाँठ है जिससे गुलाईदार पल्ले लटके हुए हैं। उनके सिरों पर फूंदे हैं। पल्ले तथा सिमटी धोती की बत्ती और फूंदे अच्छे बने हैं। ऊपर का वस्त्र एक चौड़ा दुपट्टा वा उत्तरीय है जो सामने बाँए कंधे के ऊपर से गया है। पेट पर वह जनेऊ की तरह पड़ा है। बीच में छाती पर दुपट्टे में एक गुलाईदार गांठ है। पीठ पर भी दुपट्टा तिरछी सलों में सिमटा हुआ गया है। बाँए कंधे पर से उसका पल्ला नीचे एड़ी तक चुनावटदार लंबाई में लटक रहा है। अज की बाँह पर अंगद ठीक वैसा ही है जैसा भरहुत स्तूप के कठहरे के राजाओं की मूर्तियों में है। नंदि के अंगद मकरमुख हैं, उनपर स्वर्णकारों के सांकेतिक बेल-

अज-उदयिन् और वर्तनंदि की प्रतिमाएँ।

(पार्श्व का चित्र)

४ ५

(१) अज-उदयिन् की मूर्ति (२) वर्तनंदि की मूर्ति

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग।

६

अज-उदयिन् की मूर्ति

[सामने से]

६
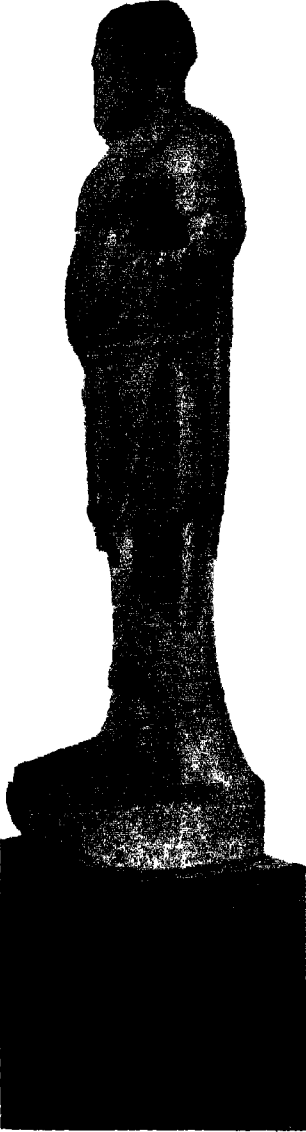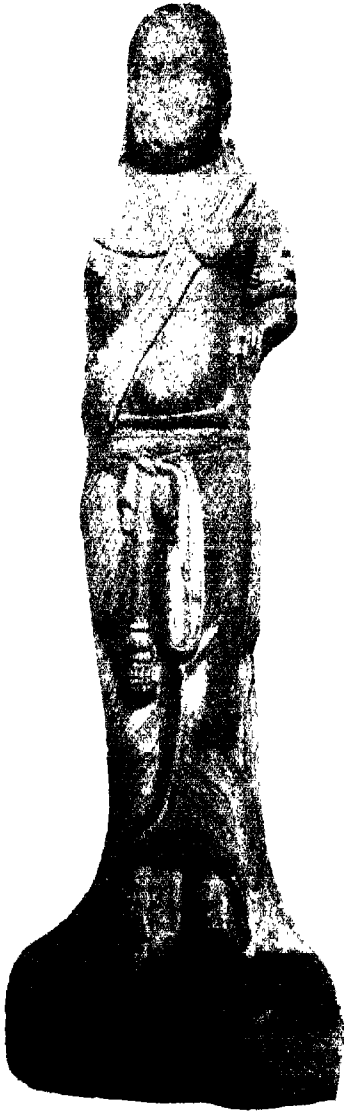
वर्तनंदि की मूर्ति

[पीछे से]

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग।

बूटे हैं। अज के कानों में कुंडल हैं। दोनों में दुपट्टे के नीचे एक अधोवस्त्र मिरज़ई का सा होना चाहिए। मोटे निकले हुए पेट, कमर की त्रिबलि तथा नाभि का विन्यास यही सूचित करते हैं। इस मिर-ज़ई की कंठी पर बुनगट के काम का हाशिया है। दोनों मूर्तियों में इसकी बूटेकारी न्यारी न्यारी है। गले में एक चांद या निष्क है। इस गहने की डोर पीछे बँधी हुई है और उसके फूंदे लटक रहे हैं। वैदिक राज्याभिषेक प्रकरण में भी ऐसे ही वस्त्र वर्णित हैं। जूतों का वर्णन प्राचीन काल से चला आता है किंतु मूर्तियों में नंगे पैर दिखाने का कदाचित् यह आशय है कि प्रजा राजा के पैरों को पूजती थी*। नंदि के कंधे पर एक चँवरी है।

मौर्य पालिश और शिलपकार।

कंधे पर से दुपट्टे का जो पल्ला नीचे तक लटका है उस पर सल-वट की समानांतर गहरी रेखाएँ हैं। उन रेखाओं के नीचे, कंधे के पास ही, लेख हैं। दुपट्टे की सलवट बनाने के पहले ही शिल्पी ने लेख के अक्षर खोदे थे। वस्त्र की रेखा अक्षरों को बचाकर गई है, उनके ऊपर से गई है, उनके रहते हुए बनी है। चतुर शिल्पी ने अक्षरों के रहते हुए भी वस्त्र की भंगी को नहीं बिगड़ने दिया। कनिंगहाम

*राजसूय-प्रकरण में इतने वस्त्रों का वर्णन है—(१) तार्प्य। तार्प्य या क्षौम, तृपा या क्षुमा नामक रेशेदार घास का बना हुआ एक तरह का सनिया या टसर होता था या जिसे बुनते समय तीन बार जल या घी से तर किया जाता था। यह भीतर का वस्त्र होता था जिस पर यज्ञपात्रों की मूर्तियां सुई के काम से काढ़ी हुई होती थीं। (२) पांड्य कंबल, बिना रंगे ऊन का ऊपर का वस्त्र। (३) अधीवास, लबादा या चोगा। (४) उष्णीष, लंबी पगड़ी जिसे सिर पर लपेट कर दोनों छोर कमर की मोरी में या नाभि के पास खोंसे जाते थे, कुछ लोग सिर पर ही लपेटते थे, नाभि के पास नहीं खोंसते थे। [स्त्रियाँ भी उष्णीष बांधती थीं क्योंकि एक जगह 'इन्द्राण्या उष्णीषः' कहा है] इन चारों वस्त्रों को रूपक से गर्भरूप क्षत्र (क्षत्रियन्व) के उल्ब, जरायु, योनि और नाभिनाल कहा है। (५) वराहचर्म के जूते। बिना केशवपनीय इष्टि किए वर्ष भर तक राजसूययाजी को बाल न मुंडवाने चाहिएँ और गद्दी पर भी जूते पहने ही बैठना चाहिए।

साहब इन मूर्तियों को अशोककाल की मानते थे किंतु लेख के अक्षरों को नवीन समझ कर उन्हें ईसवी सन् के प्रारंभ की कह गए। कलकत्ता विश्वविद्यालय के भारतीय शिल्प के वाचक अरुण सेन महाशय का मत है कि अक्षर दुपट्टे की रेखाओं से पहले बने हैं, तथा शिल्पसंबंधी विचार से मूर्तियां मौर्यकाल के पूर्व की हैं। मौर्यकाल के शिल्प में एक प्रकार की उन्नति या अधःपात दिखाई देता है। इन प्रतिमाओं में उस शिल्प का प्राचीन युग है। दोनों प्रतिमाएँ एक ही उस्ताद के हाथ की नहीं, तो भी दोनों कारीगर एक ही संप्रदाय के थे। केशों की सांकेतिक बनावट, पैरों का पारिभाषिक भद्दापन, सब इस शिल्पपद्धति का पुरानापन सिद्ध करते हैं। मौर्य पालिश कहती है कि ये मूर्तियां मौर्यकाल के पीछे की नहीं हो सकतीं। लेख उसी समय के हैं जिस समय की प्रतिमाएँ हैं। लिपि मौर्यकाल से प्राचीन है, मौर्यलिपि की पूर्वज लिपि है। अतएव प्रतिमा तथा लेख, शिल्प तथा लिपिविचार से, मौर्यकाल के पहले के हैं। रहे पालिश और उसका ईरानी जन्म, सो यही दर्पणाकार चमकदार पालिश बाबू शरच्चन्द्रदास ने जायसवाल महाशय को एक 'वज्र' पत्थर के टुकड़े पर दिखाई जो मौर्यकाल से भी बहुत प्राचीन है। शाक्यस्तूप के घियाभाटे के पात्र (पिपरावा पात्र) पर भी जो मौर्यों से पहले का है यही पालिश है। इन्हीं मूर्तियों की प्राचीनता इस पालिश की प्राचीनता सिद्ध करती है। अतएव इस पालिश का जन्म हिंदुस्तान में, जहां वह 'वज्र' बना, मानना चाहिए, पर्शिया (ईरान) में नहीं।

चँवरी।

नंदि के कंधे पर चँवरी देखकर यह कहा जा सकता है कि यह राजा की मूर्ति नहीं है, किसी परिचारक या यक्ष की है; किंतु यह

[देखो, शतपथ ब्राह्मण, ५।३-५; मर्यादा, दिसंबर-जनवरी १९११-१२, में मेरा लेख]। सूर्य की मूर्ति में घुटनों तक के फुलबूट होते हैं और सब देवमूर्तियों के पांव नंगे बनाए जाते हैं।

शैशुनाक मूर्तियों पर के लेख।

(२) अज-उदयिन् की मूर्ति का लेख।

(३) वर्त्तनंदि की मूर्त्ति का लेख।

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग।

साधारण नियम नहीं कि राजा चँवरी हाथ में न रक्खे या परिचारक ही चँवरी रक्खे। अजंटा की गुफा में एक चित्र है जिसमें रानी थाली पर कमल रखकर एक राजा के सामने पेश कर रही है। यह राजा हंसजातक का राजा है क्योंकि सिंहासन पर हंस बने हुए हैं। उसके हाथ में चँवरी है। और भी कई राजाओं के चित्रों में हाथ में चँवरी है। एक सचित्र जैन रामायण में राजाओं के हाथ में चँवरियां बनी हुई हैं। मुसलमानी समय के चित्रों में हाथ में चँवरी देना एक सौंदर्यकला थी। जैन यति चँवरी (पिच्छिका) हाथ में रखते थे।

लिपिविवेचन।

मूर्तियों को अशोक के समय की मानने को तैयार होकर भी जिन 'पीछे के', ईसवी सन् के प्रारंभ के आस पास के, अक्षरों के भरोसे जेनरल कनिंगहाम ने पुरानी न समझा था वे अक्षर विचार करने पर बड़े अद्भुत निकले। हिंदुस्तान की प्राचीन लिपियों में जितने प्रकार के अक्षर मिले हैं उनमें से किसी शैली से भी वे पूरी तरह नहीं मेल खाते। ये अति प्राचीन ब्राह्मी अक्षरों से भी प्राचीन रूप जान पड़े। इन अक्षरों का पढ़ना यही मानकर संभव हो सका है कि ये अशोक लिपि के अक्षरों के भी मूल अक्षर हैं, अर्थात् जिन अपरिस्फुट, श्रमसाध्य वर्णों का व्यवहार करते करते परिमार्जित होकर अशोकलिपि के सुडौल अक्षर विकसित हुए हैं वे वर्ण ये ही हैं।

सिरवाली प्रतिमा पर का लेख, जायसवाल महाशय के अनुसार **भगे अचो छोनीधीशे** है। पहले दो अक्षर अलग खोदे हैं, मानो पदच्छेद किया है। दूसरे दो अक्षर कुछ बड़े हैं तथा यह जोड़ा भी पृथक् है, मानो नाम होने के कारण न्यारा पद बनाया गया है। पहला अक्षर 'भ' है। यह कलम को तीन दफ़ा उठाकर तीन रेखाओं से बना है, अशोकलिपि का 'भ' दो ही रेखाओं से बनता है इसी से उसमें ऊपर की ओर नोक सी उठ गई हुई मिलती है। अर्थात् यह 'भ' पूर्वरूप है, अशोकलिपि का 'भ' मँजा हुआ है।

दूसरा अक्षर 'ग' है। बाईं ओर की रेखा के अंत में नोक है और दाहिनी ओर की कुछ टेढ़ी है। अशोकलिपि के 'ग' की दोनों रेखाएँ या तो कलम उठाए बिना ही बनती हैं, या दोनों अंश सहज और समान बने होते हैं। भट्टिप्रोलु के लेख के 'ग' में दोनों रेखाओं में असमानता रह गई है। यों यह अक्षर भी अशोकलिपि के 'ग' का पूर्वरूप हुआ। तीसरे अक्षर 'अ' को देखिए। इस प्राचीन रूप में दोनों कान बहुत विलग हैं। धीरे धीरे उनकी गुलाई घटी, वे पास पास आए और दो रेखाओं से बननेवाला अशोकलिपि का 'अ' बन गया। चौथे अक्षर 'च' में यह विशेषता है कि इसकी खड़ी लकीर नीचे के अक्षरांश से पृथक् रह कर आगे को बढ़ी हुई है। यह तीन रेखाओं से बना है। अशोकलिपि का 'च' दो ही रेखाओं से बना है—एक तो ऊपर की खड़ी रेखा, दूसरी नीचे के वर्ण को कलम बिना उठाए बनाती है। अशोक के गिरनार लेख में 'च' का एक नमूना इससे कुछ मिलता है। पुराने जाने हुए अक्षरों में यह 'च' ही मूर्ति के 'च' से मिलता है। पाँचवें तथा छठे अक्षर 'ळ' तथा 'न' तीन तीन रेखाओं से बने हैं, अशोकलिपि में वे दो दो रेखाओं से बने जान पड़ते हैं। इस 'न' तथा अशोक के समय के 'न' की समानता केवल दिखाई देने की है, वास्तव नहीं। सातवाँ अक्षर 'ग' नहीं हो सकता, 'ट' नहीं हो सकता (क्योंकि ये अक्षर स्थानांतर में इन्हीं मूर्तियों पर असंदिग्ध मिलते हैं), 'ए' नहीं हो सकता (क्योंकि ई की मात्रा स्पष्ट लगी हुई है); यह अशोक लिपि के 'ध' का ही पूर्वरूप माना जा सकता है। ऊपर से दो रेखाएँ नीचे की ओर खींच कर नीचे एक आधार की रेखा उन दोनों को मिलाती हुई बनाने से यह तीन कलमों से बना है। अशोक का 'ध' इसीका बिगड़ा या सुधरा रूप है जो एक सीधी तथा एक गुलाईदार रेखा से बनता है। भट्टिप्रोलु के स्तूप का 'ध' इस 'ध' तथा अशोक के 'ध' का मध्यवर्ती रूप जान पड़ता है। अंतिम अक्षर 'श' है; यह तीन रेखाओं से बना होने से ईसवी चौथी शताब्दी का 'के' नहीं हो सकता।

शैशुनाक लेख।

(८) कागज के छापे के लेखों से नकल।

(क)

1 2 3 4 5 6 7 8

(ख)

1 2 3 4 5 6 7 8
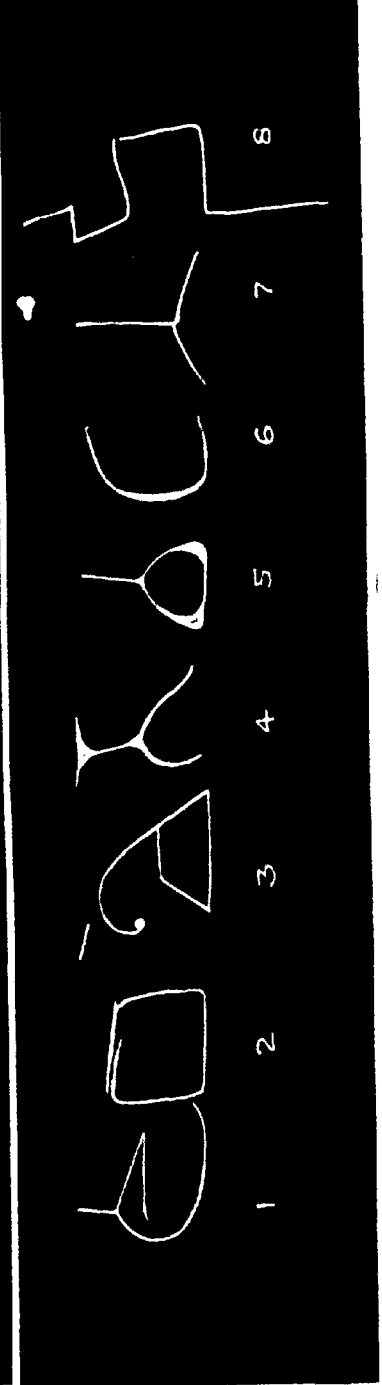
(क) सिरवाली मूर्ति। (ख) बिना सिरवाली मूर्ति।

यह भी भट्टिप्रोलु के 'श' तथा अशोकलिपि के 'श' का पूर्वज है। ऊपर की मध्यरेखा पिछले रूपों में छोटी होती चली गई है, ऊपर का भाग बिलकुल न रह कर नीचे का अंश दोनों ओर की रेखाओं से लंबा हो गया है। इस 'श' में ये रेखाएँ ऊपर की ओर हैं, किंतु पिछले रूपों में नीचे की ओर हैं।

बिना सिर की मूर्ति का लेख यह है—**सपखते वट नंदि** या **षपखेते वेट नंदि**।

पहला अक्षर 'ष' का पुराना रूप हो सकता है किंतु मूर्ति की कोहनी से ऊपर की सलवट तक एक पतली रेखा और है जो या तो पत्थर की दर्ज़ है, या सलवट का ही अंश हो। उसे इस अक्षर का भाग न मानें तो यह 'स' है। इस अक्षर के तीन अंश हैं—एक तो भीतरी रेखा से नोक तक, दूसरा नोक से दूसरे अक्षर की आड़ी रेखा तक अर्द्धवृत्त, तीसरा नोक के ऊपर का सिरा। अशोकलिपि में स और ष दोनों द्विरेखात्मक वर्ण हैं, उनमें बिचली रेखा सीधी नहीं होती। वस्तुतः 'स', 'श', 'ष' में उतना भेद न उस समय की भाषा में था, न लिपि में। दूसरा अक्षर तीन भिन्न रेखाओं से बना है, एक दाहिनी ओर की सकोण रेखा ऊपर से नीचे को, दूसरी बाँई ओर नीचे से ऊपर को, तीसरी आधार रेखा। यह बनावट 'प' की है, 'ल' की नहीं। दाहिनी रेखा बाँई से कुछ छोटी है। अशोकलिपि के 'प' के एक ही कलम से बनने से उसकी बाँई रेखा बहुत ही छोटी होती गई है। यह 'ब' भी हो सकता है। तीसरा अक्षर 'ख' है जो चार रेखाओं से चौखूंटा बना है, ऊपर को तुर्रा है। अशोकलिपि में चारों खूंटें गुलाई पा जाती हैं जिससे चारों रेखाओं का पृथक्त्व मिट सा जाता है। तुर्रा भी नीचे लटक आया है, उसकी नोक मिट गई है, मानों लिखना अधिक सरल और सहज हो गया है। चौथे अक्षर 'त' की दो टांगें हैं और ऊपर सिर अलग जोड़ा है। अशोक के समय तथा पीछे के 'त' दो ही रेखाओं से बने हैं। पाँचवें अक्षर 'व' में बगलों की दोनों रेखाएँ कुछ गुलाई लिए हुए हैं। आधार रेखा आड़ी पृथक्

है। ऊपर को खड़ी लकीर है। भट्टिप्रोलु का '**ब**' इससे कुछ मिलता है। अशोकलिपि का '**ब**' बिलकुल गोल हो गया है। एक वृत्त और दूसरी ऊपर की खड़ी रेखा, यों दो ही रेखाओं का बनता है। छठा अक्षर '**ट**' अशोकलिपि का है। सातवां '**न**' पहली मूर्ति में भी है। अंतिम अक्षर तीन चार बार कलम उठाकर बनाया है। दिल्ली के अशोक लेख का 'द' इससे कुछ मिलता है, बाकी '**द**' एक ही कलम से बनते थे।

मात्राओं में **ए** की मात्रा अक्षर की बांई ओर एक आड़ी या तिरछी रेखा है (देखो **गे, घे, खे, ते**), यही मात्रा बढ़कर पीछे बंगला में बांई ओर आ गई, जैन पोथियों में पड़ी मात्रा हो गई और हिंदी में वर्ण के ऊपर चली गई। **ओ** की मात्रा वर्ण के सिर पर आड़ी रेखा है (देखो **चो, को**, में सिरे की मुटाई। **ते** पर '**ए**' की मात्रा '**ओ**' की सी है)। **इ** की मात्रा वर्ण पर एक खड़ी रेखा (देखो **दि**) और **ई** की मात्रा दो खड़ी रेखाएँ हैं (देखो, **नी, धी**)। अनुस्वार (**नं** पर) स्पष्ट है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि पहले जो अक्षर तीन या अधिक रेखाओं से कलम उठाकर बनाए जाते थे, वे अशोकलिपि में दो एक रेखाओं से बिना कलम उठाए बनने लगे। ये अक्षर आयाससाध्य हैं, अशोक के अक्षर अनायास बनते हैं। विकासक्रम में धीरे तथा श्रम से बननेवाले अक्षर (जैसे इन मूर्तियों के) पुराने होते हैं, गुलाईदार (घसीट या शिकस्ता) पीछे के। इन अक्षरों तथा अशोकलिपि के अक्षरों में विकास का वही संबंध है जो अशोक के लेख तथा रुद्रदामन् के लेखों में है।

यह संभव है कि मौर्यकाल के पहले दो तरह की लिपियां प्रचलित हों, दोनों पहले की मूल ब्राह्मी के रूपांतर हों। उनमें से एक के अक्षर तो ईसवी पूर्व पांचवीं शताब्दी के ये ही हैं, दूसरी आगे चलकर मौर्यों की राजलिपि हो गई हो। उधर दक्षिणी लिपि, मथुरा, पभोसा, हाथीगुंफा के लेखों के कई अक्षर इसी मूर्तियोंवाली लिपि के वंशज

(९) महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री की मूर्तियों को देख देख कर बनाई हुई नकल
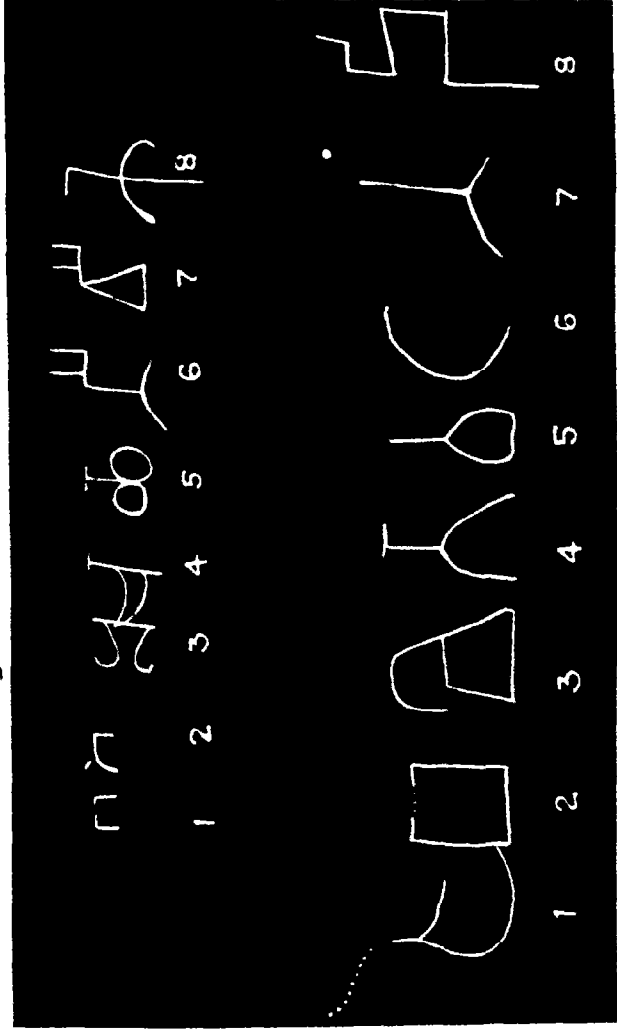
(१०) मिस्टर ग्रीन की बनाई हुई संदिग्ध अक्षरों की नकल

(क) (ख)

'डियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग।
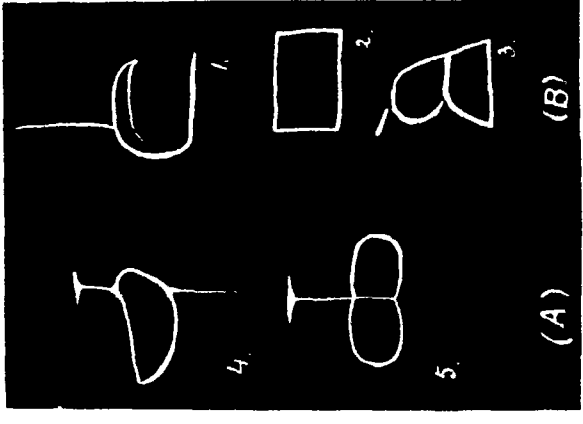
हैं। मौर्य काल के पीछे एक ही काल की लिपियों में इतने अवांतर भेद मिलते हैं कि बिना दो मूल लिपि माने ईसवी सन् पूर्व तीसरी शताब्दी की एक ही मूल लिपि से वे सब निकले हों यह मानना कठिन है। बौद्ध तथा जैन पुस्तकों में ब्राह्मी लिपि के साथ साथ ही पौष्करसादी लिपि का भी नाम मिलता है। संभव है कि ये इन्हीं दोनों पुरामौर्य लिपियों के नाम हों।

लेखों का अर्थ तथा उनकी भाषा।

भगे अचो छोनीधीशे का अर्थ 'भगवान् (=ऐश्वर्ययुक्त) अच (अज) क्षोणि + अधीश (=पृथ्वीपति)' है। **भगे** वैदिक साहित्य में आता है जिसका अर्थ संबोधन में ऐश्वर्ययुक्त स्वामी या महा-महिम प्रभु होता है। दूसरे लेख का अनुवाद यह होगा—'सर्वक्षेत्र [पति] या सर्वक्षिति [पति] वर्त नंदि'। **सप** को **षप** या **सब** पढ़ने से या **वट** को **वेट** पढ़ने से भी इन प्राकृत शब्दों की संस्कृत छाया **सर्व** और **वर्त** ही रहेगी। अर्थशास्त्र (पृष्ठ ३३८) में राज्य के अर्थ में **क्षेत्र** पद आया है। बौद्ध धर्मग्रंथों की पाली भाषा ही इन लेखों की भाषा है। शैशुनाक काल में वही राजभाषा रही हो यह प्रतीत होता है, संस्कृत नहीं। इस भाषा में **'ज'** का **'च'** हो जाता है (**अजो** का **अचो**)। वैयाकरणों ने इसे उत्तर-पश्चिमी प्राकृत अर्थात् राजकीय पाली का एक लक्षण माना है (जैसे **प्राजन** का **प्राचन**, अशोक लेखों में **व्रजन्ति** का **व्रचन्ति**)। **सर्व** का **सप** होना भी पाली के अनुकूल ही है (जैसे **प्रजावती** का **पजापति**)। **क्ष** का **छ** (**क्षोणी** का **छोनी**) भी पाली लेखों में बहुत मिलता है (जैसे **क्षुद्र** का **छुद्दो**)। क्षोणि + अधीश की संधि छोनीधीशे (संस्कृत क्षोण्यधीश) होना पाली व्याकरण से सिद्ध है। भगे तथा क्षेत्र शब्दों का प्राचीन अर्थों में प्रयुक्त होना भाषा की प्राचीनता सिद्ध करता है।

इतिहास।

पुराणों में पाटलिपुत्र के शैशुनाक राजाओं की नामावली में नंदिवर्धन

उदयिन् के १२ वें वर्ष का अंतर ७४ वर्ष होता है। अर्थात् पालक और विशाखयूप ने ७४ वर्ष राज्य किया। पुराणों में इन दोनों का राज्यकाल भी २४ और ५० अर्थात् ठीक ७४ वर्ष ही दिया है। किंतु जैन वंशावलियों में इन दोनों के ६० या ६४ ही वर्ष दिए हैं जिसका समाधान यह हो सकता है कि मृत्यु के पहले दस वर्ष तक विशाखयूप मगध के उदयिन् राजा के अधीन रहा हो, अर्थात् उसका अस्तित्व पराधीन होकर भी बना रहा हो। या उदयिन् के अवंती में राजा होने के समय से उसका राजकाल न गिनकर मगध में गद्दी पर बैठने के समय से गिन लिया गया हो और पालक के पीछे उसी का समय गिनने से प्रद्योतवंश के वर्ष कम रह गए हों।

पुराणों में अवंती के (प्रद्योत) राजवंश के समाप्त हो जाने पर भी वहाँ की वंशावली जारी रक्खी इसका अर्थ यह हो सकता है कि उदयिन् ने विजेता होकर भी यावज्जीवन अवंती के राज्य का मगध से पृथक्त्व रक्खा और उसके पुत्र नंदि ने भी ३० वर्ष तक वैसा ही किया। मत्स्यपुराण में अज और नंदि के राजकाल का योग ५२ वर्ष दिया है। अज के २१ तथा नंदि के ३० वर्ष पृथक् पृथक् भी दिए हैं। मत्स्यपुराण की कुछ प्रतियों में लिखा है कि इन ५२ वर्षों के पीछे पाँच प्रानंदों का राज्य रहा। नंदि के पीछे पिछले (नवीन) नंदों को मिलाकर अवश्य ही पाँच नंद हुए।

नंदि ने अपने पिता उदयिन् की राजधानी पाटलिपुत्र को छोड़ कर लिच्छिवियों के गणराज्य की राजधानी वैशाली में गंगा पार दूसरी राजधानी बनाई। बौद्ध तारानाथ ने नंदि को वैशाली में राज्य करता हुआ लिखा है। सुत्तनिपात में, नंदि के समकाल में, वैशाली को मगध की राजधानी लिखा है। उसी के काल में वैशाली में बौद्धों का दूसरा संघ हुआ था। बौद्ध कथानक यह है कि पाणिनि उसी की राजसभा में आया। मगध का राज्य बढ़ाकर उसने वर्धन उपाधि को चरितार्थ किया और कदाचित् इसीलिये राजधानी पाटलिपुत्र से आगे को हटाई। उत्कल का विजय भी उसी ने किया।

वाद विवाद।

जायसवाल महाशय का लेख छप जाने के पीछे इन मूर्तियों के विषय में बहुत कुछ वाद विवाद हुआ है। इस विवाद के मुख्य प्रश्न ये हैं—

मूर्तियाँ यक्षों की हैं कि राजाओं की ?

लेखों का पाठ जो जायसवाल महाशय ने पढ़ा है वही ठीक है कि और कुछ ?

लेख मूर्तियों के समकालिक हैं या पीछे के ? यदि समकालिक हैं तो अपेक्षाकृत नवीन लिपि पुरानी मूर्तियों पर कैसे ? अथवा नए अक्षरोंवाली मूर्तियाँ पुरानी क्योंकर हो सकती हैं ? यदि पीछे के अक्षर हैं तो मूर्तियों का वस्तुतत्त्व वे कैसे दिखा सकते हैं ?

मगध और अवंती के इतिहास के अज और उदयिन् तथा दो नंदिवर्धनों की एकता जो जायसवाल महाशय ने स्थापित की है वह कहाँ तक ठीक है ?

इस विवाद ने कभी कभी सनातन धर्म और सुधारकों के विवाद का रूप धारण कर लिया है। जैसे पाणिनीय व्याकरणवाले यह दुहाई दिया करते हैं कि "सामर्थ्ययोगान्न हि किंचिदत्र पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्" और "अपाणिनीयं तु भवति, यथान्यासमेवास्तु" कहकर नई कल्पनाओं का मुख बंद करते हैं, वैसे "अकनिंगहामीय" या "अबूलरीय" होने के भय से यक्षमूर्ति, मौर्य पालिश के ईरानी जन्म, और पिछले अक्षरों का सिद्धांत सहसा छोड़ा नहीं जाता। पुरातत्त्व की खोज में भी धर्म की तरह कुछ सिद्धांत जम से जाते हैं, उन्हें उखाड़ने में देर लगती है। पहले मानते थे कि संस्कृत कोई भाषा ही न थी, ब्राह्मणों की कल्पना है। यह माना जाता था कि क्या नाटक और क्या शिल्प हिंदुस्तान में यूनानियों के आने के पीछे चले, नाट्यशास्त्र और गांधार शिल्प में ग्रीस की सभ्यता का अनुकरण ही है। भागवत-

संप्रदाय और भक्तिमार्ग में भी कृस्तान धर्म के आदि काल की छाया दिखाई पड़ती थी। ये सिद्धांत अब हट गए हैं। रतन ताता के दान से पटने की खुदाई होने पर ईरानी शिल्प और मय असुर के शिल्प की कल्पना हुई है। पटने का राजप्रासाद ईरानी राजा दारा के महल और स्तंभों का अनुकरण माना गया। अशोककालीन स्तंभों तथा मूर्तियों पर की पालिश ईरानी पालिश ठहराई गई। पिपरावा स्तूप के पात्र पर वैसी पालिश उपलब्ध होने पर भी यह कहा गया कि स्तूप पुराना है, पात्र पीछे से उसमें रक्खा गया है। सुधारकों के कहने से सनातन धर्म छोड़ने पर लोग सहसा तैयार नहीं हो जाते। पहले हिंदुस्तान भर में एक साम्राज्य रहा हो यह कोई न मानता था। शहवाजगढ़ी से मैसूर तक अशोक के लेख मिलने से अब वह संस्कार हटा है। हिंदुस्तान में कभी प्रजातंत्र या गणराज्य की कल्पना हुई हो यह कौन मानता था? गणों के सिक्कों, प्रजा की समितियों, राजा की स्वेच्छा पर प्रजा के दबाव आदि बातों का अब पता चल रहा है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के मिलने के पहले हिंदू दंडनीति के विकास की कथा भी नहीं थी। पीटर्सन को तो वात्स्यायन कामसूत्र में भी ग्रीस के प्रभाव का गंध आया था। पहले मौर्यकाल से पहले राजवंशों की बात कोई न मानता था। पुराणों को इतिहास के बारे में देखने योग्य नहीं माना जाता था किंतु पार्जिटर ने पुराणों की वंशावलियों का समीकरण तथा विश्लेषण करके पूरा इतिहास बना दिया है और अब वही वेदों के ऋषि तथा क्षत्रियवंशों का इतिहास बना रहा है। जहाँ श्रद्धा समूल या निर्मूल जम जाती है वहां से उसे उखाड़ने में क्लेश ही होता है। इस विवाद ने कुछ राजनैतिक रूप भी धारण किया है। बिहार के नए प्रांत का इन मूर्तियों पर दावा होकर कलकत्ते के इंडियन म्यूज़ियम से कहीं ये हटाई न जायँ इसकी चिंता "पुराने" खोजियों को हुई है। अस्तु।

बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी के जर्नल के जून सन् १९१९ के अंक में

बाबू राखालदास बनर्जी।

ने इन मूर्तियों पर एक लेख लिखा है। उन्होंने अचो और वटनंदि पाठ को ठीक माना है। वे कहते हैं कि ये मूर्तियाँ अज तथा वर्तनंदि नामक शैशुनाक राजाओं की ही हैं। अब तक भारतीय शिल्प के जितने नमूने मिले हैं उन सब में ये प्रतिमाएँ प्राचीनतम युग की हैं। अभी तक लोग कुशन सम्राट् कनिष्क प्रथम की प्रतिमा को ही सब से प्राचीन मानते थे। डाक्टर ब्लाख ने भी इनके ऊपर के लेखों को पढ़ने का यत्न किया तथा नंदि पद पढ़ भी लिया था किंतु उनकी खोज अधूरी ही रही। सन् १९१३ में डाक्टर स्पूनर ने यह माना था कि पालिश तो कहती है कि ये मूर्तियाँ मौर्य शिल्प की हैं किंतु लेख उनसे पीछे के हैं। बनर्जी महाशय भी यही मानते हैं कि लेख पीछे के हैं, ईसवी पूर्व या ईसवी पहली शताब्दी के हैं। बनर्जी महाशय के मत में 'सपखते' में दूसरा अक्षर **प** नहीं ब है। इससे अर्थ में कोई अंतर नहीं पड़ता। अज की मूर्ति पर के लेख में वे **भ**, **धो**, और **शे** के पाठ को ठीक नहीं मानते। **भ** तो किसी प्रकार भ हो भी सकता है किंतु '**धोशे**' '**वीके**' है। इस लेख में प्रत्येक अक्षर की बनावट का विचार करके सिद्ध किया है कि अक्षर ईसवी पूर्व की पहली शताब्दी से पहले के नहीं हो सकते। उन्होंने उस समय के भिन्न भिन्न शिलालेखों के वर्णों से इनकी समानता दिखाई है। अंत में यह माना है कि शैशुनाकों के देवकुल में इन्हीं राजाओं की ये प्रतिमाएँ अवश्य रही होंगी; पहले उन पर लेख नहीं थे, जब लोग यह भूलने लगे कि ये प्रतिमाएँ किसकी हैं तब किसी ने पहिचान के लिये ये नाम ऐसी जगह पर खोद लिए जहां सबको दिखाई न दें।

जायसवाल महाशय ने इसके उत्तर में **प** को तो **ब** मान लिया है किंतु यह बताया है कि **धोशे** को **वीके** पढ़ने से **छोनीवीके** का अर्थ कुछ भी नहीं होता। अक्षरों की बनावट में तीन रेखाओं के वर्ण पहले होते हैं, उनके विकास से दो रेखाओं के अक्षर बनते हैं इस पर बनर्जी महाशय ने विचार नहीं किया। उन्होंने कुशन और पश्चिमी

लेखों के अक्षरों से इनकी तुलना करके इन्हें अर्वाचीन सिद्ध किया है किंतु उनमें अशोकलिपि की अपेक्षा अधिक पुराने और भिन्न शैली के वर्णसंप्रदाय के चले आने की संभावना है। लिपि को पिछली मान कर ही बनर्जी महाशय ने उसकी पुष्टि के प्रमाण बनाने के लिये यह लेख लिखा है, तो भी मूर्तियों की प्राचीनता तथा राजाओं के नामों की ऐतिहासिकता को उन्होंने मान लिया है।

परखम की मूर्ति भी शैशुनाक प्रतिमा है।

सितंबर सन् १९१९ के बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी के जर्नल में बाबू वृंदावनचंद्र भट्टाचार्य ने यह दिखाया कि बनर्जी महाशय का यह कहना ठीक नहीं है कि कुशन सम्राट् कनिष्क प्रथम की प्रतिमा ही अब तक प्राचीनतम प्रतिमा मानी जाती थी तथा पुरामौर्यकाल की और कोई प्रतिमा अब तक न मिलने से इन दोनों मूर्तियों की उससे तुलना करके पुरामौर्य शिल्प के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। परखम गाँव की मूर्ति इन दोनों मूर्तियों से बहुत समानता दिखाती है। उसका वर्णन जेनरल कनिंगहाम की आर्कियालजिकल सर्वे आफ इंडिया की रिपोर्ट की २० वीं जिल्द में है। वह सात फुट ऊँची है। शैशुनाक मूर्तियां ६ फुट से ऊपर हैं। वह चौड़ाई में दो फुट है। एक ही पत्थर को चारों ओर कोरकर बनाई हुई है। बायां घुटना कुछ मुड़ा हुआ है। दोनों बाँहें कंधों पर से टूट गई हैं इससे यह पता नहीं चलता कि मूर्ति किस मुद्रा में थी। चेहरा तेल तथा सिंदूर मलते मलते अस्पष्ट हो गया है, छाती पर मैल जम गया है। इसके भी दाहिने कंधे पर चँवरी मानी गई है। कानों में कुंडल हैं। गले में एक छोटा हार या बूटेकारी का पट्टा है जिसके चार फुंदे पीठ पर लटकते हैं। इसके भी घटोदर तथा भद्दे पैर हैं। वक्ष पर दो चौड़े पट्टे हैं, एक कमर पर बंधा है, एक उसके नीचे जघन पर है; मानों वे भारी पेट को सम्हालने को बँधे हैं। कमरबंद की गाँठें भी आगे बँधी हुई हैं, पैरों तक एक ही लंबा ढीला वस्त्र है, उस पर

सलवटें और लहरें वैसी ही हैं। यह भी मिर्जापुरी भूरे दरदरे पत्थर की है और उत्कृष्ट पालिश के चिह्न अभी तक बाकी हैं। परखम में यह देवता कहलाती और वर्षों से पुजती थी। वहां पर जो और ध्वंसावशेष हैं वे लाल पत्थर के तथा अर्वाचीन हैं।

इस समानता से परखम मूर्ति की भी उतनी ही प्राचीनता देख कर जायसवाल महाशय का ध्यान उस ओर आकृष्ट हुआ। जेनरल कनिंगहाम ने उसे भी यक्ष कहा था। आजकल यह मथुरा म्यूज़ियम में है। जायसवाल महाशय ने उसे स्वयं देखा और सरकार की कृपा से छापें प्राप्त करके उसकी चरणचौकी पर के लेख को यों पढ़ा—

(दाहिनी ओर) **निभद प्रशेनि अज[ा] .. सत्रु राजो सि[रि]र**

(सामने) **क** (= ४) **थ** (= २०) **ड** (= १०). **ह्** (= ८)

(बांई ओर) **कुणिक शेवासिनागो मागधानं राजा**

इसका अर्थ है—परलोकवासी, श्रेणिवंशी अजातशत्रु श्री कुणिक शेवासिनाग, मागधों का राजा, (राज्यकाल ?) (२० + १० + ४ =) ३४ (वर्ष) ८ (मास)।

मगध के राजा अजातशत्रु की मृत्यु ईसवी पूर्व सन ५१८ में हुई। जैन लेखानुसार उसका नाम कुणिक भी था। यह बुद्ध का समकालिक मगध का शैशुनाक वंशी राजा था। शैशुनाक का प्राकृत रूप शेवासिनाग है। उसके पिता बिंबिसार का नाम श्रेणि भी था। अतएव यह सिद्ध हुआ कि यह भी शैशुनाक प्रतिमा है, यक्ष की मूर्ति नहीं। कुणिक को कणिक पढ़कर इसे कनिष्क की मूर्ति मानते थे। कनिष्क को कनिक भी कहते थे। जैसे कवि मातृचेट ने कनिष्क के नाम जो पत्र लिखा है उसका नाम कनिकलेख दिया है। संभव है कि यह देवकुल-प्रतिमा न हो, मथुरा प्रांत के विजय या किसी बड़े धर्मकार्य की स्मृति में स्थापन की गई हो, क्योंकि देवकुल प्रतिमा होती तो अजातशत्रु की राजधानी राजगृह के पास पाई जाती। इसके अक्षर स्पष्ट हैं, यहां संदेह का स्थान नहीं, क्योंकि यह प्रामाणिक लेख मूर्ति के सामने है, पीठ पर नहीं।

यक्ष-पूजा ।

इंडियन एंटिक्वेरी की मार्च सन् १९१९ की संख्या में, जो सितंबर में प्रकट हुई है, इन मूर्तियों के विषय में दो लेख छपे हैं । एक बाबू रामप्रसाद चंदा का लिखा हुआ है । चंदा महाशय ने यह सिद्ध करने का उद्योग किया है कि लेख मूर्तियों के समकालिक नहीं है; सलवटों के बनाए जाने के पीछे किसी अन्य मनुष्य ने कालांतर में खोदे हैं । वे यह नहीं मानते कि इन लेखों के अक्षर किसी काल की लिपि से नहीं मिलते । 'वे कुशन समय की ब्राह्मी लिपि से मिलते हैं । जब तक किसी अज्ञात वस्तु की किसी ज्ञात प्राचीन वस्तु से सदृशता सिद्ध न हो जाय तब तक वह प्राचीन नहीं मानी जा सकती । दो पदार्थों में समानता होने पर उन दो में से जिसकी गठन कम विकसित है वह अधिक विकसित गठनवाले पदार्थ से प्राचीन माना जा सकता है, या दोनों ही किसी एक कल्पित प्राचीन पदार्थ से उद्भूत माने जा सकते हैं, बिना साधारण पूर्वरूप के ज्ञात हुए केवल कल्पना से प्राचीन रूप नहीं माने जा सकते । ब्राह्मी लिपि के उद्भव के विषय में सर्वमान्य मत बूलर का है कि उत्तरी शैमेटिक वर्णमाला के सब से प्राचीन रूप व्यापारियों द्वारा हिंदुस्तान में लगभग ई० पू० ८०० में आए, उनसे ब्राह्मी अक्षर बने । दूसरे मत ये भी हैं कि ब्राह्मी लिपि और प्राचीन शैमेटिक अक्षर एक ही मूल से निकले, या हिंदुओं ने अपनी लिपि स्वतंत्र ही निकाली । मौर्यकाल की ब्राह्मी लिपि के विवेचन में शेमेटिक मूल से समानता का विचार न भी करें तो भी बिना किसी स्वतंत्र प्रमाण के इन लेखों के अक्षरों को ईसवी पूर्व तीसरी शताब्दी के दो सौ वर्ष पहले के पूर्वज नहीं मान सकते ।' पहली मूर्ति पर के लेख के पहले दो अक्षरों को जेनरल कनिंगहाम की तरह यखे न पढ़कर जायसवाल महाशय के अनुसार इन्होंने भग या भगे मान लिया है । ये दोनों अक्षर उन्हें सलवटों की रेखाओं को छीलकर बनाए जान पड़े हैं । आगे के लेख को चंदा महाशय ने अच(चु)छनीविक पढ़कर पूरे लेख **भगे अचुछनीविक** का अर्थ किया है भगवान अचच्छ

(= अक्षय !) नीवि (कोश, मूलधन) वाले यक्ष अर्थात् वैश्रवण कुबेर। दूसरी मूर्ति पर के लेख को यख सर्वतनंदि पढ़कर निश्चय किया है कि लेख खोदे जाने के समय, ईसवी सन् की दूसरी सदी में, इन्हें यक्षों की प्रतिमा ही माना जाता था, एक मूर्ति यक्षों के राजराज वैश्रवण (अक्षयनीविक) की है, दूसरी चँवरीवाला उसके पार्षद सर्वतनंदि की। शिल्प की सजीवता तथा प्राचोनता की बात को वे हँसी में उड़ाते हैं। वे कहते हैं कि अशोकस्तंभों तथा उनकी खुदाई की सुंदरता के सामने ये मूर्तियां भद्दी हैं। सारनाथस्तंभ के सिंहों का चित्रकौशल इनसे कहीं उत्कृष्ट है। यदि सजीवता तथा शिल्पसौष्ठव प्राचीनता का चिह्न हों तो ये मूर्तियाँ मौर्य काल के पीछे की हैं और भरहुत के कठहरे के यक्षों की मूर्तियों के पास से उन्हींके भाईबंधु इन दोनों यक्षों को हटाना अनुचित है।

कनिंगहाम साहब के सिर में यक्षवाद समाया हुआ था। उस समय तक यह नहीं जाना गया था कि देवकुलों में राजाओं की मूर्तियाँ रक्खी जाती थीं। ये मूर्तियाँ एक ही मंदिर में तीन या चार थीं। यदि यक्षों की हों तो यक्षों की पंचायत का देवालय होने का प्रमाण क्या है ? परखम की मूर्ति इनकी समानता से यक्ष की मानी गई और उसके कंधे पर चँवर न होने पर भी नंदि की मूर्ति के सादृश्य से वहां चँवर की कल्पना की गई। अब उस मूर्ति का राजमूर्ति होना लेख से सिद्ध हो गया। तब उसके प्रमाण पर ये यक्षमूर्तियाँ कैसे कही जाँय ? मालवा की मणिभद्र प्रतिमा को भी यक्ष कहा जाता है किंतु उसके नाम के पहले भगवान् पद होने से वह बोधिसत्व मणिभद्र की मूर्ति है। उस पर के लेख में जितना बहुमान दिखाया गया है वह केवल यक्ष का नहीं हो सकता। और वह मूर्ति बहुत पीछे की भी है। कनिंगहाम साहब ने चाहे वैसा पढ़ा हो किंतु इन मूर्तियों पर 'यखे' पद नहीं है। चंदा महाशय उसे 'भगव' मानते हैं पर फिर कहते हैं कि यक्षमूर्ति है! मजूमदार महाशय कहते हैं कि 'यखे' था, किसी ने नीचे का भाग छीलकर 'भगे' कर दिया है! भर-

हुत गैलरी में यक्षों की कई मूर्तियाँ हैं उन पर 'कुपिरो यखो', 'सुप्रभो यखो' आदि नाम लिखे हैं। उनके सिर पर दो शृंगोंवाली पगड़ी है और धोती की मोरी पीछे की ओर खोंसी हुई है। उनकी तरह ये मूर्तियाँ कैसे मानी जाँय? शिल्प के विद्वान् बाबू अर्धेंदु-कुमार गांगुली इस यक्षोपासना के दुराग्रह में ऐसे आ गए कि वे मूर्तियों को पुरामौर्यकाल की मानने को तैयार हैं, किंतु कहते हैं कि मूर्तियां यक्षों की हैं, राजाओं की नहीं, यहां तक कि जायसवाल महाशय का लेखों का पाठ ठीक हो तो भी वे यही मानते हैं कि जब यक्षपूजा उठ गई तब लोगों ने वास्तव बात को भूलकर उन पर राजाओं के नाम खोद दिए! (माडर्न रिव्यू, अक्टोबर १९१९) इस यक्षमत के समर्थन के लिये आर० सी० मजूमदार महाशय ने इंडियन एंटिकेरी की उसी संख्या में एक बड़ा अद्भुत लेख लिखा है।

मूर्तियों पर संवत् ?

वे लेखों के अक्षरों को कुशन काल के पूर्व का नहीं मानते। कहते हैं कि जायसवाल महाशय के सिद्धांत का मूलस्तंभ यही है कि ये अक्षर किसी भी समय के वर्णों से नहीं मिलते। कुशन अक्षरों से उनकी स्पष्ट समानता से उन्हें न पढ़कर जायसवाल महाशय ने पुराने रूप, तीन रेखाओं के अक्षर आदि की नई कल्पना पहले गढ़ कर उन्हें अशोकवर्णों का पूर्वज माना है। इन पूर्वज वर्णों का कोई पता नहीं, कल्पना से उन्हें खड़ा कर किसी भी आकृति का जो चाहे सो पूर्वज मान सकते हैं। कुशन काल की वर्णमाला उत्तरी भारत की पश्चिमी लिपि है, किंतु पूर्वी लिपि उनसे कुछ भिन्न थी, यह समुद्रगुप्त के प्रयाग-लेख से अनुमान कर सकते हैं। यदि पूर्वी भाग में मिली हुई इन मूर्तियों के लेखों के अक्षर कुशन लिपि से पूरी तरह नहीं मिलते तो उसकी पूर्वी अवांतर लिपि के कुछ लक्षण उनमें मिलते हैं। प्रथम मूर्ति के पहले दो अक्षर औरों से छोटे हैं, कनिंगहाम की प्रतिलिपि में वे यखे हैं तो उस समय अवश्य यखे होगा, पीछे कुछ भाग छील दिया गया

है, बाकी अंश वह है जिसे जायसवाल महाशय ने भगे पढ़ा है! अक्षरों को कुशन-समय के लेखों से मिला कर मजूमदार महाशय ने कहा है कि अंत के दो अक्षर अक्षर नहीं हैं, संख्यावाचक चिह्न हैं। पहले संख्या अक्षरों से बताई जाती थी (देखो, ऊपर परखम मूर्ति का लेख) और वे अक्षर संयुक्त वर्णों से मिलते जुलते होते थे। प्रथम मूर्ति का लेख मजूमदार महाशय के मत में यह है—**गते (यखे ?) लेच्छाई (च्छवि) प्र (=४०) के (=४)** अर्थात् लिच्छिवि संवत् ४४ (में यह मूर्ति बनाई गई)। लिच्छिवि संवत् प्रसिद्ध है, जैनकल्पसूत्र में लिच्छिवि का पाठांतर लेच्छाई मिलता है, वही लेच्छवि हुआ। लिच्छवि संवत् का आरंभ ईसवी सन् ११०-१११ में हुआ, अतएव इस मूर्ति का समय ईसवी सन् १५४-१५५ हुआ। दूसरी मूर्ति के लेख के पहले दो अक्षर तो **यखे** ही हैं। अंत का अक्षर **द** नहीं है, वह क्षत्रप सिक्कों वाला ७० का चिह्न है। यदि वह उससे नहीं मिलता है तो उसी चिह्न का पूर्व रूपांतर है, चाहे नीचे की नोक अधिक झुकी हुई हो। उसका अधिक झुकाव खोदनेवाले की बुद्धिमानी है जिसने इस अक्षर को औरों से विशेष महत्त्व देने के लिये गहरा खोदा! अंकों के स्थान में जो वर्ण-संकेत आते हैं उनमें साधारण समानता ही होती है अतएव अधिक मिलाने जुलाने की आवश्यकता नहीं। यों लेख हो गया—**यखे सं वजिनां ७०** अर्थात् (यह) यक्ष वजियों के संवत् ७० में (बनाया गया)। वजि वृजि का प्राकृत रूप है। वृजि गण था, लिच्छिवि भी इसी जाति-गण के अंतर्गत थे। एक ही संवत् समष्टिरूप जातिगण का भी कहलाता होगा जो पीछे जाकर एक ही प्रधान जाति (लिच्छिवि) के नाम से कहलाया गया। इस गण की और जातियाँ तो अप्रसिद्ध रह गईं किंतु लिच्छिवियों ने नेपाल में राज्य स्थापित किया और वे ऐसे बढ़े कि प्रसिद्ध गुप्त सम्राट् भी लिच्छिवि-दौहित्र कहलाने का गर्व करने लगे। वजि संवत् ७० ईसवी सन् १८०-१८१ हुआ। ये मूर्तियाँ यक्षों की हैं। समय निर्णीत है जिससे शिल्प-कल्पना की जगह ही

नहीं रह जाता। लिच्छिवियों का पाटलिपुत्र पर अधिकार था। नेपाल के बाहर लिच्छिवि संवत् के पुराने वर्षों के ये ही लेख मिले हैं।

यह लीजिए। कनिंगहाम महाशय का यक्ष पहली मूर्ति पर से हटता न हटता दूसरी पर तो निकल पड़ा! मूर्तियों के शिल्पकाल निर्णय, अक्षरों के मूल या अर्वाचीन होने आदि के विचार की जड़ ही कट गई! मूर्तियाँ स्वयं पुकार कर अपना समय कह रही हैं। यक्ष अपनी मूर्ति खड़ी किए जाने का समय साथ ही लिखवाए फिरते हैं!! अंत के अक्षरों को संवत् के वर्षांकों के चिह्न मानना बहुत ही हास्यास्पद हुआ है। रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, जिनके समान प्राचीन लिपियों के पढ़ने में कोई कुशल नहीं है और जिन्हें यह लेख दिखा लिया गया है, इस चेष्टा को दुःसाहस कहते हैं। ये अक्षर किसी दशा में अंक-चिह्न नहीं हो सकते।

आगे चल कर मजूमदार महाशय कहते हैं कि यदि इन लेखों में **अचो और वटनंदि** निर्विवाद पढ़े भी जाँय तो दूसरे अनिश्चित अक्षरों के साथ से उन्हें पृथक् पद या नाम नहीं मान सकते। पुराणों में शिशुनाक वंशी राजाओं में अज का नाम ही नहीं है, उदयिन को अजय कहा है अज नहीं, नंदिवर्धन को आजेय (अजय का पुत्र) कहा है, अज का पुत्र नहीं। पुराणों में कहीं पर वटनंदि नामक कोई शैशुनाक राजा ही नहीं मिलता। वायुपुराण में वर्तिवर्धन, वर्धिवर्धन, कीर्तिवर्धन नाम मिलते हैं, यदि ये नंदिवर्धन के ही नामांतर हों तो दोनों मिला कर वर्तनंदि कैसे बन गया? चंद्रगुप्त द्वितीय का नाम देवगुप्त भी था, विग्रहपाल का नामांतर शूरपाल था, किंतु इससे चंद्रदेव या देवचंद्र, शूरविग्रह या विग्रहशूर तो नहीं बन जाता। बनर्जी महाशय ने लेखों को कुशनकाल का माना है, मूर्तियों को पुराना, यदि कोई देवकुलिक मूर्तियों पर बनर्जी महाशय के कथनानुसार पीछे से नाम लिखता तो पीछे छिपा कर क्यों लिखता, सामने क्यों नहीं?

योरोपियन पुरातत्त्ववेत्ताओं का मत।

विंसेंट स्मिथ।

डाक्टर विंसेंट स्मिथ ने, जिनके अभी अभी परलोकवास से पुरातत्त्व और इतिहास की बड़ी भारी क्षति हुई है, एशियाटिक सोसाइटियों की सम्मिलित सभा में, ता० ५ सितंबर १९१९ को, जायसवाल और बनर्जी महोदयों के मत से अपने को सहमत बतलाया था। उन्होंने यह मत प्रकाश किया कि ये मूर्तियाँ मौर्यकाल के पहले की हैं, ईसवी पूर्व ४०० से पीछे की नहीं बनीं, लेख मूर्तियों के समकालिक हैं, तथा लिपि की आधुनिकता की बात पक्की नहीं। अब तक पत्थर का शिल्प अशोक के समय से ही आरंभ हुआ ऐसा मानते रहे हैं, अब, इन मूर्तियों से यह जान कर कि अशोक से दो शताब्दी पहले भी मूर्तिकला इतनी उन्नत थी, भारतीय शिल्प का इतिहास बिलकुल बदल जाता है। मूर्तियों की रचना कहती है कि बहुत पहले से इस शिल्प की उन्नति हो रही थी।

डाक्टर बार्नेट

ने, और लेखकों की तरह अविश्वास तथा खंडन की धुन से नहीं, किंतु शालीनता के साथ, 'क्षमन्तु साधवः' कह कर जायसवाल महाशय के मत का विरोध किया है। (१) अक्षरों और सलवटों की बनावट से लेख मूर्तियों के पीछे का है, समकालीन नहीं। (२) जायसवाल महाशय का पाठ स्वीकार करने में भाषा संबंधी कई कठिनताएँ हैं। **भगे** तथा **छोनीधीशे** में कर्ता का रूप ए-कारांत है, और **अचो** में ओ-कारांत। प्राकृत में दोनों होते हैं, किंतु एकही लेख में दो वैसे और एक ऐसा क्यों? **अज** में तो 'ज' का 'च' हो गया, **भगे** और **धीशे** में व्यंजन का परिवर्तन क्यों न हुआ? जायसवाल महाशय ने एक उदाहरण पाली से तथा एक अशोक-लेख से अपनी पुष्टि में दिया है किंतु वे इसलिये संतोषदायक नहीं कि यह क्योंकर हो सकता है कि राजा के नाम में परिवर्तन हो जाय तथा विशेषण-शब्दों में न हो। यह परिवर्तन पैशाची और चूलिका-पैशाची में होता

है जो कभी पटने के आसपास की भाषा न थी। यदि यह मानें कि राजा का नाम अच था, उसका पुराणों में संस्कृत अज बना लिया तो शैशुनाक अज का अस्तित्व कहाँ रहा ? सपखते में सर्व का प्राकृत सप होना भी संदिग्ध है। (२) प्रथम लेख **भगे अचे छनीवीके** है, इसका अर्थ न जाने क्या है। अक्षर सब पिछले हैं, कुशन-समय के लेखों तथा स्टैन के उपलब्ध तुरफन के लेख-खंडों से मिलते हैं। **सपखते** में **स** है ही नहीं, **य** है और वह कुशनकाल का **य** है। सार यह है कि प्रथम लेख में अज का नाम ही नहीं। दूसरे लेख में वट-नंदि हो सकता है किंतु पुराणों में कोई वर्तनंदि नहीं है, जायसवाल महाशय का वर्तनंदि तथा नंदिवर्धन को एक करने का यत्न निष्फल हुआ है। लेखशैली मौर्यकाल से बहुत पीछे की है।

प्रोफेसर फूशे ने शिल्पविचार से मूर्तियों को ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी की यक्षमूर्तियाँ ही माना है।

वि० ओ० रि० सो० के जर्नल की दिसंबर १९१९ की संख्या में जायसवाल महाशय ने सब आक्षेपों के उत्तर दिए हैं। (१) अक्षर मूर्तियों के समय के हैं या पीछे के खुदे हुए, इस पर कलकत्ते के विक्टोरिया मेमोरियल के प्रधान शिल्पी मार्टिन कंपनी के मिस्टर मीन का मत लिया गया। मिस्टर मीन का मत है कि अज की मूर्ति पर तो अक्षर पहले खोदे गए हैं, सलवटें पीछे बनाई गईं। नंदि की मूर्ति में अक्षर तथा सलवटें एक काल की हैं, पूर्वापर नहीं। अक्षरों के लिये सलवट की रेखाएँ बचा कर ली गई हैं, अक्षर सलवटों के ऊपर नहीं रक्खे गए हैं। इस विशेषज्ञ की सम्मति बड़े महत्त्व की है। शिल्प-विचार से किसी विद्वान् ने मूर्तियों को मौर्यकाल के पीछे की नहीं कहा। अशोक और शुंगकाल की प्रतिमाओं से ये भिन्न हैं, इनकी समानकक्ष परखममूर्ति पुरामौर्य काल की है, इनपर मौर्य पालिश और मौर्य शिल्प है, और अक्षर मूर्तियों के समकालीन हैं। फिर अक्षर पुराने क्यों नहीं ? मि० मीन ने अग्निदाह से मूर्तियों का पीला पड़ना तथा पत्थर का असली रंग मिर्ज़ापुरी पत्थर का माना है।

उसी अंक में मि० अरुणसेन का लेख है जिसमें इन मूर्तियों के पुरामौर्य शिल्प का विवेचन है। इसमें अंग प्रत्यंग की बनावट और मौर्यकाल के सिंह तथा सारनाथ के कटघरे की प्रतिमा, बेसनगर की मूर्ति, परखम मूर्ति, ग्वालियर की मणिभद्र मूर्ति, सारनाथ के वृष तथा सांची और भरहुत के नमूनों की तुलनात्मक विवेचना से सिद्ध किया है कि पिछले शिल्प में रूढ़ि है, चित्रण का ढर्रा है; इन मूर्तियों में केवल भाव (कहीं कहीं भोंदपन से) है, जैसे स्थूलता या बिना केश का सिर दिखाया है, नसों के मोड़ और लटों के पेंच नहीं। अतएव यह पुराना सजीव शिल्प है, पिछला रूढ़ि का जमा हुआ नहीं।

(२) यह ठीक है कि कर्त्ता के रूप या तो अर्धमागधी के अनुसार सभी ए-कारांत हों या सभी मागधी के अनुसार ओ-कारांत हों, किंतु अशोक के लेखों में भी ऐसा मिश्रण पाया जाता है, जैसे **सातियापुतो केललपुतो तम्बपंनी अंतियोगे** (कालसी का लेख), **राजुको, प्रदेसिके** (शहबाजगढ़ी), **ध्रमसंश्तवे ध्रमसंविभागो** (वहीं), वहीं पर कहीं **देवान प्रिये,** कहीं **देवानं प्रियो,** गिरनार के लेख में **देवानां प्रिये** और आगे चलकर **देवानां पियो,** और शहबाजगढ़ी के लेख में **अंतियोको तुरमये नाम अलिकसुदरो** दिया है। इस प्रत्यक्ष व्यवहार के प्रमाण के आगे व्याकरण-सम्मत शुद्ध पाली प्रयोगों का न मिलना असंभव नहीं है।

ज का **च** हो जाना पैशाची का लक्षण है जो सीमाप्रांत में व्यवहृत होती थी, किंतु यह कोई बात नहीं कि वह और कहीं न मिलता हो। जब प्राकृत भाषाएँ जीवित थीं तब बोलनेवाले या लिखने खोदनेवाले की मौज से उच्छृङ्खलता होती थी, व्याकरणों को लेकर कोई न बैठता था। प्राकृत के प्रयोग के रूपों में विकल्प बहुत हैं, देश-विशेष का नियम भी इतना जकड़ा हुआ न था। एक ही **बृहस्पतिमित्र** का नाम सिक्कों पर **बहसति मित्र** और लेख में **बृहास्वातिमित्र** मिला है। प्रसिद्ध ग्रीक राजा **गोंडोफोरस** के सिक्कों पर **गुदफर, गदफर,** वा **गुदफर्न** तीन रूप मिलते हैं। **अज** के स्थान में **अच**

और **प्राजन** के लिये **प्राचन** थे जो दो उदाहरण दिए गए थे वे पर्याप्त न माने जाँय तो प्राकृतमंजरी नामक प्राकृत व्याकरण का सूत्र है 'चो अजनृत्योः' । ये परिवर्तन भी सब जगह नहीं होते, एक पद में भी किसी वर्ण को होते हैं, किसी को नहीं । भरहुत कटहरे में **कुबेर** का **कुपिर, विधुर** का **वितुर, मुगपंखिय** का **मुगपकिय, ऐरावत** का **एरापतो,** अमरावती के लेख में **भगवत** का **भगपत,** जातक में **मघादेव** का **मखादेव,** मिलता है । मूलर के पाली व्याकरण में **लाव = लाप, पजापती = प्रजावती, पलाप = पलाव, छाप = साव, सपदान = सवदान, सुपाण = सुवान,** (श्वान), **धोपन = धोवन,** इतने उदाहरण दिए हैं । ये **अज** के **अचो** और **सर्व** के **सप** हो जाने के प्रमाण हो चुके ।

अच यदि राजा का नाम है, चाहे उसे अचो, अचे या अच पढ़ें, वह पुराणों का अज ही है । नाम अच था, उसका संस्कृत रूप अज हुआ तो इसमें क्या हानि है ? पुराणों के और और नाम सिक्कों तथा शिलालेखों से सत्य प्रमाणित हो गए हैं, तब एक अज नाम को ही केवल कथामात्र क्यों मानें ?

पुराणों में वर्तनंदि नाम का कोई राजा नहीं, इस प्रश्न को फिर से विचार लेना चाहिए । नंदिवर्धन नाम तो पुराणों में है ही । बुद्ध और महावीर के समकालिक दो राजवंश—उज्जयिनी (अवंती) और मगध के—थे । बौद्ध और जैन अपनी धार्मिक इतिहास की बातों का समय इन्हीं दो वंशों के राजाओं के राज्यवर्षों में देते हैं । अवंती की राजसूची में प्रद्योत, बुद्ध और बिंबिसार का समकालीन था । उससे लेकर अज या अजक और नंदिवर्धन तक १३८ या १२८ वर्ष होते हैं । इधर मगध में बिंबिसार से लेकर उदयिन तक १११ वर्ष और उसके उत्तराधिकारी नंदिवर्धन आजेय तक १५१ वर्ष होते हैं । ये दोनों नंदिवर्धन एक काल के हुए, अर्थात् मगध के शिशुनाक नंदिवर्धन आजेय और अवंती के अज के पुत्र नंदिवर्धन के काल में अवंती के

वंश का अंत हुआ । अवंती के नंदिवर्धन को मत्स्यपुराण की एक पुरानी पोथी में शिशुनाक कहा है* । अतएव अवंती का अजक शिशुनाक का पुत्र शिशुनाक नंदिवर्धन और मगध का प्रसिद्ध शिशुनाक आजेय नंदिवर्धन समकालिक ही नहीं, एक ही व्यक्ति हुए ।

जैनों के आख्यान से भी यही बात सिद्ध होती है, यथा—

पुराणों के अनुसार		जैन उपाख्यानों के मत से ।
प्रद्योत		
पालक २४ वर्ष	७४ वर्ष	पालक ६० वर्ष
विशाखयूप ५० वर्ष		
अज		मगध के नंद
नंदिवर्धन		

जैन आख्यानों के अनुसार पालक के पीछे ६० वर्ष बीतने पर मगध के नंदों का अवंती में राज्य हुआ । पुराणों में पालक को प्रद्योत का पुत्र कहा है और वहां पालक और अज के बीच में विशाखयूप नामक राजा देकर पालक और विशाखयूप के ७४ वर्ष गिने हैं । पुराणों में मगध वंशावली में प्रद्योतवंश को मिला सा दिया है, अर्थात् शिशुनाकों और प्रद्योतों को साथ ही साथ लिया है । वायुपुराण की एक पुरानी अतिप्रामाणिक पोथी में अवंती की वंशावली अजक पर समाप्त कर दी है और आगे कहा है—

हत्वा तेषां यशः कृत्स्नं शिशुनाको भविष्यति ।

अवंती की वंशावली का अंत कई पोथियों में अजक शिशुनाक पर और कई पोथियों में उसके पुत्र नंदिवर्धन शिशुनाक पर किया है । कई पाठांतरों में अवंती के राजा अजक के पुत्र को वर्तिवर्धन कहा है, वर्धि या कीर्ति पाठदोष है । अतएव मगध तथा अवंती की सूचियों में वर्तिवर्धन और नंदिवर्धन शिशुनाक एक ही नाम हैं ।

---

* एकविंशत् समा राज्यमजकस्य (या सूर्यकस्तु) भविष्यति ।
शिशुनाकः नृपस्त्रिंशत् तत्सुतो नंदिवर्धनः ॥

इसे नंदिवर्धन, नंदवर्धन, और कोरा नंद भी कहा है। वर्धन तो केवल उपाधि है। नाम नंदि या वर्ति हुआ। यदि ये दोनों नाम साथ ही मिल जाँय तो असंभव क्यों है। पुराणों में सिमुक नाम मिलता है, साथ में सातवाहन पद नहीं। उस राजा की मूर्ति पर 'सिमुक सातवाहनो' मिलता है तो क्या यह मानें कि यह राजा पौराणिक आंध्र राजाओं की वंशावली का प्रथम राजा नहीं है? पुराणों में अशोक या अशोकवर्धन मिलता है। सिंहल के इतिहासों में प्रियदर्शन नाम दिया है। लेखों में कहीं अशोक है, कहीं प्रियदर्शी। अब यदि कहीं अशोक प्रियदर्शी मिल जाय तो क्या यह कहें कि यह कोई भिन्न राजा है?

अवंती की सूची में अज या अजक का नाम उपलब्ध होना और उनमें से एक का शिशुनाक लिखा मिलना हमारे साध्य को सिद्ध करने के लिये बहुत है। इधर सब पुराणों में मगध की सूची में, अर्थात् शिशुनाकों की सूची मे, नंदिवर्धन उदयिन के पीछे है। केवल भागवत में उदयिन को अजय और नंदिवर्धन को आजेय कहा है। आजेय अपत्यवाचक तद्धित रूप है, वह अज से बनता है, अतएव भागवत में अजय अशुद्ध पाठ है, अज या अजक चाहिए। इंडियन एंटिक्वेरी में जिस लेखक ने अजय और अजेय का अर्थ 'न जीतने योग्य' समझ कर उससे तद्धित आजेय बनाया है क्या वह यह नहीं जानता कि तद्धित प्रत्यय नामों में लगते हैं, विशेषणों में नहीं? शिशुनाक सूची में आजेय और अवंती की वंशावली में अज या अजक मिलने से उदयिन का दूसरा नाम अज या अजक सिद्ध होता है, अजय नहीं।

'छनीवीके' पाठ का कोई अर्थ नहीं। 'अचछ' का अर्थ अक्षय करना हास्यास्पद है। छ के साथ ओ की मात्रा स्पष्ट है। खते की जगह खतो पढ़ें तो भी अर्थ में भेद नहीं होता। सप को य मानना या यखत पढ़ना भी अनर्थक है।

अक्षरों के नए पुराने होने के विषय में बूलर का सिद्धांत प्रामा-

खिक नहीं। बूलर ने लिखा है कि भट्टिप्रोलु का च और स ब्राह्मी के द्राविड़ उपविभाग का है, वह अशोक के लेख तथा एरण के सिक्के से पुराना है। वही च और वही स हमारे इन लेखों में है। बूलर कहता है कि ईसवी पूर्व पाँचवीं शताब्दी में द्राविड़ी लिपि ब्राह्मी से पृथक् हो गई। ये मूर्तियां पटने में मिली हैं, द्राविड़ देश में नहीं, उनपर उन अक्षरों का होना क्या यह सिद्ध नहीं करता कि ये लेख उस समय के हैं जिस समय ब्राह्मी और द्राविड़ी पृथक् न हुई थीं? हैदराबाद में कुछ समाधियों में मट्टी के बरतन मिले हैं। उन पर कई अक्षर हैं जिनमें से कुछ पुराने ब्राह्मी अक्षर माने गए हैं। ये समाधियां बहुत पुरानी हैं; उनके शिला के ढाकन हाथ लगाने झरते हैं और बरतनों को अँगुली से छेद सकते हैं। उनके अक्षरों में हमारे ख और भ की आकृतियाँ मिलती हैं। समाधियों की प्राचीनता में किसी को संदेह नहीं। चाहे हमारे भ को शेमेटिक ब से मिलाइए (जैसे कि बूलर ने ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति शेमेटिक से मानी है) चाहे समाधि-वाले से, वह अशोक काल से बहुत पुराना है।

यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है कि अशोक के समय के पहले अशोकलिपि से भिन्न लिपियां प्रचलित थीं। ईरानी सिग्लोई नाम सिक्के पर्शिया के अखमानी वंश के हैं। ईरानी राज्य को सिकंदर ने ई० पू० ३३१ में नष्ट किया और हिंदुस्तान के सीमाप्रांत पर अखमानियों का राज्य दारा दूसरे के समय में, ई० पू० ४०० के लगभग, छूट गया। ये सिक्के उस समय के हैं। यदि बूलर के नए पुराने अक्षरों के सिद्धांत को मानें तो ये सिक्के अशोक से कई शताब्दी पीछे के होने चाहिएँ, और ये हैं अशोक से कम से कम सौ वर्ष पहले के। बूलर को बरबस मानना पड़ा है कि अखमानी समय में मौर्य लिपि के अधिक प्रौढ़ रूप प्रचलित थे। अशोक के लेखों में भी कई अक्षर ऐसे मिल जाते हैं जो बूलर के मत से (कि ब्राह्मी लिपि ईसवी पूर्व ८०० से ५०० के बीच की किसी प्रचलित और विज्ञात शेमेटिक लिपि से निकली) कुशन, मथुरा, आंध्र, या आभीर-काल के, अर्थात्

कई शताब्दी पीछे के, होने चाहिएँ। इतनी विभिन्न आकृतियों के मिलने से बूलर ने माना है कि अशोक के समय में कई वर्णमालाएँ काम में आती थीं, कुछ अधिक प्राचीन अर्थात् भद्दी और कुछ अधिक प्रौढ़। धौली के षष्ठ अभिलेख में 'सेतो' ये दो अक्षर जो श्वेत हस्ति की मूर्ति के नीचे खुदे हुए हैं गुप्त या कुशनकाल के हैं। वे किसी ने पीछे से न खोदे हों तो यही निश्चय है कि खोदने और लिखने-वाले जमे हुए तथा घसीट दोनों प्रकार के अक्षरों को मिला देते थे। पहले ६०० वर्षों के ब्राह्मी और द्राविड़ी अक्षर पत्थर, ताम्रपत्र, सिक्के और मुहरों से ही विदित हुए हैं। ईसवी पूर्व दूसरी या तीसरी शताब्दी का स्याही का एक ही लेख मिला है। यह सर्वविदित है कि व्यवहार में नए चलन के अक्षर आते हैं, चिर काल के लिये स्थापित अभिलेखों में पुराने रूप जमा जमा कर लिखे जाते हैं। इसलिये अशोक लेखों के अक्षरों से यह नहीं जाना जा सकता कि उस समय व्यवहार में अधिक परिमार्जित रूप न थे क्योंकि उसके पहले के ईरानी सिक्कों में वैसे रूप हैं जिन्हें बूलर के भरोसे कुशनकाल का कहना चाहिए। अतएव राजाओं की मृत्यु के पीछे देवकुल में स्थापित मूर्तियों पर, जो शिल्प तथा पालिश से पुरानी सिद्ध हो चुकी हैं, कुछ नए अक्षर मिल जाँय तो उनकी प्राचीनता का व्याघात नहीं होता, जब कि दूसरे अक्षरों की प्राचीनता निर्विवाद है। शेमेटिक लिपि से यथारुचि बिना किसी सिद्धांत के मोड़ तोड़ कर या उलट कर ब्राह्मी लिपि बनाई गई है, बूलर के इस सिद्धांत को कई लोगों ने नहीं माना है। उसे कौशलपूर्ण किंतु विश्वास न उपजानेवाला कहा है। पिप-रावा पात्र आदि के प्रमाण, बूलर के 'नए' अक्षरों का भी अशोक के पहले प्रयोग में आते रहना सिद्ध करते हैं और उसके सिद्धांत को हिला देते हैं*।

---

* ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के विषय में बूलर के सिद्धांत का खंडन राय-बहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने अपनी भारतीय प्राचीनलिपिमाला के उपक्रम में बड़े विस्तार से किया है।

(११) शैशुनाक लेख।

मिलान करने के लिये भिन्न भिन्न अक्षर।

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग।

द्राविड़ी ब्राह्मी तथा पूर्वी पश्चिमी ब्राह्मी दोनों के लक्षण इन लेखों के अक्षरों में मिलते हैं, कोई भी ऐसा अक्षर नहीं जो नया कहा जा सके, क्योंकि नए अक्षरों का सिद्धांत ही अप्रमाण है, इसलिये इन अक्षरों का अशोक से दो शताब्दी पूर्व का होना कुछ भी असंभव नहीं।

उसी संख्या में इन्हीं मूर्तियों के विषय में

महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री

का लेख भी प्रकाशित हुआ है। इस लेख की कई बातें ऊपर यथा-स्थान आ गई हैं। तीन प्रधान बातों का यहाँ उल्लेख किया जाता है। वे प्रायः सभी बातों में जायसवाल महाशय से सहमत हैं।

(१) यदि ये मूर्तियाँ कुशन समय की हों तो उस समय मगध पर आंध्रों का अधिकार था। आंध्र ठिंगने मोटे पेट और चौकोर मुँह के थे। ये मूर्तियाँ लंबे, बलिष्ठ और गोल मुख के उत्तरीय मनुष्यों की हैं।

(२) इन लेखों की भाषा, व्याकरण, वर्णशैली आदि के विचार की कोई आवश्यकता नहीं। ये राजकीय लेख तो हैं नहीं कि राजाज्ञा से शुद्ध प्राकृत में लिखे गए हों। ऐसा होता तो लेख सामने होते। ये लेख मूर्ति खोदनेवाले ने अपनी समझौती के लिये मूर्तियों की पीठ पर लिख लिए हैं। पत्थर को आधा गढ़ कर उसने अपनी ओर से नाम खोद लिए जिससे कारखाने में गड़बड़ न हो जाय। पीछे वस्त्र की सलवट बनाते समय अक्षरों को बचा कर बारीक काम कर दिया। भगवान, क्षोणि + अधीश, सर्वक्षत्रपति, पद भी उसने इसीलिये लिख लिए हैं कि मूर्ति में आकार, वस्त्र, प्रभाव आदि के क्या क्या भाव लेने चाहिएँ। साधारण शिक्षित शिल्पी के सांकेतिक चिह्नों के विषय में मागधी, अर्धमागधी, व्याकरण आदि का विचार क्या?

(३) आर्यों का पुराना वेश क्या था तथा इन मूर्तियों का वेश क्या है इसका विचार करना चाहिए। आश्वलायन गृह्यसूत्र में ब्रह्मचर्य में विद्याभ्यास समाप्त करके गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होनेवाले स्नातक का

यह वेश लिखा है—उत्तरीय (चादर या दुपट्टा), अंतरीय (धोती)—ये दोनों वाससी या दो वस्त्र कहे जाते हैं—उपानह (जूता), छाता, उष्णीष (पगड़ी), कर्णकुंडल, निष्क (गले में सोने का चांद)। दूसरे गृह्यसूत्रों में भी जहां समावर्तन का प्रकरण है वहां स्नातक के लिये ऐसे या इससे मिलते हुए वस्त्रों का विधान लिखा है। कात्यायन श्रौत सूत्र में व्रात्यस्तोम के प्रकरण (२२ वें अध्याय) में व्रात्यों के वेश का वर्णन है। महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने उसमें से कुछ बातें गिना कर बतलाया है कि यह वेश इन मूर्तियों के वेश से कई बातों में मिलता है और यह सिद्ध किया है कि वर्न नंदि या वट नंदि वास्तव में व्रात्य नंदि हैं।

व्रात्य* सावित्री (गायत्री) से पतित ब्राह्मण और क्षत्रियों को कहते

* कात्यायन श्रौतसूत्र के प्रस्तुत प्रकरण में 'व्रात्यधन' अर्थात् व्रात्य की वेश-सामग्री में कुछ वस्तुओं को गिना गया है। व्रात्य इन्हें काम में लाते थे। व्रात्य-धनों को गिना कर लिखा गया है कि (व्रात्यस्तोम यज्ञ के अंत में) दक्षिणा-दान-काल में ये व्रात्यधन मागधदेशीय ब्रह्मबंधु को दे दिए जायं (२२) अथवा उन लोगों को दे दिए जांय जो व्रात्य आचरण से अभी विरत न हुए हों (२३), अर्थात् व्रात्य इस व्रात्यस्तोम से शुद्ध होकर व्रात्यभाव से रहित हो जाते (२७), और व्यवहार योग्य-विवाह याजन और भोजन के योग्य हो जाते हैं (२८)। इसलिये अपना पुराना पापमय जीवन का चिह्न उन्हींको दे देते हैं जो उनकी पहली दशा के अनुयायी हैं। क्षत्रिय तो दक्षिणा लेने का अधिकारी नहीं है, इसलिये व्रात्य क्षत्रबंधु भी अपना धन मागधदेशीय ब्रह्मबंधु को दे देता है (२२), क्योंकि वह वर्ण में उसके समान न होकर भी व्रात्यपन में तो सदृश है, अथवा अपने सदृश-व्राह्मण व्रात्यों को दे देता है (२३), क्योंकि श्रुति का प्रमाण दिया है कि उन्होंने (अर्थात् अपने सदृश लोगों में अपने पिछले पाप को) धो देते हुए (शुद्धता को) प्राप्त होते हैं (२४)। व्रात्यधन ये हैं—(१) तिर्यङ्नद्धमुष्णीषं टेढ़ी बँधी हुई पगड़ी (२) प्रतोद—लोहे की नोक की आर, जैसी बैल हांकनेवाले रखते हैं (३) ज्याहोडोऽयोग्यं धनु—बिना पणच का बेकार धनुष जो ज्याहोड नाम से ही प्रसिद्ध था (४) वासः कृष्णशं कद्रु—काले सूत से बुना हुआ कबरे रंग का या काली किनार का कपड़ा (धोती—एक ही वस्त्र, दुपट्टा या उत्तरीय नहीं) (५) रथ जो मार्ग कुमार्ग में जा सके जिसमें लकड़ी के पट्टे बिछे हों तथा जिसमें कुछ आचार्यों के मत से कांपते हुए दो घोड़े या खच्चर जुते हों (६) निष्को राजतः—चांदी का गले का चांद (७)

हैं। जो नाम भर के ब्राह्मण या क्षत्रिय, ब्रह्मबंधु और क्षत्रबंधु या राजन्यबंधु, पीढ़ियों से वैदिक संस्कारों से रहित थे उनकी शुद्धि व्रात्यस्तोम से की जाती थी और फिर वे व्यवहार के योग्य हो जाते थे। कात्यायन के अनुसार मगधदेशीय ब्राह्मणबंधु को शुद्धि व्रात्य की वेश सामग्री दी जाती थी। पुराणों में मगध के शैशुनाक राजाओं को क्षत्रबंधु अर्थात् घटिया, नाम मात्र के, क्षत्रिय कहा है। व्रात्य संस्कारयुक्त द्विजों से हीन तो थे, किंतु गर्हित न थे। वे शुद्ध करके वर्णधर्म में आ जाते थे। अथर्ववेद में व्रात्यों की प्रशंसा में एक कांड का कांड गद्य में है। संभव है कि शिशुनाक काल में अथर्व को वेदों में न गिना जाता हो, क्योंकि मौर्यकाल में भी कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में तीन ही वेद गिने हैं और आगे 'अथर्ववेदोऽपि वेदः' 'इतिहासवेदोऽपि वेदः' कह कर अथर्व और इतिहास को समान कोटि का कहा है।

व्रात्य भी आर्य थे। उनकी भाषा प्राकृत थी, संस्कृत नहीं। उनमें

भेड़ की दो खालें जिन के दोनों पार्श्वों में किनारे हों और जो काले और सफेद रंग की हों। ये खालें उस व्रात्य की होती हैं जो सब से नृशंस (निंद्य अथवा प्रसिद्ध) या सबसे धनवान या सबसे विद्वान हो। वह व्रात्यस्तोम में गृहपति बनाया जाता है। दूसरे व्रात्यों के केवल एक ही खाल होती है और रस्सी के से मोटे किनारेवाली, काली या लाल पाड़ की, दो छोर की धोती होती है। (८) दामनी है—दो रस्से (कमर या पेट को बांधने के) (९) दो जूते जिनके चमड़े के कान (चोंच, जैसी पंजाबी जूतों में होती है) हों (का० श्रौ० सू० अ० २२ कंडिका ४, सूत्र—२१। ऊपर भी सूत्रों के अंक हैं।) पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने कर्णिन्यौ का अर्थ कर्णभूषण समझा है किंतु वह जूते का विशेषण है। इन आलंबन में से एक मूर्ति के सिर नहीं, एक के नंगा है इसलिये (१) का पता नहीं। पैर नंगे हैं इससे (९) का पता नहीं। हाथ टूटे हैं इसलिये (२) (३) का निश्चय नहीं। प्रतिमा में (५) कैसे दिखाया जा सकता है? किनारेवाला एक कपड़ा (४), दो कमरबंद (८), और गले में निष्क (६) मिलते हैं। दुपट्टा शायद मेषछाला (७) की जगह हो। दुपट्टे और धोती की सलवटें संभव है कि दशाएँ (किनारे) हों। पाड़ भी स्पष्ट है। दामन् दोनों कमर में बंधे ही हैं। पहले मेषछाला होती हो, राजा की मूर्ति में उसकी जगह रेशमी दुपट्टा होगया हो।

वैदिक आचार व्यवहार न था। उनमें से कुछ वैदिक संप्रदाय में आ जाते थे। उनकी शुद्धि के लिये सूत्रों में व्रात्यस्तोम आदि का विधान है। उनके दंडविधान में ब्राह्मण अदंड्य न थे। वे अर्हतों को ब्राह्मणों की तरह मानते थे। शैशुनाक भी अर्हत के उपासक (बौद्ध या जैन) थे। मनुस्मृति में लिच्छिवियों को व्रात्य कहा है। बुद्ध ने लिच्छिवियों के अर्हतों के धातुस्तूपों का उल्लेख किया है। शैशुनाक अाजातशत्रु ने अरहत (बुद्ध) के शरीर-धातुओं पर अपना अधिकार बतलाया था। इन सब बातों से शैशुनाकों का व्रात्य होना, जैन और बौद्ध धर्म की ओर उनका अधिक झुकाव होना तथा पुराणों में उन्हें क्षत्रबंधु कहना संगत हो जाता है। कात्यायन श्रौत सूत्र में उन्हीं के वेश का उल्लेख है। कात्यायन के समय का निश्चय नहीं। राजशेखर ने लिखा है कि वैयाकरण पाणिनि और कात्यायन का पाटलिपुत्र में परीक्षित होकर सम्मान हुआ था। यह कात्यायन उसी समय का होगा।

इन मूर्तियों का वेश व्रात्यों के वेश से बहुत कुछ मिलता हुआ होने से वटनंदि या वर्तनंदि या वर्तिनंदि नाम को व्रात्यनंदि क्यों न मानें? मूर्तिकार ने अपनी समझौती के लिये नंदि के पहले वट (= व्रात्य) पद लिख लिया हो जिससे गढ़ने में क्या क्या वेश दिखाना है यह स्मरण रहे। तथा 'व्रात्यनंदि' नाम ही प्रसिद्ध हो कर पुराणों में वर्तिवर्धन बन गया हो।

(४) पिपरावा पात्र के अक्षरों में भी मात्राएँ बहुत लंबी हैं, इन लेखों में भी हैं। फिनीशियन अक्षरों तथा मोआब के पत्थर के अक्षरों से भी इन मूर्तियों के अक्षरों की बड़ी समानता है। यदि ब्राह्मी अ फिनीशियन अलिफ से बना मानें, तो फिनिशियन अलिफ बकरे की मूर्ति के दो सींगों के आकार का है। इस अ के भी सींग देख लीजिए। ब बेय से बना है तो बेय खुले मुँह का चौकोर संदूक सा था। इस जगह भी सबखतो का ब देख लीजिए।

उपसंहार।

इस लेख का लेखक तथा रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा इन मूर्तियों तथा उन पर के लेखों के विषय में जायसवाल महाशय के मत से सहमत हैं। जो जो विरोधपक्ष की कोटियाँ हैं वे बहुधा आग्रह तथा प्राचीनवाद को लेकर उठाई गई हैं। इस लेख में बहुत तथा बड़े बड़े लेखों का सार दिया गया है तथा स्थान स्थान पर अपनी ओर से विस्तार भी कर दिया गया है क्योंकि ऐसी बातों का विवेचन हिंदी पढ़नेवालों के लिये संक्षेप में लिखना असंभव था। कई जगह इस लेख में तथा देवकुल के लेख में अपनी ओर से कुछ नई बातें भी जोड़ दी गई हैं। विद्वानों तथा लेखकों के नामों का एक देश और एक वचन से व्यवहार भी जो कहीं कहीं हो गया है, क्षंतव्य है।

चित्रपरिचय।

श्रीयुत जायसवाल महाशय की कृपा से हम इस लेख के साथ कई चित्र दे रहे हैं। उनका वर्णन इस प्रकार है।

पहला चित्र—

दीदारगंज की मूर्ति।

दूसरा और तीसरा चित्र—

मूर्तियों पर के लेख। अक्षर उभरे हुए तथा उलटे आए हैं। सलवटों की रेखाएँ तथा उनसे अक्षरों का संबंध स्पष्ट दिखाई देता है। चित्र मूर्तियों के प्रकृत अंश की आधी नाप का है। ऊपर का लेख अजउदयिन् की मूर्ति पर है, नीचे का वर्तनंदि की प्रतिमा पर।

चौथा और पाँचवाँ चित्र—

अज-उदयिन् और वर्तनंदि की प्रतिमाएँ। एक ओर से फोटो, नीचे के पीठ कलकत्ते के इंडियन म्यूज़ियम के हैं।

छठाँ चित्र—

अज उदयिन की मूर्ति, सामने से। फुँदे और पैर पलस्तर से पीछे से बनाए गए हैं।

सातवाँ चित्र—

वर्तनंदि की मूर्ति, पीछे से। अधोवस्त्र की सलवटें, दुपट्टे की चुनावट और निष्क के फुंदे दिखाई दे रहे हैं। कंधे पर दुपट्टे के सिरे पर लेख के अक्षर दिखाई दे रहे हैं।

आठवाँ चित्र—

कागज के छापों से लेखों के असली आकार की नकल। बिहार-उड़ीसा के पूर्वी हलके के सुपरिंटेंडिंग इंजिनियर मिस्टर विष्णुस्वरूप की बनाई हुई। अक्षरों के नीचे अंक दिए हैं।

पहला लेख—	(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)
	स	गे	अ	चो	लो	नो	भी	गे
दूसरा लेख—	(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)
	स	व	ख	ते	व	ट	नं	दि

नवाँ चित्र—

महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री की मूर्तियों को देख देख कर बनाई हुई लेखों की नकल। अंक वही क्रम से दिए हैं। बिंदुवाली रेखा पत्थर की दर्ज है।

दसवाँ चित्र—

देख देख कर मिस्टर थॉन की बनाई हुई संदिग्ध अक्षरों की नकल। प्रथम लेख में से (४) चो (५) लो। द्वितीय लेख में से (१) स (या प) (२) व (५) (३) ख।

ग्यारहवाँ चित्र—

मिलान के लिये भिन्न भिन्न अक्षर।

पहली पंक्ति—(१) मूर्ति के लेख का
'व' (२) बूलर के मत में सब से पुराना

(३) मथुरा का
(४) हाथी गुंफा का
दूसरी पंक्ति—(५) मूर्ति के लेख का ध (ई की मात्रा छोड़कर)
ध 'धी' (६) भट्टिप्रोलु का
(७) कालसी का
(८) गिरनार का
(९) नानाघाट का
(१०) कोल्हापुर का
(११) नासिक का।
अगले दो रूप फिनीशियन के हैं।
तीसरी पंक्ति—(१२), (१३), मूर्ति के लेख का
स (ष) (१४) कालसी का ष
(१५) दशरथ का प
(१६) घसूंडी का ष
(१७) दिल्ली का स।
चौथी पंक्ति—(१८) मूर्ति का श (ए की मात्रा छोड़ कर)
श (१९) भट्टिप्रोलु का श या ष
(२०) कालसी का श
(२१) मामूली ब्राह्मी श
(२२) कालसी का श
(२३) (२४) हैदराबाद समाधियों का
(२५) (२६) उसी अक्षर का विकास
पाँचवीं पंक्ति—(२७) मूर्ति का
म (२८) हैदराबाद की समाधि का
(२९) सेबियन लिपि का
(३०) (३१) कालसी का
(३२) भट्टिप्रोलु का
(३३), (३४) उसी का विकास

छठीं पंक्ति—(३५) गिरनार का

न (३६) गिरनार का

सातवीं पंक्ति—(१) मूर्ति का अच

अच (२) भट्टिप्रोलु का च

(३), (४) वहीं के च के दूसरे रूप

आठवीं पंक्ति—

अ (१) गिरनार का

(२), (३) दिल्ली के

(४) (५) सिद्धापुर के

(६) से (१३) डाक्टर बार्नेट के बताए हुए नमूने

४—गोस्वामी तुलसीदासजी की विनयावली।

[लेखक—बाबू श्यामसुंदरदास बी० ए०, लखनऊ।]

गोस्वामी तुलसीदासजी हिंदी के सब से प्रसिद्ध और आदरणीय कवि हैं। इनकी कविता का सबसे अधिक प्रचार है और इसका प्रभाव भी हिंदू-जनता के चरित्र पर बहुत पड़ा है। गोस्वामी जी के ६ बड़े और ६ छोटे ग्रंथ प्रसिद्ध हैं, यद्यपि इनके अतिरिक्त और भी ग्रंथों का पता चलता है जो इनके बनाए हुए कहे जाते हैं। जब से हिंदी पुस्तकों की खोज का काम प्रारंभ हुआ है तीन हस्त-लिखित प्रतियाँ तुलसीदास के ग्रंथों की मिली हैं जो निर्विवाद उनके जीवन-काल की लिखी हैं। इनमें से एक तो रामचरितमानस का अयोध्याकांड है जो राजापुर जि० बाँदा में रक्षित है। इसमें कोई सन् संवत् नहीं दिया है पर यह प्रति तुलसीदासजी के हाथ की लिखी कही जाती है। यद्यपि स्वयं इस प्रति से कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिलता जिससे हम इसे उनकी हस्तलिखित मान सकें, परंतु उसके अक्षर तुलसीदास जी के अक्षरों से मिलते हैं और जो कथा इसके संबंध में कही जाती है वह प्रामाणिक है। दूसरी प्राचीन प्रति रामचरितमानस के बाल-कांड की है जो संवत् १६६१ की लिखी है। यह अयोध्या में रक्षित है। इसके विषय में यह कहा जाता है कि इसे तुलसीदासजी ने अपने हाथों से संशोधित किया था। इसमें बीच बीच में हरताल लगा कर संशोधन किया है। इन दोनों प्रतियों के दो दो पृष्ठों का फोटो चित्र मैं "हस्त लिखित हिंदी पुस्तकों की खोज" शीर्षक लेख[1] में दूँगा और उसी में अपने विचार प्रगट करूँगा। तीसरी प्राचीन प्रति जिसका पता चला है वह "विनयपत्रिका" की है। यह

(१) यह लेख इस पत्रिका की अगली संख्या में प्रकाशित होगा।

संवत् १६६६ अर्थात् रामचरितमानस के बालकांड की अयोध्या वाली प्रति के पाँच वर्ष पीछे की लिखी है। दुःख का विषय है कि यह प्रति कई स्थानों पर खंडित है। तिस पर भी यह बड़े महत्त्व की है। इससे कई नई बातों का पता चलता है। एक तो इस ग्रंथ का नाम "विनयपत्रिका" न देकर "विनयावली" दिया है। जिस प्रकार "रामचरितमानस" सर्वसाधारण में "रामायण" नाम से प्रसिद्ध है उसी प्रकार "विनयावली" "विनयपत्रिका" नाम से प्रसिद्ध है। मैंने किसी पुस्तक में तथा किसी लेखक या कवि के मुँह से इस पुस्तक का "विनयावली" नाम अब तक नहीं सुना है। दूसरे अब तक जितनी प्रतियाँ इसकी मिली हैं सब तुलसीदासजी की मृत्यु के पीछे की लिखी हैं। तुलसीदासजी की मृत्यु संवत् १६८० में हुई और यह प्रति १६६६ अर्थात् उनकी मृत्यु के १४ वर्ष पहले की लिखी है। तीसरी बात महत्त्व की यह है कि इसमें केवल १७६ पद हैं जब कि और और प्रतियों में २८० पद तक मिलते हैं। यह कहना कठिन है कि शेष १०४ पदों में से कितने वास्तव में तुलसीदास जी के बनाए हैं और कितने अन्य लोगों ने अपनी ओर से जोड़ दिए हैं। जो कुछ हो इसमें संदेह नहीं कि इन १०४ पदों में से जितने पद तुलसीदासजी के स्वयं बनाए हुए हैं वे सब संवत् १६६६ और संवत् १६८० के बीच में बने होंगे। चौथी बात विचारने योग्य यह है कि इस प्रति में जो क्रम पदों का दिया है वह दूसरी किसी प्रति से नहीं मिलता।

जिस समय मुझे इस प्रति का पता लगा था उस समय मैंने इसकी प्रतिलिपि करा ली थी और मेरा विचार था कि इसे यथा-समय संपादित करके प्रकाशित करूँ। तुलसीदासजी के ग्रंथों को शुद्ध रूप में प्रकाशित और प्रचारित करनेवाले पंडित शिवलाल पाठक और लाला भागवतदास प्रसिद्ध हैं। उन्होंने "विनयपत्रिका" को जिन रूपों में प्रकाशित किया था उनसे मैंने इस प्रति के पाठ आदि का मिलान उसी समय कराया था और सब पाठभेदादि टिप्पणी

के रूप में लिखवा लिए थे। पीछे मैंने यह प्रति महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी को देखने को दी थी। उन्होंने भी इस पर विचार कर जहाँ तहाँ संशोधन कर दिया था। इतना हो जाने पर यह प्रति अब तक ज्यों की त्यों पड़ी रही। इसके प्रकाशित न होने का मुख्य कारण यह था कि मैं इस आशा में था कि यदि कोई और प्राचीन प्रति इसी क्रम से लिखी हुई मिल जाती तो उसके सहारे से खंडित अंश की पूर्ति हो जाती और तब यह प्रकाशित हो जाती। पर यह आशा अब तक पूरी नहीं हुई। अतएव नीचे मैं एक सारिणी इस प्रति में दिए हुए समस्त पदों को यथाक्रम देता हूँ। साथ में यह भी दिखा दिया गया है कि पंडित शिवलाल पाठक तथा लाला भागवत-दास की प्रतियों में वे पद किस संख्या पर हैं। आशा है कि जिस क्रम में यह प्राप्य है उसे देख कर अन्य महाशय इसकी ओर दत्तचित्त हों और खंडित अंशों की प्रामाणिक पूर्ति कर सकें।

संख्या	पदों का पहला चरण	संवत १६६६ की प्रति में पद की संख्या	शिवलाल पाठक की प्रति में पद की संख्या	भागवतदास की प्रति में पद की संख्या
१	अकारन को हितू और को है।	१४६	२३१	२३०
२	अब लों नसानी अब न नसैहों।	८८	१०६	१०५
३	अस कछु समुझि परत रघुराया।	७१	१२४	१२३
४	आपनो हितु और सों जोपै सूझै।	१६६	२३९	२३८
५	और कहँ ठौर रघुबंस-मनि मेरे।	१४९	२११	२१०
६	और मेरे को है काहि कहिहौं।	१५०	२३२	२३१
७	इहै जानि चरननि्ह चितु लायो।	१६३	२४४	२४३
८	एकु सनेही साँचिलो केवल कोसल-पालु।	१२४	१९२	१९१

संख्या	पदों का पहला चरण	संवत १६६६ की प्रति में पद की संख्या	शिवलाल पाठक की प्रति में पद की संख्या	रामगुलामदास की प्रति में पद की संख्या
९	ऐसी आरती राम रघुबीर की करहि मन।	८२	४८	४६
१०	ऐसी हरि करत दास पर प्रीति।	९०	९९	९८
११	ऐसे राम दीन हितकारी।	११८	१६७	१६६
१२	ऐसेहिं जनम समूह सिराने।	१३८	२३६	२३५
१३	ऐसेहुँ साहिब की सेवा तूँ होत चोरु रे।	३४	७२	७१
१४	कबहुँक अंब औसर पाइ।	१५४	४३	४२
१५	कबहुँ कहौं एहि रहनि रहौंगो।	१०५	१७३	१७२
१६	कबहुँ कृपा करि मोहूँ रघुबीर चितैहौ।	१३२	२७१	२७०
१७	कबहुँ देखाइहौ हरि-चरन।	१४२	२१९	२१८
१८	कबहुँ समय सुधि द्याइबी मेरी मातु जानकी।	१४३	४३	४२
१९	कबहुँ सो कर सरोज रघुनायक धरिहौ नाथ सीस मेरे।	४२	१३९	१३८
२०	करिय संभार कोसल राय।	१७३	—	२२०
२१	कस न करहु करुना हरे दुखहरन मुरारी।	७५	११०	१०९
२२	कस न दीन पर द्रवहु उमावर।	१०	७	७
२३	कहु केहि चहिय कृपानिधे भवजनित बिपति अति।	७४	१११	११०

(२) इसके आगे ६१ से लेकर १०३ पद तक पुस्तक खंडित है। १०३ पद का केवल इतना अंतिम अंश पुस्तक में आया है—"रहौं सब तजि रघुबीर भरोसे तेरे। तुलसिदास यह विपति बागुरा तुम सों बनिहि निबेरे ॥१६३॥

(३) यह पद खंडित है। इसके आगे के ११६ वें पद का केवल इतना अंतिम अंश है—"तुलसी न बिनु मोल बिकाने॥ ११६ ॥" इसके पूर्व का समस्त अंश नहीं है।

संख्या	पदों का पहला चरण	संवत् १६६६ की प्रति में पद की संख्या	शिवलाल पाठक की प्रति में पद की संख्या	भागवतदास की प्रति में पद की संख्या
२४	काजु कहा नर तनु धारि सर्यो।	१२६	२०३	२०२
२५	काहे को फिरत मूढ़ मन धायो।	१२७	२००	१९९
२६	काहे न रसना रामहिं गावहि।	१६५	२३८	२३७
२७	कीजै मोको जग जातना मई।	१०५	१७२	१७१
२८	कृपासिंधु जन दीन दुआरे दादि न पावत काहे।	४२	१४६	१४५
२९	केसव कहि न जाइ का कहिये।	७९	११२	१११
३०	केसव कारन कवन गुसाईं।	६५	११३	११२
३१	खोटो खरो रावरो हौं रावरी सों रावरे सों झूठो क्यों कहोंगो जानो सबहि के मन की।	४७	७६	७५
३२	गरैगी जीह जौं कहौं और को हौं।	१४५	२३०	२२९
३३	गाइये गनपति जगवंदन।	१	१	१
३४	जनमु गयो वादिही बर बीति।	१४३	२३५	२३४
३५	जय जय जग जननि देवि सुर नर मुनि असुर सेवि भगत भूति-दायिनि भय-हरनि कालिका।	२०	१६	१६
३६	जमुना ज्यौं ज्यौं लागी बाढ़न।	२४	२१	२१
३७	जयति अंजना-गर्भ-अंभोधि-संभूत-विधु विबुध-कुल-कैरवानंदकारी।	१४	२५	२५
३८	जयति जय सुरसरी जगदखिल पावनी।	२३	१८	१८
३९	जयति निर्भरानंद संदोह कपि केसरी केसरी-सुअन भुवनैक भर्ता।	१८	२९	२९
४०	जयति भूमिजारमन पद पंकज मकरंद।	१७५	३९	३९
४१	जयति मंगलागार संसारभारापहार			

संख्या	पदों का पहला चरण	संवत् १६६६ की प्रति में पद की संख्या	छिकलाल पाठक की प्रति में पद की संख्या	भागवतदास की प्रति में पद की संख्या
	वानराकार विग्रह पुरारी।	१६	२७	२७
४२	जयति मर्कटाधीश मृगराजविक्रम महादेव मुद मंगलालय कपाली।	१५	२६	२६
४३	जयति वात-संजात विख्यात-विक्रम बृहद्बाहुबल विपुल बालधि बिसाला।	१७	२८	२८
४४	जयति शत्रु करि केसरी सत्रुहन मत्रुसघनतम तुहिनहर किरन केतू।	१७६[४]	४०	४०
४५	जय भगीरथनंदिनि मुनि-चय-चकोर-चंदिनि नर-नाग-विबुध-बंदिनि जय जन्हु बालिका।	२२	१७	१७
४६	जाउँ कहाँ ठौर है कहाँ देव दुखित दीन को।	१४४	२७५	२७४
४७	जाके गति है हनुमान की।	१३	३०	३०
४८	जाके प्रिय न राम बैदेही।	११७	१७५	१७४
४९	जाको हरि दृढ़ करि अंगु कर्यो।	१६२	२४०	२३९
५०	जानकी-जीवन की बलि जैहों।	८७	१०५	१०४
५१	जानकी-जीवन जग-जीवन जगदीस रघुनाथ राजीवलोचन राम।	४९	७८	७७
५२	जानकीस की कृपा जगावति सुजान जीव जागि त्यागि मूढ़ता अनुराग श्रीहरे।	४६	७५	७४
५३	जानत प्रीति रीति रघुराई।	११०	१६५	१६३
५४	जिय जब तें हरि तें बिलगान्यो।	५२	१३७	१३६
५५	जैसे हों तैसो राम रावरो जनु जिनि परिहरियै।	१२८	२७२	२७१
५६	जौं निज मन परिहरै बिकारा।	७२	१२५	१२४

(४) यह संवत १६६६ वाली प्रति का अंतिम पद है।

संख्या	पदों का पहला चरण	संवत् १६६६ की प्रति में पद की संख्या	शिवलाल पाठक की प्रति में पद की संख्या	भागवतदास की प्रति में पद की संख्या
५७	जौं पै कृपा रघुपति कृपालु की बैर और के कहा सरै।	४४	१३८	१३७
५८	जौंपै जिय जानकी नाथ न जाने।	१३९	२३७	२३६
५९	जौंपै दूसरो कोउ होइ।	१३५	२१८	२१७
६०	जौंपै मोहि राम लागते मीठे।	१०७	१७०	१६९
६१	जौंपै रहनि राम सों नाहीं।	११२	—	१७५
६२	ज्यों ज्यों निकट भयो चहौं कृपालु त्यों त्यों दूरि पर्यो हों।	१५९	२६७	२६६
६३	तन सुचि मन रुचि मुख कहों जनु हों सियपी को।	१६८	२६६	२६५
६४	तब तुम्ह मोहूँ से सठनि हठि गति देते।	१५७	२४२	२४१
६५	ताँबे सों पीठि मनहुँ तन पायो।	११६	२०१	२००
६६	ताकिहै तमकि ताकी ओर को।	१२	३१	३१
६७	तुम्ह अपनायो तब जानिहों जब मनु फिरि परिहै।	१३१	२६९	२६८
६८	तुम्ह जनि मन मैलो करो लोचन जनि फेरो।	१४७	२७२	२७२
६९	तुम्ह तजि हों कासों कहों और को हितु मेरे।	१३३	२७४	२७३
७०	तुम्ह सन दीनबंधु न दीन कोउ मो सम सुनहु नृपति रघुराई।	१६४	२४३	२[illegible]२
७१	दानि कहूँ संकर से नाहीं।	४	४	४
७२	दीन-उद्धरन रघुबर्ज करुना-भवन समन संताप पापौघहारी।	६२	६०	५९
७३	दीनदयालु दिवाकर देवा।	१९	२	२

संख्या	पदों का पहला चरण	संवत् १६६६ की प्रति में पद की संख्या	शिवलाल पाठक की प्रति में पद की संख्या	भागवतदास की प्रति में पद की संख्या
७४	दीनदयाल दुरित दारिद दुख दुनी दुसह तिहुँ ताप तई है ।	५०	१४०	१३६
७५	दीनबंधु दूसरो कहँ पावों ।	१५१	२३३	२३२
७६	दुसह दोष दुख दलनि करु देवि दाया ।	२१	१५	१५
७७	देखो देखो बनु बन्यो आजु उमाकंत	४	१५	१४
७८	(देव) दनुज-बन-दहन गुन-गहन-गोविंद नंदादि आनंददाता विनासी ।	४७	५०	४६
७९	(देव) देहि अवलंब कर-कमल कमला-रमन दमन दुख समन संताप भारी ।	६१	५६	५८
८०	(देव) मोह-तम-तरनि हर रुद्र संकर-सरन हरन मम सोक लोकाभिरामं ।	७	१०	१०
८१	(देव) देहि सत-संग निज अंग श्रीरंग भव-भंग-कारन सरन-सोकहारी ।	६०	५८	५७
८२	द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहूँ ।	१४०	२७६	२७५
८३	द्वार हों भोरही को आजु ।	१४१	२२०	२१६
८४	नाथ नीके कै जानवी ठीक जन जीय की ।	१५८	--	२६३
८५	नाथ सों कौन बिनती कहि सुनावों ।	१३७	२०६	२०८
८६	नामु राम रावरोइ हितु मेरे ।	१७४	२२८	२२७
८७	नाहिन आवत और भरोसो ।	१११	१७४	१७३
८८	नौमि नारायनं नरं करुणानयं ध्यान पारायनं ज्ञानमूलं ।	५६	६१	६०
८९	पनु करिहौं हठि आजु तें रामद्वार परो हों ।	१२६	२६८	२६७

संख्या	पदों का पहला चरण	संवत् १६६६ की प्रति में पद की संख्या	शिवलाल पाठक की प्रति में पद की संख्या	भागवतदास की प्रति में पद की संख्या
९०	प्रातकाल रघुबीर-वदन-छबि चितै चतुर चित मेरे।	३६[१]	--	--
९१	बंदौं रघुपति करुना-निधान।	२५	६५	६५
९२	बलि जाउँ और कासों कहौं।	१३०	२२३	२२२
९३	बावरो रावरो नाहु भवानी।	२	५	५
९४	बिरुद गरीब-निवाजु राम को।	८६	१००	९९
९५	बीर महा अवराधियै साधें सिधि होइ।	५५	१०९	१०८
९६	भएहुँ उदास राम मेरे आस रावरी।	१२०	१७९	१७८
९७	भानु-कुल-कमल-रवि कोटि-कंदर्प-छवि काल-कलि-व्यालमिव वैनतेयं।	५९	५१	५०
९८	भरोसो और आइहै उर ताके।	१६९	२२६	२२५
९९	भूरि जार मन पदकंज मकरंद रस रसिक मधुकर भरत भूरि भागी।	१७४	३९	—
१००	मंगल-मूरति मारुत-नंदन।	११	३६	३६
१०१	मन माधौ कों नेकु निहारहि।	८४	८६	८५
१०२	मनोरथ मन को एकै भाँति।	१५८	२३४	२३३
१०३	महाराज रामादरयो धन्य सोई।	५३	१०७	१०६
१०४	माँगिये गिरिजा-पति कासी।	२	६	६
१०५	माधव अब न द्रवहु केहि लेखे।	६४	११४	११३
१०६	माधव मोह-पास क्यों टूटै।	८०	११६	११५
१०७	माधो असि तुम्हारि यह माया।	७७	११७	११६

(१) इस पद का थोड़ा सा अंश दिया है। इसके आगे १ पृष्ठ खंडित हैं जिसमें ३६, ३७, ३८, ३९, और ४० वें पद थे। इनके अनंतर ४१ वां पद प्रारंभ होता है।

संख्या	पदों का पहला चरण	संवत १६६६ की प्रति में पद की संख्या	शिवलाल पाठक की प्रति में पद की संख्या	भागवतदास की प्रति में पद की संख्या
१०८	माधो मोहि समान जग माहीं।	७८	११५	११४
१०९	मेरो कह्यो सुनि पुनि भावै तोहि करि सो।	१६१	२६५	२६३
११०	मेरो भलो कियो राम अपनी भलाई।	३५	७३	७२
१११	मैं केहि कहौं विपति अति भारी।	७६	१२६	१२५
११२	मैं तो अब जान्यो संसार।	१०४	१८९	१८८
११३	मैं हरि साधन करइ न जानी।	७३	१२३	१२२
११४	यों मन कबहुँ तो तुमहिँ न लाग्यो।	१०८	१७१	१७०
११५	रघुनाथ तुम्हारे चरित मनोहर गावहिं सकल अवधवासी।	८१	--	--
११६	रघुपति विपति-दवन।	१४२	२१३	२१२
११७	रघुपति भगति करत कठिनाई।	११५	१६८	१६७
११८	रघुबर रावरी इहै बड़ाई।	११२	१६६	१६५
११९	रघुबरहिं कबहुँ मन लागिहै।	१५६	२२५	२२४
१२०	राधो केहि कारन भय भागै।	११४	--	१७५
१२१	राधो भावति मोहि विपिन की बीथिन्हि धावनि।	१६७	--	--
१२२	राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को।	१४४	२७०	२६९
१२३	राम कहत चलु राम कहत चलु राम कहत चलु भाई रे।	१२२	१९०	१८९
१२४	राम को गुलाम नामु राम बोला राम राख्यो काम इहै नाम द्वै हों कबहुँ कहतु हों।	४८	७७	७६

संख्या	पदों का पहला चरण	संवत् १६६६ की प्रति में पद की संख्या	शिवलाल पाठक की प्रति में पद की संख्या	भागवतदास की प्रति में पद की संख्या
१२५	रामचंद्र करकंज कामतरु वामदेव हित-कारी।	२७	—	—
१२६	रामचरन अभिराम कामप्रद तीरथराज विराजै।	२६	—	—
१२७	राम जपु राम जपु राम जपु बावरे।	३३	६७	६६
१२८	रामनाम अनुरागहीं जिय जो रति आतो।	४१	—	—
१२९	राम राम जपि जीय सदा सानुराग रे।	२९	६८	६७
१३०	राम राम रमु राम राम रटु राम राम जपु जीहा।	३२	६६	६५
१३१	राम राम राम जीय जौलौं तूँ न जपिहै।	३०	६९	६८
१३२	राम रावरो नामु मेरो मातु पितु है।	१२१	२५५	२५४
१३३	राम रावरो नामु साधु सुरतरु है।	१७०[१]	२५६	२५५
१३४	रामसनेही सों तैं न सनेहु कियो।	५१	१३६	१३५
१३५	लाज लागति दास कहावत।	१०६	१८६	१८५
१३६	लाभु कहा मानुष तनु पाये।	१२५	२०२	२०१
१३७	सकल सुखकंद आनंद वन पुन्यकृत विंदु-माधव द्वंद्व विपतिहारी।	६३	६२	६१
१३८	सकुचत हौं अति राम कृपानिधि क्यों करि विनय सुनावौं।	४५	१४३	१४२
१३९	सदा संकरं संप्रदं सज्जनानंददं सैलकन्या वरं परम रम्यं।	८	१२	१२
१४०	सदा राम जपु राम जपु मूढ़ मन वार वारं।	५८	४७	४६

(१) इसके आगे का १७१, १७२ और १७३ वाँ पद नहीं है।

संख्या	पदों का पहला चरण	संवत् १६६६ की प्रति में पद की संख्या	शिवलाल पाठक की प्रति में पद की संख्या	भागवतदास की प्रति में पद की संख्या
१४१	सहज सनेही राम सों तैं कियो न सहज सनेहु।	१३३	१६१	१६०
१४२	सिव सिव होइ प्रसन्न करि दाया।	६		
१४३	सुनत सीतपति सील सुभाउ।	८५	१०१	१००
१४४	सुनि मन मूढ़ सिखावनु मेरो।	८६	८८	८७
१४५	सुमिरि सनेह सों तूं नाम राम राय को।	३१	७०	६६
१४६	सेइय सहित सनेह देह भरि कामधेनु कलिकासी।	२८	२२	२२
१४७	सेवहु शिव-चरन-सरोज-रेनु।	६	१३	१३
१४८	सोइ सुकृती सुचि साँचो जाहि तुम्ह रीझे।	१६०	२४१	२४०
१४९	हरि तजि और भजिये काहि।	१३४	२१७	२१६
१५०	हरति सब आरति आरती राम की।	८३	४६	४७
१५१	हैं हरि कवन दोष तोहि दीजै।	६६	११८	११७
१५२	हैं हरि कस न हरहु भ्रम भारी।	६६	१२१	१२०
१५३	हैं हरि कौने जतन सुख मानहु।	६७	११९	११८
१५४	हैं हरि यह भ्रम की अधिकाई।	७०	१२२	१२१
१५५	हैं नीको मेरो देवता कोसलपति राम।	५४	१०८	१०७
१५६	है प्रभु मेरोई सब दोसु।	१३६	१६०	१५९
१५७	है हरि कवनि जतन भ्रम भागै।	६८	१२०	११९

इस सारिणी से स्पष्ट है कि इस संग्रह में १७६ पद हैं जिनमें निम्नलिखित पदों के पृष्ठ खंडित हैं—३ ३७, ३८, ३९, ४०, ९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९, १००, १०१, १०२, १०३, १७१, १७२ और १७३।

५—देवकुल।

[लेखक—पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बी० ए०, अजमेर ।]

हर्षचरित के प्रारंभ में महाकवि बाण ने भास के विषय में यह श्लोक लिखा है—

सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः ।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥

अर्थात् जैसे कोई पुण्यात्मा देवकुल (देवालय) बना कर यश पाता है वैसे भास ने नाटकों से यश पाया। देवकुलों का प्रारंभ सूत्रधार (राजमिस्त्री) करते हैं, भास के नाटकों में भी नांदी रंगमंच पर नहीं होती, पर्दे की ओट में ही हो जाती है, नाटक का आरंभ 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' नांदी के पीछे सूत्रधार ही आकर करता है। मंदिरों में कई भूमिकाएँ (खंड या चौक) होते हैं, भास के नाटकों में भी कई भूमिकाएँ (पार्ट) हैं। मंदिरों पर पताकाएँ (ध्वजाएँ) होती हैं, इन नाटकों में भी पताका (नाटक का एक अंग) होती हैं। यों देवकुल सदृश नाटकों से भास ने यश पाया था, किंतु आधुनिक ऐतिहासिक खोज में यह एक बात और निकली कि भास ने 'देवकुल' से ही यश पाया।

महामहोपाध्याय पंडित गणपति शास्त्री के अध्यवसाय से ट्रावंकोर में भास के कई नाटक उपलब्ध हुए हैं। वे त्रिवेंद्रम संस्कृत ग्रंथमाला में छपे हैं। उनमें एक प्रतिमानाटक भी है। उसका नाम ही प्रतिमा यों रक्खा गया है कि कथानक का विकास प्रतिमाओं से होता है। नाटक रामचरित के बारे में है। भरत ननिहाल केकय देश में गया है। शत्रुघ्न साथ नहीं गया है, इधर अयोध्या में ही है। भरत को वर्षों से अयोध्या का परिचय नहीं। पीछे केकयी ने वर माँगे, राम बन चले गए, दशरथ ने प्राण दे दिए। मंत्रियों के बुलाने पर भरत अयोध्या

को लौटा आ रहा है। इधर अयोध्या के बाहिर एक दशरथ का प्रतिमागृह, देवकुल, बना हुआ है। इतना ऊँचा है कि महलों में भी इतनी ऊँचाई नहीं पाई जाती[1]। यहाँ राम-वनवास के शोक से स्वर्गगत दशरथ की नई स्थापित प्रतिमा को देखने के लिये रानियाँ अभी आनेवाली हैं। आर्य संभव की आज्ञा से वहाँ पर एक सुधाकर (सफ़ेदी करनेवाला) सफ़ाई कर रहा है। कबूतरों के घोंसले और बीठ, जो तब से अब तक मंदिरों को सिँगारते आए हैं, गर्भगृह (जगमोहन) में से हटा दिए गए हैं। दीवालों पर सफ़ेदी और चंदन के हाथों के छापे (पंचांगुल) दे दिए गए हैं[2]। दरवाज़ों पर मालाएँ चढ़ा दी गई हैं। नई रेत बिछा दी गई है। तो भी सुधाकर काम से निबट कर सो जाने के कारण सिपाही के हाथ से पिट जाता है। अस्तु। भरत अयोध्या के पास आ पहुँचा। उसे पिता की मृत्यु, माता के षड्यंत्र और भाई के वनवास का पता नहीं। एक सिपाही ने सामने आकर कहा कि अभी कृत्तिका एक घड़ी बाकी है, रोहिणी में पुरप्रवेश कीजिएगा, ऐसी उपाध्यायों की आज्ञा है। भरत ने घोड़े खुलवा दिए और वृक्षों में दिखाई देते हुए देवकुल में विश्राम के लिये प्रवेश किया। वहाँ की सजावट देख कर भरत सोचता है कि किसी विशेष पर्व के कारण यह आयोजन किया गया है या प्रति दिन की आस्तिकता है? यह किस देवता का मंदिर है? कोई आयुध, ध्वज या घंटा आदि बाहरी चिह्न तो नहीं दिखाई देता। भीतर जाकर प्रतिमाओं के शिल्प की उत्कृष्टता देखकर भरत चकित हो जाता है। वाह, पत्थरों में कैसा

(१) इदं गृहं तत्प्रतिमानृपस्य नः समुच्छ्रयो यस्य स हर्म्यदुर्लभः।

(२) आजकल भी चंदन के पूरे पंजे के चिह्न मांगलिक माने जाते हैं और त्योहारों तथा उत्सवों पर दरवाज़ों और दीवारों पर लगाए जाते हैं। जब सतियां सहमरण के लिये निकलती थीं तब अपने किले के द्वार पर अपने हाथ का छापा लगा जाया करती थीं। वह छापा खोद कर पत्थर पर उसका चिह्न बनाया जाता था। बीकानेर के किले के द्वार पर ऐसे कई हस्तचिह्न हैं। मुगल बादशाहों के परवानों और ख़ास रुक्कों पर बादशाह के हाथ का पंजा होता था जो अंगूठे के निशान की तरह स्वीकार का बोधक था।

क्रियामाधुर्य है । आकृतियों में कैसे भाव झलकाए गए हैं ! प्रतिमाएँ बनाई तो देवताओं के लिये हैं, किंतु मनुष्य का धोखा देती हैं । क्या यह कोई चार देवताओं का संघ है[३] ? यों सोच कर भरत प्रणाम करना चाहता है किंतु सोचता है कि देवता हैं, चाहे जो हों, सिर झुकाना तो उचित है किंतु विना मंत्र और पूजाविधि के प्रणाम करना शूद्रों का सा प्रणाम होगा । इतने ही में देवकुलिक (पुजारी) चौंक कर आता है कि मैं नित्य कर्म से निबट कर प्राणिधर्म कर रहा था कि इतने में यह कौन घुस आया कि जिसमें और प्रतिमाओं में बहुत कम अंतर है ? वह भरत को प्रणाम करने से रोकता है । इस देवकुल में आने जाने की रुकावट न थी, न कोई पहरा था । पथिक विना प्रणाम किए ही यहाँ सिर झुका जाते थे[४] । भरत चौंक कर पूछता है कि क्या मुझसे कुछ कहना है ? या किसी अपने से बड़े की प्रतीक्षा कर रहे हो जिससे मुझे रोकते हो ? या नियम से परवश हो ? मुझे क्यों कर्तव्य धर्म से रोकते हो ? वह उत्तर देता है कि आप शायद ब्राह्मण हैं, इन्हें देवता जानकर प्रणाम मत कर बैठना, ये क्षत्रिय हैं, इक्ष्वाकु हैं । भरत के पूछने पर पुजारी परिचय देने लगता है और भरत प्रणाम करता जाता है । यह विश्वजित् यज्ञ का करनेवाला दिलीप है जिसने धर्म का दीपक जलाया था[५] । यह रघु है जिसके उठते बैठते हज़ारों

(३) अहो क्रियामाधुर्यं पाषाणानाम् । अहो भावगतिराकृतीनाम् । दैवतोद्दिष्टानामपि मानुषविश्वासतासां प्रतिमानाम् । किन्नु खलु चतुर्दैवतोऽयं स्तोमः ?

(४) अयंत्रितैरप्रतिहारकागतैर्विना प्रणामं पथिकैरुपास्यते ।

(५) विश्वजित् यज्ञ का विशेषण 'सन्निहितसर्वरत्न' दिया है । इसका सीधा अर्थ तो यह है कि जहां ऋत्विजों को दक्षिणा देने के लिये सब रत्न उपस्थित थे (कालिदास का 'सर्वस्वदक्षिणम्') । दूसरा अर्थ यह भी है कि राजा के रत्न—प्रजा प्रतिनिधि—सब वहाँ उपस्थित थे अर्थात् सारी प्रजा की प्रतिनिधिलब्ध सहानुभूति से यज्ञ हुआ था । राजसूय प्रकरण में इन प्रजा के प्रधान रत्नों का उल्लेख है जिनके यहाँ राजा जाकर यज्ञ करता और तुहफ़े देता । यह राजसूय का पूर्वांग है (देखो, मर्यादा, दिसंबर-जनवरी सन् १९११—१२ में मेरा लेख) ।

ब्राह्मण पुण्याह शब्द से दिशाओं को गुँजा देते थे । यह अज है जिसने प्रियावियोग से राज्य छोड़ दिया था और जिसके रजोगुणोद्भव दोष नित्य अवभृथ स्नान से शांत होते थे । अब भरत का माथा ठनका । इस ढँग से चौथी प्रतिमा उसी के पिता की होनी चाहिए । निश्चय के लिये वह फिर तीनों प्रतिमाओं के नाम पूछता है । वही उत्तर मिलता है । देवकुलिक से कहता है कि क्या जीते हुओं की भी प्रतिमा बनाई जाती हैं ? वह उत्तर देता है कि नहीं, केवल मरे हुए राजाओं की । भरत सत्य को जानकर अपने हृदय की वेदना छिपाने के लिये देवकुलिक से बिदा होकर बाहिर जाने लगता है किंतु वह रोक कर पूछता है कि जिसने स्त्रीशुल्क के लिये प्राण और राज्य छोड़ दिए उस दशरथ की प्रतिमा का हाल तू क्यों नहीं पूछता ? भरत को मूर्छा आ जाती है । देवकुलिक उसका परिचय पाकर सारी कथा कहता है । भरत फिर मूर्छित होकर गिर पड़ता है । इतने में रानियाँ आजाती हैं । हटो बचो की आवाज़ होती है । सुमंत्र किसी अनजाने बटोही को वहाँ पड़ा समझ कर रानियों को भीतर जाने से रोकता है । देव-कुलिक कहता है कि बेखटके चली आओ, यह तो भरत है[१] । प्रतिमाएँ इतनी अच्छी बनी हुई थीं कि भरत की आवाज़ सुन कर सुमंत्र के मुंह से निकल जाता है कि मानों महाराज (दशरथ) ही प्रतिमा में से बोल रहे हैं । और उसे मूर्छित पड़ा हुआ देखकर सुमंत्र वयःस्थ पार्थिव (जवानी के दिनों का दशरथ) समझता है । आगे भरत, सुमंत्र और विधवा रानियों की बातचीत होती है । बड़ा ही अद्भुत तथा करुण दृश्य है ।

इससे पता चलता है कि भास के समय में देवमंदिरों (देवकुलों)

(१) भास के समय में पर्दा कुछ था, आज कल के राजपूतों का सा नहीं । प्रतिमा नाटक में जब सीता राम के साथ वन को चलती हैं तब लक्ष्मण तो रीति के अनुसार हटाओ, हटाओ की आवाज़ लगाता है किंतु राम उसे रोक कर सीता को घूंघट अलग करने की आज्ञा देता है और पुरवासियों को सुनाता है—

सर्वे हि पश्यन्तु कलत्रमेतद् बाष्पाकुलाक्षैर्वदनैर्भवन्तः ।
निर्दोषदृश्या हि भवन्ति नार्यो यज्ञे विवाहे व्यसने वने च ॥

के अतिरिक्त राजाओं के देवकुल भी होते थे जहाँ मरे हुए राजाओं की जीवित सदृश प्रतिमाएँ रक्खी जाती थीं। एक वंश या राजकुल का एक ही देवकुल होता था जहाँ राजाओं की मूर्तियाँ पीढ़ी वार रक्खी होती थीं। ये देवकुल नगर के बाहर वृक्षों से घिरे हुए होते थे। देवमंदिरों से विपरीत इनमें झंडे, आयुध, ध्वजाएँ या कोई बाहरी चिह्न न होता था, न दरवाज़े पर रुकावट या पहरा होता था। आनेवाले बिना प्रणाम किए इन प्रतिमाओं की ओर आदर दिखाते थे। कभी कभी वहाँ सफ़ाई और सजावट होती थी तथा एक देवकुलिक रहता था। देवकुलिक के वर्णन से संदेह होता है कि प्रतिमाओं पर लेख नहीं होते थे, किंतु लेख होने पर भी पुजारी और मुजाविर वर्णन करते ही हैं। अथवा कवि ने राजाओं के नाम और यश कहलवाने का यही उपाय सोचा हो।

भास के इक्ष्वाकुवंश के देवकुल के वर्णन में एक शंका होती है। क्या चारों प्रतिमाएँ दशरथ के मरने पर बनाई गई थीं, या दशरथ के पहले के राजाओं की प्रतिमाएँ वहाँ यथासमय विद्यमान थीं, दशरथ की ही नई पधराई गई थी? चाहिए तो ऐसा कि तीन प्रतिमाएँ पहले थीं, दशरथ की अभी बन कर रक्खी गई थी, किंतु सुमंत्र के यह कहने से कि 'इदं गृहं तत् प्रतिमानृपस्य नः' और भट के इस कथन से कि 'भट्टिणो दसरहस्स पडिमागेहं देट्टुं' यह धोखा होता है कि प्रतिमागृह दशरथ ही के लिये बनवाया गया था, और प्रतिमाएँ वहाँ उसके अनुषंग से रक्खी गई थीं। माना कि भरत बहुत समय से केकय देश में था, वह अपनी अनुपस्थिति में स्थापित दशरथ की प्रतिमा को देखकर अचरज करता, किंतु वह तो इक्ष्वाकुओं के देवकुल, उसकी तीन प्रतिमा, उसके स्थान, चिह्न और उपचार व्यवहार तक से अपरिचित था। क्या उसने कभी इस इक्ष्वाकुकुल के समाधिमंदिर के दर्शन नहीं किए थे, या इसका होना ही उसे विदित न था? बातचीत से वह इस मंदिर से अनभिज्ञ, उसकी रीतियों से अनजान, दिखाई पड़ता है। सारा दृश्य ही उसके लिये नया है। क्या

ही अच्छा संविधानक होता यदि परिचित देवकुल में भरत अपने 'पितुः प्रपितामहान्' का दर्शन करने जाता, वहाँ पर चिरदृष्ट तीन की जगह चार प्रतिमाओं को देखकर अपनी अनुपस्थिति की घटनाओं को जान लेता! इसका समाधान यह हो सकता है कि भास का भरत बहुत ही छोटी अवस्था में अयोध्या से चला गया हो और वहाँ के दर्शनीय स्थानों से अपरिचित हो। या कोई ऐसा संप्रदाय होगा कि पिता के जीते जी राजकुमार देवकुल में नहीं जाया करते हों। राजपूताने में अब भी कई जीवत्पितृक मनुष्य श्मशान में अथवा शोक-सहानुभूति (मातमपुर्सी) में नहीं जाते। राजवंश के लोग नई प्रतिमा के आने पर ही देवकुल में आवें ऐसी कोई रूढ़ि भी हो सकती है। अस्तु।

भास का समय अभी निश्चित नहीं हुआ। पंडित गणपति शास्त्री उसे ईसवी पूर्व तीसरी चौथी शताब्दी का, अर्थात् कौटिल्य चाणक्य से पहले का, मानते हैं।[५] जायसवाल महाशय उसे ईसवी पूर्व पहली शताब्दी

---

(५) पंडित गणपति शास्त्री ने पाणिनिविरुद्ध बहुत से प्रयोगों को देख कर भास को पाणिनि के पहले का भी माना था। कौटिल्य से पहले का मानने में मान एक श्लोक है जो 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटक तथा 'अर्थशास्त्र' दोनों में है। अर्थशास्त्र में भास के नाटक से उसे उद्धृत मानने के लिये उतना ही प्रमाण है जितना भास के नाटक में उसके अर्थशास्त्र से उद्धृत होने का। दूसरा मान प्रतिमानाटक में बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र का उल्लेख है, कौटिल्य का नहीं। किंतु यह कवि की अपने पात्रों की प्राचीनता दिखाने की कुशलता हो सकती है। मैंने इंडियन एंटिक्वेरी (जिल्द ४२, सन् १९१३, पृष्ठ ५२) में दिखाया था कि पृथ्वीराजविजय के कर्ता जयानक और उसके टीकाकार जोनराज के समय तक यह साहित्यिक प्रवाद था कि भास और व्यास समकालीन थे। उनकी काव्यविषयक स्पर्धा की परीक्षा के लिये भास का ग्रंथ विष्णुधर्म व्यास के किसी काव्य के साथ साथ अग्नि में डाला गया तो अग्नि ने उसे उत्कृष्ट समझ कर नहीं जलाया। पंडित गणपति शास्त्री ने बिना मेरा नाम उल्लेख किए पृथ्वीराजविजय तथा उसकी टीका के अवतरण के भाव को यों कह कर उड़ाना चाहा है कि 'विष्णुधर्मान्' कर्म का बहुवचन काव्य का नाम नहीं, किंतु 'विष्णुधर्मात्' हेतु की पंचमी का एकवचन है कि अग्नि मध्यस्थ था, परीक्षक था, विष्णु के स्थानापन्न था, उसने विष्णुधर्म से भास के काव्य को नहीं जलाया!

का मानते हैं। प्रतिमानाटक में भास यह देवकुल का प्लाट कहाँ से लाया ? सुबंधु ने वासवदत्ता में पाटलिपुत्र को अदिति के पेट की तरह 'अनेक देवकुलों से पूरित' लिखा है८। यहां देवकुल में देवताओं के परिवार और देवमंदिर का श्लेष है। क्या यह संभव है कि भास ने पाटलिपुत्र का शैशुनाक देवकुल देखा हो और वहाँ की सजीव सदृश प्रतिमाओं से प्रतिमानाटक का नाम तथा कथावस्तु चुना हो ? इक्ष्वाकुओं के देवकुल के चतुर्दैवत स्तोम९ की ओर लक्ष्य दीजिए। पाटलिपुत्र के स्थापन से, नवनंदों द्वारा शैशुनाकों का उच्छेद होने तक, पाँच शैशुनाक राजा हुए। उनमें से अंतिम राजा की तो राज्यापहारी नंद (महापद्म) ने काहे को प्रतिमा खड़ी की होगी। अतएव शैशुनाक देवकुल में भी चार ही प्रतिमा होंगी। इस चतुर्दैवत स्तोम में से अज उदयिन तथा नंदिवर्धन की प्रतिमाएँ तो इंडियन म्यूज़ियम में हैं। तीसरी को हाकिंस ले गया। चौथी अगम कुए के पास पुजती हुई कनिंगहाम ने देखी थी। संभव है कि इनका भी पता चल जाय।

परखम की मूर्ति भी संभव है कि राजगृह के शैशुनाकों के राजकुल की हो। यह हो सकता है कि वह किसी बड़ी भारी विजय या

विष्णु को यहां घुसेड़ने की क्या आवश्यकता थी ? मैं अब भी मानता हूं कि भास-कृत विष्णुधर्म नामक ग्रंथ व्यास (?) कृत विष्णुधर्मोत्तर पुराण के जोड़ का हो सकता है तथा भास-व्यास की समकालिकता का प्रवाद अधिक विचार चाहता है। महाभारत के टीकाकार नीलकंठ ने आरंभ ही में 'जय' शब्द का अर्थ करते हुए पुराणों से 'विष्णुधर्माः' को अलग ग्रंथ गिना है। यहाँ भी बहुवचन प्रयोग ध्यान देने योग्य है। नीलकंठ के श्लोक ये हैं—

> अष्टादश पुराणानि रामस्य चरितं तथा।
> कार्ष्णं वेदं पञ्चमं च यन्महाभारतं विदुः॥
> तथैव विष्णुधर्माश्च शिवधर्माश्च शाश्वताः।
> जयेति नाम तेषां च प्रवदन्ति मनीषिणः॥

(८) अदितिजठरमिवानेकदेवकुलाध्यासितम्।

(९) यह ध्यान देने की बात है कि इक्ष्वाकु कुल में दिलीप, रघु, अज और दशरथ—ये चार नाम लगातार या तो भास में मिले हैं या कालिदास के रघु-

अवदान के[१०] स्मरण में परखम में ही खड़ी की गई हो, किंतु यह भी असंभव नहीं कि वह राजगृह से वहाँ पहुँची हो। मूर्तियां के बहुत दूर दूर तक चले जाने के प्रमाण मिले हैं। जीत कर मूर्तियां का ले आना विजय की प्रशस्तियों में बड़े गौरव से उल्लिखित किया गया मिलता है। दिल्ली तथा प्रयाग के अशोकस्तंभ भी जहाँ आजकल हैं वहाँ पहले न थे। बड़े परिश्रम से तथा युक्तियों से उठवा कर पहुँचाए गए हैं।

नानाघाट की गुफा में पहले सातवाहन वंशी राजाओं की कई पीढ़ियों की मूर्तियाँ हैं। वह सातवाहनों का देवकुल है। मथुरा के पास शक (कुशन) वंशी राजाओं के देवकुल का पता चला है। कनिष्क की मूर्ति खड़ी और बहुत बड़ी है। उसके पिता वेम कैडफेसस की प्रतिमा बैठी हुई है। इसपर के लेख में 'देवकुल' शब्द इसी रूढ़

वंश में। दशरथ को अज का पुत्र तो वायु, विष्णु और भागवत पुराण तथा रामायण, सब मानते हैं। कुमारदास के जानकीहरण और अश्वघोष के बुद्ध-चरित में भी ऐसा है। वायुपुराण की वंशावली में दिलीप और रघु के बीच में एक राजा और हैं, फिर रघु, अज, दशरथ हैं। भागवत में दिलीप और रघु के बीच में १५ राजाओं और रघु और अज के बीच में पृथुश्रवा का नाम है। विष्णुपुराण में दिलीप और रघु के बीच में १७ नाम हैं, फिर रघु, अज, दशरथ हैं। वाल्मीकि रामायण में दिलीप और रघु के बीच में दो पुरुष हैं, रघु और अज के बीच में १२ नाम हैं। भास और कालिदास दोनों किसी और नाराशंसी या पौराणिक गाथा पर चले हैं। चमत्कार यह है कि दोनों महाकवि एक ही वंशावली को मानते हैं।

(१०) लोकोत्तर सात्विक दान को अवदान कहते हैं। बुद्ध के अवदान प्रसिद्ध हैं। अवदान का संस्कृत रूप अपदान हैं। कश्मीरी कवि इसका प्रयोग करते हैं। आबू में प्रसिद्ध वस्तुपाल तेजपाल के मंदिर के सामने दोनों भाइयों तथा उनकी स्त्रियों की प्रतिमा हैं। विमलशाह के मंदिर में भी स्थापक की प्रतिमा है। राजपूताना म्यूज़ियम, अजमेर, में राजपूतदंपति की मूर्तियाँ हैं जो उनके संस्थापित मंदिर के द्वार पर थीं। पृथ्वीराजविजय में लिखा है कि सोमेश्वर (पृथ्वीराज के पिता) ने वैद्यनाथ का मंदिर बनाया और वहाँ पर अपने पिता (अर्णोराज) की घोड़े चढ़ी मूर्ति रीति धातु की बनवाई। इससे आगे का श्लोक

अर्थ में आया है। इस राजा को लेख में कुशनपुत्र कहा है। वहीं पर एक और प्रतिमा के खंड मिले हैं। यह कनिष्क के पुत्र की होगी। तीसरी मूर्ति पर के लेख को फोजल ने मस्टन पढ़ा था, किंतु बाबू विनयतोष भट्टाचार्य ने उसे शस्तन पढ़ कर सिद्ध किया है कि यह चश्तन नामक राजा की मूर्ति है। यह टालमी नामक ग्रीक भूगोलवेत्ता का समसामयिक था, क्योंकि उसने 'टियांतनीस' की राजधानी उज्जैन का उल्लेख किया है। चश्तन भी शक होना चाहिए, वह कनिष्क का पुत्र हो, या निकट संबंधी हो। अतएव कनिष्क का समय ईसवी सन् ७८ से सन् १३० के बीच होना चाहिए, ईसवी पूर्व की पहली शताब्दी नहीं।

भास के लेख तथा शैशुनाक, सातवाहन और कुशन राजाओं के देवकुलों के मिलने से प्रतीत होता है कि राजवंशों में मृत राजाओं की मूर्तियों को एक देवकुल में रखने की रीति थी।

देवपूजा का पितृपूजा से बड़ा संबंध है। देवपूजा पितृपूजा से ही चली है। मंदिर के लिये सब से पुराना नाम चैत्य है, जिसका अर्थ चिता (दाहस्थान) पर बना हुआ स्मारक है। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि शरीर को भस्म करके धातुओं में हिरण्य का टुकड़ा मिला कर उन पर स्तूप का चयन (चुनना) किया जाता था। बुद्ध के शरीर-धातुओं के विभाग तथा उनपर स्थान स्थान पर स्तूप बनने की कथा प्रसिद्ध ही है। बौद्धों तथा जैनों के स्तूप और चैत्य पहले स्मारक चिह्न थे, फिर पूज्य हो गए।

देवकुल शब्द का बड़ा इतिहास है। मंदिर को राजपूताने में देवल कहते हैं, छोटी मढ़ी को देवली कहते हैं। समाधिस्तंभों

नष्ट हो गया है किंतु टीका से इसका अर्थ जाना जाता है कि पिता के सामने उसने अपनी मूर्ति भी उसी धातु की बनवाई थी (दत्ते हरिहयेनेव शुद्धरीतिमये हरौ। प्रकृतिं जम्भितस्तत्र शुद्धरीतिमयः पिता ॥ ८। ६६ ॥ पितुः रीतिमयस्य रीतिवाहारूढस्य प्रतिष्ठापितस्याग्रे रीतिमयं स्वात्मानं प्रतिष्ठाप्य राजा स सर्गं त्रिधा रीतिमयं कचिरिवाकरोत् ॥) यों वैद्यनाथ का मंदिर चौहानों का देवकुल हुआ।

को भी देवली, देउली या देवल कहते हैं। शिलालेखों में मंदिरों को देवकुल कहा है, सतियों तथा वीरों के स्मारकचिह्नों को भी देवल या देवली कहा है। देवली का संस्कृत देवकुली या देवकुलिका लेखों में मिलता है। पुजारी को 'देवलक' कहते हैं, लेखों में देवकुलिक मिलता है। सती माता का देवल, सती की देवली यह अब तक यहाँ व्यवहार है। बंगाल में ऊँचे शिखर के छोटे मंदिर को देउली कहते हैं। राजपूताने में मंदिर के अंदर छोटे मंदिर को भी देवली कहते हैं। पंजाबी में वह लकड़ी का सिंहासन जिसमें गृहस्थों के ठाकुरजी रक्खे जाते हैं देहरा कहलाता है। ग्राम तथा नगरों के नाम में देहरा पद भी उनके देवस्थान होने का सूचक है। जैसे प्राकृत देवल का संस्कृत रूप देवकुल लेखों में आता था, वैसे राजाओं की उपाधि रावल का संस्कृत रूप राजकुल मिलता है। राजकुल का अर्थ 'राजवंश्य' है। मेवाड़ के राजाओं की रावल शाखा प्रसिद्ध है, उनके लेखों में 'महाराजकुल अमुक' ऐसा मिलता है। पंजाबी पहाड़ी में सती के स्मारकचिह्न को देहरी तथा सतियों की समष्टि में 'देहरी' कहते हैं[11]। यों देवकुल पद देवमंदिर का वाचक भी है, तथा मनुष्यों के स्मारकचिह्न का भी।[12]

(११) सतियों के लिये 'महासती' पद का व्यवहार सारे देश में मिलने से देश की एकता का अद्भुत प्रमाण मिलता है। मेवाड़ के महाराणाओं की सतियों के समाधिस्थान को महासती कहते हैं, जैसे, 'दरबार महासत्यां दासण करण ने पधार्यां है'। मैसूर के पुरातत्त्वविभाग की रिपोर्ट से जाना जाता है कि वहाँ पर सती-स्तंभ 'महासतीकल' कहे जाते हैं। विपरीतलक्षणा से पंजाबी पहाड़ी में 'महासती' या 'म्हास्ती' दुराचारिणी स्त्री के लिये गाली का पद हो गया है। पति के लिये सहमरण करनेवाली स्त्रियों को ही सती कहते हैं किंतु कई देवलियाँ पोतासतियों की भी मिली हैं जो दादियाँ अपने पोते के दुःख से सती हुईं।

(१२) कोयम्बतूर ज़िले (मद्रास) में कुछ पुरानी समाधियाँ हैं। वे पांडुकुल कहलाती हैं। यह भी देवकुल का स्मरण है। ऐतिहासिक अंधकार के दिनों में जो पुरानी तथा विशाल चीज़ दिखाई दी वही पांडवों के नाम थोप दी जाती थी, कहीं भीमसेन की कूँडी, कहीं पांडवों की रसोई। दिल्ली के पास विष्णुगिरि पर विष्णुपद का चिह्न (बहुत बड़ा चरण) है। उसे कई साहसी लोग

सतियों तथा वीरों की देउलियाँ वहीं पर बनती हैं जहाँ उन्होंने देहत्याग किया हो। सांभर के पास देवयानी के तालाब पर एक घोड़े की देवली है जो लड़ाई में काम आया था।[१३]

रजवाड़ों में राजाओं की छतरियाँ या समाधिस्मारक बनते हैं। उनमें सुंदर विशाल चारों ओर से खुले मकान बनाए जाते हैं। कहीं कहीं उनमें शिवलिंग स्थापन कर दिया जाता है, कहीं अखंड दीपक जलता है, कहीं चरणपादुका होती हैं, कहीं मूर्ति तथा लेख होते हैं, परंतु कई योंही छोड़ दी जाती हैं। जोधपुर के राजाओं की छतरियाँ शहर से बाहर मंडोर के क़िले के पास हैं। जयपुर के राजाओं में जितने आमेर में थे उनके श्मशानों पर उनकी छतरियाँ आमेर में हैं, जो जयपुर बसने के पीछे प्रयात हुए उनकी गेटोर में शहर के बाहर हैं, महाराजा ईश्वरीसिंहजी का दाहकर्म महलों में ही हुआ था, इसलिये उनकी छतरी महलों के भीतर ही है। डूंगरपुर में वर्तमान महारावल के पितामह की छतरी में उनकी प्रतिमा सजीव सदृश है। बीकानेर के पहले दो तीन राजाओं की छतरियाँ तो शहर के मध्य में लक्ष्मी-नारायण के मंदिर के पास हैं, कुछ पुराने राजाओं की छतरियाँ लाल पत्थर की एक छोटे अहाते में हैं, बाकी राजाओं की छतरियाँ एक विशाल दीवाल से घिरे अहाते में क्रम से बनी हुई हैं। प्रत्येक पर चरणपादुका हैं जहां प्रति दिन पूजा होती है। प्रत्येक पर मूर्ति है जिसमें राजा घोड़े पर सवार बनाया हुआ है, जितनी रानियाँ उसके साथ सती हुईं उनकी भी मूर्तियाँ उसी पत्थर पर बनी हुई हैं। शिलालेख

भीमसेन के पाँव की नाप मानते ही नहीं, सिद्ध भी करना चाहते हैं। बहुत से विष्णुपद मिले हैं, सभी इस हिसाब से भीमसेन के पैर के चिह्न होने चाहिएँ।

(१३) लेख के ऊपर कमल और सजे हुए घोड़े की मूर्ति है। नीचे यह लेख है—॥ १ श्रीरामजी (१) राजश्री नवाब मुकतार दौला बहादुरजी के मैं सन् १२२७ (२) संवत् १८६८ मिती वैसाख वदि ७ सोमवार के रोज जोधने (३) र पै झगड़ा भयौ तामैं पं० श्रीलाला जवाहर सोवजी कौ (४) घोड़ा सुरंग काम आयौ ताकी देवली सांभर मैं श्रीदेवदा (५) नीजी के ऊपर बनाई कारीगर पुमाजवगस गजधर नै बना (६) ई ॥

प्रत्येक पर है जिसमें विक्रम संवत्, शक संवत्, मास, तिथि, वार, नक्षत्र, योग, करण, सूर्योदय घटी आदि प्रयाण के दिन का पूरा पंचांग दिया है। वहीं सहमरण करनेवाली रानियां, दासियां आदि की संख्या लिखी है। किसी में पाचक, पुरोहित, सेवक या घोड़े के सहमरण का भी उल्लेख है। पास में देवीकुंड होने से यह स्थान भी देवीकुंड कहलाता है[१४]। यहां के पुजारी शाकद्वीपी ब्राह्मण (सेवग, भोजक या मग) हैं। ऐसे ही धर्माचार्यों, ठाकुरों, धनियों आदि के भी समाधि-स्मारक स्थान होते हैं।

इन देउलियों तथा छतरियों तथा भास-वर्णित इक्ष्वाकुओं के, या शैशुनाक और कुशनों के देवकुलों में यह भेद है कि देउली या छतरी सती या राजा के दाहस्थल पर बनती तथा एक ही की स्मारक होती है; देवकुल श्मशान में नहीं होते थे। उनमें एक ही भवन में एक वंश के कई राजाओं की मूर्तियाँ वंशक्रम के अनुसार रक्खी जाती थीं। छतरियों के शिल्प और निवेश में मुसलमानी रोज़ों और मकबरों का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है, देवकुल की चाल प्राचीन थी।

पंजाब के कांगड़ा ज़िले के पहाड़ी प्रांत में, जो राजमार्गों से विदूर तथा मुसलमानी विजेताओं तथा प्रभावों से तटस्थ रहा, अब तक देवकुल की रीति चली आती है। वहां प्रत्येक ग्राम के पास जलाशय पर मरे हुओं की मूर्तियां रक्खी जाती हैं। मेरे ग्राम गुलेर के देवकुल का वर्णन सुन लीजिए। गुलेर बहुत ही पुराना ग्राम है। कटोचवंश की बड़ी शाखा की राजधानी वह हुआ, छोटा वंश कांगड़ में राज्य करता रहा। श्मशान तो नदी के तीर पर हैं जहाँ पर कई कुलों की सतियों की 'देहरियाँ' हैं। गाँव के बाहर, श्मशान से पौन मील इधर, बछूहा (वत्स + खूंहा = वत्सकूप) नामक जलाशय है जिस पर वत्सेश्वर महादेव है। उसके पुजारी रौलु (रावल) नामक ब्राह्मण (?) होते हैं जो मृतक के वस्त्रों के अधिकारी हैं।

(१४) पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने भ्रमवश देवगढ़ लिखा है। (बि० ओ० रि० सो० ज०, दिसंबर १९१९)

वत्सकूप तथा महादेव के मंदिर के पूर्व को एक तिबारा सा है। छत गिर गई है। खंभे और कुछ दीवालें बची हैं। वहाँ पर सैकड़ों प्रतिमाएँ हैं जिन्हें मूहरे (मोहरे) कहते हैं। मृत्यु होने के पीछे ग्यारहवें दिन जब महाब्राह्मणों को शय्यादान करते हैं उस समय लगभग एक फुट ऊँचे पत्थर पर मृतक की मूर्ति कुराई जाती है। मूर्ति बनानेवाले गाँव के पुश्तैनी पत्थर गढ़नेवाले हैं जो पनचक्कियों के घरट बनाते हैं। मूर्ति सिंदूर लगा कर शय्या के पास रख दी जाती है। दान के पीछे शय्या और उपकरण महाब्राह्मण ले जाता है। मूर्ति इस देवकुल में पहुँचा दी जाती है। उस कुल के आदमी जलाशय पर स्नान संध्या करने आते हैं तब मूर्ति पर कुछ दिनों तक जल चढ़ाते रहते हैं। मकान तो खंडहर हो गया है, पर उसके आसपास, वत्सेश्वर के नंदि के पास, जलाशय पर, जगह जगह मूहरे बिखरे पड़े हैं। कई जलाशय की मेंड, सीढ़ियों तथा फर्श की चुनाई में लग गए हैं। कई निर्भय मनुष्य इन पत्थरों को मकानों की चुनाई के लिये ले भी जाते हैं। सभी उच्च जातियों के मृतक, मूर्तिरूप में, इस देवकुल में गाँव बसा कर रहते हैं। गुलेर के राजाओं तथा रानियों के मूहरे भी यहीं हैं। वे दो ढाई फुट ऊँचे हैं। उनके नीचे 'राजा'—'राणी' अक्षर भी लड़कपन में हम लोग पढ़ा करते थे। गांव के बुड्ढे पहचान लेते हैं कि यह अमुक का मूहरा है। कई वर्षों तक हम अपने पितामह की प्रतिमा को पहिचानते तथा उस पर जल चढ़ाते थे। पिछले वर्षों में खेलते हुए लड़कों ने या किसी और ने निवेश बदल दिया है। पत्थर रेतीला दरयाई बालू का है, इसलिये कुछ ही वर्षों की धूप और वर्षा से खुदाई बेमालूम हो जाती है[१४]। पुरुष की मूर्ति बैठी बनाई जाती

(१४) पत्थर का यह हाल है कि वहीं जवाली ग्राम में गुलेर के एक राजा का बनाया हुआ एक मंदिर है जिसकी छाया की ओर की खुदाई की मूर्तियाँ ज्यों की त्यों हैं किंतु धौलाद्रवाले पखवाड़े पर सब मूर्तियाँ साफ़ हो गई हैं। उसी की रानी के बनवाए हुए जवाली के नौण पर शिलालेख था जिसके कुछ पंक्तियों की आदि के अक्षर आठ वर्ष हुए पढ़े जाते थे, किंतु दो वर्ष बीते जब मैं वहाँ गया तो उतने

है, स्त्री की खड़ी । पुरुषमूर्ति के दोनों ओर कहीं कहीं चामरग्राहिणियाँ भी बनी होती हैं । राजाओं की मूर्ति घोड़े पर होती है । वस्त्र शस्त्र भी दिखाए जाते हैं । उस प्रांत में जहाँ जहाँ बाँ, नौण, तला आदि हैं[१६] वहां सब जगह मूहरे रक्खे जाते हैं । सड़क के किनारे जो जलाशय मिलता है वहाँ गाँव पास हो तो ८–१० प्रतिमाएँ रक्खी मिलेंगी । कुल्लू, मंडी तथा शिमले के कुछ पहाड़ी राज्यों में भी यही चाल है । यह प्राचीन देवकुल की रीति अब तक उन प्रांतों में हैं जहाँ परिवर्तन बहुत कम हुए हैं ।

अक्षर भी नहीं पढ़े जा सकते थे, सब के सब घिर गए थे । इस समय लेख इतना ही पढ़ा जाता था—ओं स्वस्ति श्रीगणेश······(१) वर्द्धंति परं पु [प्र]······(२) मीश्वरं······(३) पा [श]····· (४) (५) (६) (७) (८) या··· ··(९) नाधि [र्थि]······(१०) भूयो भूयो······(११) राजराजः——`–`······(१२) लेपाल-नोद्यो-----(१३) कृतोयम् ।··(१४) ये अंक पंक्तियों के अंत के सूचक हैं ।

(१६) बाँ = (संस्कृत) वापी, (बिहारी कवि) बाय, (मारवाड़ी) बाव । नौण = (संस्कृत) निपान (पाणिनि का निपानमाहावः), (मारवाड़ी) निवाण । तला = (संस्कृत), तड़ाग या तटाक (हिंदी) तालाब ।

६—यूनानी प्राकृत।

[लेखक—पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी बी० ए०, अजमेर।)

वेसनगर (विदिशा) के गरुड़ध्वज का सिंदूर उतर जाने से उसपर एक बड़े महत्त्व का लेख सर जान मार्शल के हाथ लगा। उसपर बहुत कुछ वाद-विवाद होकर उसका शुद्ध पाठ और वर्णन डाक्टर फोजल ने सन् १९०८–९ के 'एनुएल आफ दी डाइरेक्टर जनरल आफ आर्कियालाजी इन इण्डिया' में छपवाया है। लेख का अर्थ यह है कि तक्षशिला के निवासी, दिय के पुत्र, भागवत हिलियोदोर, योनदूत ने, जो राज्य के चौदहवें वर्ष में विराजमान राजा काशीपुत्र भागभद्र त्रातार के यहाँ महाराज अंतलिकित के पास से आया हुआ था, देवदेव वासुदेव का यह गरुड़ध्वज बनवाया।

इस लेख का वर्णन हिंदी में रायबहादुर पंडित गौरीशंकर जी ओझा लिख चुके हैं इसलिये हिंदी के पाठक इससे अपरिचित नहीं हैं[१]। इस लेख से इतनी काम की बातें जानी गई हैं—

(१) हिंदुस्तान पर राज्य करनेवाले ग्रीक राजाओं के सिक्के बहुत मिले हैं, शिलालेख यही मिला है। तक्षशिला के ग्रीक महाराजा एंटिआल्किडस[२] का दूत, डियन का पुत्र, हीलियोडोरस अपने स्वामी की ओर से (विदिशा के) राजा काशीपुत्र भागभद्र के यहाँ रहता था। भागभद्र ने ग्रीक राजाओं की उपाधि सोटर (त्रातार) स्वीकार कर ली थी।[४]

---

(१) मर्यादा, वर्ष १।

(२) नवलकिशोर प्रेस के संग्रहशिरोमणि में ओझाजी का यह लेख उद्धृत है।

(३) इसके सिक्के अफ़गानिस्तान के बेग्राम से दिल्ली के उत्तर में सोनपत (सुवर्णप्रस्थ) तक मिले हैं।

(४) संभव है कि यह राजा शुंगवंश का नवाँ राजा भागवत हो। जिसका समय ईसवी सन् पूर्व १०८ के लगभग है।

(२) यह हीलियोडोरस भागवत (अनन्य वैष्णव) था और उसने वासुदेव के मंदिर में गरुड़ध्वज बनवा कर भेंट किया।

(३) ईसवी सन् के पूर्व दूसरी शताब्दी में भागवत धर्म (भक्ति-मार्ग) था और विदेशी भी हिंदू-धर्म में लिए जाते थे।

अब डाक्टर सुखटणकर ने इस लेख पर एक निबंध लिखा है उसमें मुख्य मुख्य बातें ये हैं—

(१) फोजल तक विद्वानों ने 'कारिते' पढ़ा था जो 'गरुड़ध्वजो' से मेल नहीं खाता। या तो 'कारिते गरुड़ध्वजे' होना चाहिए जो उस प्रांत की प्राकृत नहीं है, या 'कारितो गरुड़ध्वजो'। डाक्टर सुखटणकर कहते हैं कि लेख में पाठ कारितो ही है, 'ध्वजे' की जगह 'ध्वजो' बना लेना चाहिए।

(२) दूसरी पंक्ति में 'कारितो' के आगे विद्वानों ने छूटे हुए स्थान में 'इ' पढ़कर उसके आगे 'अ' की कल्पना करके 'इअ = संस्कृत इह = यहाँ' समझा है। खरोष्ठी के लेखों में **इय, इ,** या **हिय इह** (यहाँ) के अर्थ में आता है। किंतु यहाँ 'इ' के होने में संदेह है और किसी शब्द की कल्पना की आवश्यकता नहीं।

यहाँ पर हम डाक्टर सुखटणकर का इस लेख के प्रधान अंश का पाठ दे देते हैं—

(पंक्ति) १ देवदेवस वा[सुदे]वस गरुड़ध्वजे अयं
२ कारितो हेलिओदोरेण भाग
३ वतेन दियस पुत्रेण ताखसिलाकेन
४ योनदूतेन आगतेन महाराजस
५ अ[ं] तलि[कि]तस उपंता सकासं रञो
६ कासी पुतस भागभद्रस त्रातारस
७ वसेन चतुदसेन राजेन वधमानस

(३) इस लेख की प्राकृत भाषा के पदों के अन्वय की ओर ध्यान

---

(२) एनल्स् आफ़ दी भांडारकर इंस्टिट्यूट, भाग १, जिल्द १, पृष्ठ ४१—६६।

दीजिए। संस्कृत और प्राकृत में विशेषण कभी विशेष्य के पीछे नहीं आते। संस्कृत और प्राकृत की शैली से ठीक अन्वय यों होना चाहिए 'वसेन चतुदसेन राजेन वधमानस रञो त्रातारस कासीपुतस भागभद्रस सकासं महाराजस अंतलिकितस उपंता आगतेन योनदूतेन ताखसिलाकेन दियस पुतेन भागवतेन हेलिओदोरेण'। डाकूर सुखटणकर ने सप्रमाण बताया है कि 'योनदूतेन आगतेन महाराजस अंतलिकितस उपंता' और 'भागभद्रस राजेन वधमानस' ये ज्यों के त्यों ग्रीक भाषा के मुहाविरे हैं। यों ही 'गरुड़ध्वजे अयं कारिते हेलियोदोरेन' में क्रियापद का कर्त्ता और कर्म के बीच में आना ग्रीक भाषा की चाल पर है। इस पर उन्होंने फबती हुई कल्पना की है कि जो यूनानी भक्तिमार्ग के विष्णु-भागवत संप्रदाय का अनुयायी हो गया हो और जिसने विष्णुमंदिर में गरुड़ध्वज बनाया हो, उसने प्राकृत और संस्कृत पढ़कर इतनी योग्यता भी प्राप्त की हो कि अपने शिलालेख का मसौदा स्वयं बनाया हो और कलम की आदत से लाचार होकर ग्रीक चाल ढाल ज्यों की त्यों उतार दी हो। 'राजेन वधमानस' भी 'दिष्ट्या वर्धसे' की तरह आशीर्वादमय वाक्य है, और 'वसेन चतुदसेन' में सप्तमी की जगह तृतीया[१] का प्रयोग भी कुछ चिंत्य है।

हम इस बात से सहमत हैं कि इस लेख की प्राकृत भाषा हेलिओडोरस की ही रचना है। 'पंडिताऊ हिंदी' और 'बाबू इंगलिश' की तरह यह यूनानी प्राकृत है। जिसे जिस भाषा के मुहाविरे का अभ्यास होता है वह दूसरी भाषा लिखते समय जाने अनजाने उसी का अनुसरण करता है। बंगला में 'रौद्र' धूप को कहते हैं, एक बंगाली कवि का उद्भट संस्कृत श्लोक है जिसमें धूप के अर्थ में रौद्र ही काम में लाया गया है जो संस्कृत में दुर्लभ है।

अँगरेज़ी में जो बात पहले कही गई है उसे 'ऊपर लिखी या कही गई' कहते हैं और जो आगे कही जायगी उसे 'नीचे लिखी या

(१) पाणिनि के अपवर्गे तृतीया (२.३.६) से यहाँ काम नहीं चलता।

कही' कहा जाता है । कागज़ में लिखते लिखते ऊपर से नीचे को आते हैं इससे यह उपचार चला है । इसकी देखादेखी संस्कृत और संस्कृत-जात भाषाओं में भी 'उपरिलिखित' 'उपर्युक्त' (हिंदी का उपरोक्त !) 'निम्नलिखित' 'अधोनिर्दिष्ट' आदि प्रयोग चल पड़े हैं जो संस्कृत के पुराने मुहाविरे से सर्वथा अशुद्ध हैं । संस्कृत में 'उपरिष्टाद् वक्ष्यामः' (= ऊपर कहेंगे) का अर्थ होता है, आगे कहेंगे (= हिंदी या अँगरेज़ी का 'नीचे कहा जायगा') । 'इति प्रतिपादितमधस्तात्' का अर्थ है यह नीचे कहा जा चुका है अर्थात् पहले कहा जा चुका है (= हिंदी या अँगरेज़ी का 'ऊपर लिख आए हैं') । संस्कृत में लेख या प्रतिपादन के लिये वृक्ष का उपचार है जो नीचे से बढ़ते बढ़ते ऊपर को चलता है । अँगरेज़ीवाले संस्कृत और संस्कृतिक भाषाओं में यों नीचे को ऊपर कर रहे हैं, ऊपर को नीचे । कागज़ पर लिखने और वृक्ष के उगने के दोनों उपचार खिचड़ी बन रहे हैं । यह संस्कृत में 'निम्नलिखित' और 'उपर्युक्त' के प्रयोग की उलटी गंगा भिन्न भाषाओं के मुहाविरों की संसृष्टि का अच्छा उदाहरण है ।

पारसी मोबेद नर्योसंघ ने पहलवी और पज़ंद से पारसियों के धर्मग्रंथों के बहुत से अंशों का संस्कृत अनुवाद किया । उसने अपने खुर्द अवस्तार्थ ग्रंथ का आरंभ इस तरह से किया है[७]—

नाम्ना सर्वांगशक्तया च साहाय्येन च स्वामिनो अहुर्मज्दस्य महाज्ञानिनः सिद्धिः शुभा भूयात् प्रवृत्तिः प्रसिद्धिश्च उत्तमदीने मज्दिईअस्न्या वपुषि च पाटवं दीर्घजीवितं च सर्वेषां उत्तमानां उत्तममनसाम् ॥

इदं परामईअस्ति नाम पुस्तकं मया नइरियोसंघेन धवलसुतेन पहलवीजंदात् संस्कृतभाषायामवतारितम् । विषमपारसीकाक्षरेभ्यश्च अविस्ताक्षरैर्लिखितम् । सुखप्रबोधाय उत्तमानां शिष्यश्रोतृणां सत्यचेतसाम् । प्रणामः उत्तमेभ्यः शुद्धमतेभ्यः सत्यजीहेभ्यः सत्यसमाचारेभ्यः ॥

(७) खोर्द अवेस्ता अर्थः, पार्सी पंचायत के ट्रस्टीज़ का संस्करण, पृष्ठ १ ।

यह मानों पहलवी पज़ंद का अक्षर अक्षर अनुवाद है[८]। एक और नमूना देखिए—

अपृच्छत् जरथुश्त्रः अहुर्मिज्दम। अहुरमज्द अदृश्यमूर्त गुरुतर दातः शरीरिणां अस्थिमतां पुण्यमय। का अस्ति अविस्तावाणी गुर्वी बलिष्ठतरा...[९]

इस 'पारसी संस्कृत' से 'यूनानी प्राकृत' के सिद्धांत की पुष्टि होती है।

---

(८) इसके सम्पादक ने पज़ंद और पहलवी में यही इबारत लिखकर मिलान किया है। वही, टिप्पणी १।

(९) वही, पृष्ठ १६।

७-पुरानी जन्मपत्रियाँ।

[लेखक—मुंशी देवीप्रसाद, जोधपुर।]

मेरे पुरानी जन्मपत्रियों के संग्रह के बाबत एक बड़ा लेख जनवरी सन् १९१५ की सरस्वती में निकल चुका है। तब से अब तक कई जगह से यही पूछा गया है कि किस किस की जन्मपत्रियाँ किस किस साल संवत् की हैं और क्या क्या उनका पता और परिचय है परंतु पूछनेवालों को अलग अलग जवाब देने की अपेक्षा मैं उन जन्मपत्रियों की एक संक्षिप्त सूची ही प्रकाशित किए देता हूँ कि जिससे उन लोगों को जो उनसे लाभ उठाना चाहते हों उनका हाल मालूम हो जाय। फिर जो कोई महाशय इसमें ज़ियादा परिचय या नमूना इनका जानना चाहते हों वे जनवरी सन १९१५ की सरस्वती को फिर से देख लें।

हमारा विचार है कि सब जन्मपत्रियाँ संक्षिप्त वृत्तांतों सहित एक पृथक् पुस्तक के रूप में छाप दी जाँय।

(१) राव जोधा जी, जोधपुर—जन्मसंवत् १४७२। (२) राव सूजा जी, जोधपुर—जन्मसं० १४९६। (३) राव दूदा जी, मेड़ता—जन्मसं० १४९७। (४) राव बीका जी, बीकानेर—जन्मसं० १४९७। (५) कँवर बाघाजी, जोधपुर—जन्मसं० १५१४। (६) राव लूणकरण जी, बीकानेर—जन्मसं० १५१७। (७) राव बीरमदे जी, मेड़ता—जन्मसं० १५३४। (८) राव साँगा जी, चित्तोड़—जन्मसं० १५३८। (९) राव गाँगा जी, जोधपुर—जन्मसं० १५४०। (१०) राव जैतसी, बीकानेर—जन्मसं० १५४२। (११) ज्योतिषी चंडू जी, जैसलमेर—जन्मसं० १५५०। (१२) राठौड़ कूंपा जी, जोधपुर—जन्मसं० १५५६। (१३) बहादुरशाह, गुजरात—जन्मसं० १५६२। (१४) राठौड़ जयमल, मेड़ता—जन्मसं० १५६४। (१५) राव मालदेव जी,

जोधपुर—जन्मसं० १५६८। (१६) राव कल्याणमल, बीकानेर—जन्मसं० १५७५। (१७) राना उदयसिंह जी, उदयपुर—जन्मसं० १५७८। (१८) राव रायसिंह, सिरोही—जन्मसं० १५८०। (१९) हसनकुलीखां, जन्मसं० १५८०। (२०) राव दूदा, सिरोही—जन्मसं० १५८०। (२१) राय राम, जोधपुर—जन्मसं० १५८५। (२२) कँवर रतनसिंह, जोधपुर—जन्मसं० १५८९। (२३) कँवर भोजराज, जोधपुर—जन्मसं० १५९०। (२४) मोटाराजा उदयसिंह, जोधपुर—जन्मसं० १५८४। (२५) महाराना प्रतापसिंह, उदयपुर—जन्मसं० १५८७। (२६) राव चंद्रसेन, जोधपुर—जन्मसं० १५९९। (२७) राजा रायसिंह, बीकानेर—जन्मसं० १५९९। (२८) अकबर बादशाह, दिल्ली—जन्मसं० १५९९। (२९) राव मानसिंह, सिरोही—जन्मसं० १५९६। (३०) राजा मानसिंह जी, आमेर—जन्मसं० १६०७। (३१) राव रामसिंह, गवालियर—जन्मसं० १६०८। (३२) मिरजा शाहारुख, बदख़शां—जन्मसं० १६०९। (३३) राजा जगन्नाथ कछवाहा, आमेर—जन्मसं० १६१०। (३४) माधोसिंह कछवाहा, आमेर—जन्मसं० १६१०। (३५) महाराना सगर, उदयपुर—जन्मसं० १६१२ (३६) याकूतख़ां, जन्मसं० १६१३। (३७) नवाब ख़ानख़ाना, जन्मसं० १६१३। (३८) कँवर भगवानदास, जोधपुर—जन्मसं० १६१४। (३९) कँवर नरहरदास, जोधपुर—जन्मसं० १६१४। (४०) ख़ानजहाँ, दिल्ली—जन्मसं० १६१६। (४१) महाराना अमरसिंह, उदयपुर—जन्मसं० १६१६। (४२) राव भीम, जेसलमेर—जन्मसं० १६१६। (४३) राजा दलपत, बीकानेर—जन्मसं० १६२१। (४४) कँवर सक्तसिंह, जोधपुर—जन्मसं० १६२४। (४५) कँवर दलपत, जोधपुर—जन्मसं० १६२५। (४६) कँवर भोपत, जोधपुर—जन्मसं० १६२५। (४७) जहाँगीर बादशाह, दिल्ली—जन्मसं० १६२६। (४८) राव सूरसिंह जी, जोधपुर—जन्मसं० १६२७। (४९) राव आसकरण, जोधपुर—जन्मसं० १६२७। (५०) राव रतन हाड़ा, बूंदी—जन्मसं० १६२८। (५१) खान आलम,

दिल्ली—जन्मसं० १६२९ । (५२) बाई मानमती, जोधपुर—जन्मसं० १६२८ । (५३) नवाब महाबतखां, दिल्ली—जन्मसं० १६२८ । (५४) जाम जस्सा जी, जामनगर—जन्मसं० १६२८ । (५५) अबदुल्लहखां, दिल्ली—जन्मसं० १६३१ । (५६) आसफखां, जन्मसं० १६३१ । (५७) हिम्मत खां, दिल्ली—जन्मसं० १६३१ । (५८) राठौड़ कर्मसेन, भिणाय (अजमेर)—जन्मसं० १६३२ । (५९) राजा भावसिंह, आमेर—जन्मसं० १६३३ । (६०) कछवाहा कर्मचंद, आमेर—जन्मसं० १६३३ । (६१) सादिक खां, दिल्ली—जन्मसं० १६३५ । (६२) नूर-जहाँ बेगम, दिल्ली—जन्मसं० १६३८ । (६३) राजा विक्रमाजीत, बाँधो-गढ़ रीवाँ—जन्मसं० १६३९ । (६४) राजा किशनसिंह, किशनगढ़—जन्मसं० १६३९ । (६५) कँवर माधोसिंह, जोधपुर—जन्मसं० १६३९ । (६६) बड़गूजर अनीराय, अनूपशहर—जन्मसं० १६४० । (६७) राजा महासिंह, आमेर—जन्मसं० १६४२ । (६८) राठौड़ राज-सिंह, जोधपुर—जन्मसं० १६४३ । (६९) खानखाना का बेटा मिरज़ा एरज, दिल्ली—जन्मसं० १६४३ । (७०) इसलाम खां, दिल्ली—जन्मसं० १६४४ । (७१) मिरज़ादा राव, खानखाना का बेटा, दिल्ली—जन्मसं० १६४४ । (७२) मीरखां, दिल्ली—जन्मसं० १६४४ । (७३) शाहज़ादा खुशरो, दिल्ली—जन्मसं० १६४४ । (७४) रावल पुंजा, डूंगरपुर—जन्मसं० १६४५ । (७५) राजा जुझारसिंह बुंदेला, उरछा—जन्मसं० १६४५ । (७६) अल्ला वेरदी, दिल्ली—जन्मसं० १६४५ । (७७) शाहज़ादा परवेज़, दिल्ली—जन्मसं० १६४६ । (७८) शाहजहां बादशाह, दिल्ली—जन्मसं० १६४८ । (७९) खवासखां, दिल्ली—जन्मसं० १६४८ । (८०) राव सूरसिंह भुरटिया, बीकानेर—जन्मसं० १६५१ । (८१) महाराजा गजसिंह, जोधपुर—जन्मसं० १६५२ । (८२) राजा जगन्नाथ, ईडर—जन्मसं० १६५३ । (८३) राठौड़ महेश दलपतोत, जोधपुर—जन्मसं० १६५३ । (८४) चौहान राव वदनू, साचोर—जन्मसं० १६५४ । (८५) राजा विट्ठलदास गौड़, राजगढ़—जन्मसं० १६५५ । (८६) राव महेशदास, जन्मसं० १६५५ । (८७)

खानज़मां, महाबत खां का बेटा, दिल्ली— जन्मसं० १६५५। (८८) माधोसिंह हाड़ा, कोटा—जन्मसं० १६५६। (८९) भाटी रघुनाथ, जोधपुर—जन्मसं० १६५७। (९०) श्री विट्ठलनाथ गोस्वामी, वृंदावन—जन्मसं० १६५७। (९१) मिरज़ा रहमान, दाहखानखां का बेटा, दिल्ली—जन्मसं० १६५७। (९२) भाटी रामचंद्र, जेसलमेर—जन्मसं० १६५७। (९३) मिरज़ा मनुचहर मिरज़ा एरज का बेटा, दिल्ली—जन्मसं० १६५९। (९४) शायस्ताखां, दिल्ली—जन्मसं० १६६२। (९५) राठोड़ चतुरभुज, जोधपुर—जन्मसं० १६६२। (९६) राव शत्रुशाल हाड़ा, बूंदी—जन्मसं० १६६३। (९७) महाराना जगतसिंह, उदयपुर—जन्मसं० १६६४। (९८) विक्रमाजीत बुंदेला, उरछा—जन्मसं० १६६६। (९९) नवाब सादुल्लाह खां, दिल्ली—जन्मसं० १६६६। (१००) मिरज़ा बहरबर, दिल्ली—जन्मसं० १६६७। (१०१) राजा जयसिंह, आमेर—जन्मसं० १६६८। (१०२) शत्रुशाल भुरटिया, बीकानेर—जन्मसं० १६६८। (१०३) रतन जी, राजा राजसिंह का बेटा, बीकानेर—जन्मसं० १६६९। (१०४) दलेर हिम्मत, महाबत खां का बेटा, दिल्ली—जन्मसं० १६७०। (१०५) राव अमरसिंह, नागोर—जन्मसं० १६७०। (१०६) आदिल खां, बीजापुर—जन्मसं० १६७१। (१०७) लुहरास्प, महाबत खां का बेटा, दिल्ली—जन्मसं० १६७१। (१०८) शाहज़ादा दाराशिकोह, दिल्ली—जन्मसं० १६७१। (१०९) शाहज़ादा शुजा, दिल्ली—जन्मसं० १६७३। (११०) राव अखेराज देवड़ा, सिरोही—जन्मसं० १६७४। (१११) औरंगज़ेब बादशाह, दिल्ली—जन्मसं० १६७५। (११२) राठोड़ रतन महेशदासोत, रतलाम—जन्मसं० १६७५। (११३) मियां फ़रासत, दिल्ली—जन्मसं० १६७६। (११४) राव भावसिंह हाड़ा, बूंदी—जन्मसं० १६८०। (११५) शाहज़ादा मुराद बख़श, दिल्ली—जन्मसं० १६८१। (११६) महाराजा जसवंतसिंह, जोधपुर—जन्मसं० १६८२। (११७) महाराजा शिवाजी, सितारा—जन्मसं० १६८३। (११८) महाराना राजसिंह, उदयपुर—जन्मसं० १६८७। (११९) कवँर अरसी, उदयपुर—जन्मसं० १६८७।

(१२०) राठौड़ सुजानसिंह, अजमेर—जन्मसं० १६८७। (१२१) गोस्वामी विट्ठलनाथ का बेटा, वृंदावन—जन्मसं० १६८८। (१२२) महाराजा जयसिंह का बेटा, आमेर—जन्मसं० १६८८। (१२३) राव रायसिंह, नागौर—जन्मसं० १६९०। (१२४) शाहज़ादा सुलेमान शिकोह, दिल्ली—जन्मसं० १६९१। (१२५) राजा रामसिंह, आमेर—जन्मसं० १६९१। (१२६) कँवर कीरतसिंह, आमेर—जन्मसं० १६९४। (१२७) राजा अनूपसिंह, बीकानेर—जन्मसं० १६९५। (१२८) राजा रामसिंह, रतलाम—जन्मसं० १६९५। (१२९) राठौड़ दुर्गादास, जोधपुर—जन्मसं० १६९५। (१३०) शाहज़ादा मोअज़्ज़म, दिल्ली—जन्मसं० १७००। (१३१) प्रतापसिंह उदयसिंहोत, जन्मसं० १७००। (१३२) काशीसिंह रुकमसिंहोत, खरवा अजमेर—जन्मसं० १७०१। (१३३) राठौड़ फतेसिंह नाहरखानोत, जोधपुर—जन्मसं० १७०१। (१३४) शाहज़ादा सिपहर शिकोह, दाराशिकोह का बेटा, दिल्ली—जन्मसं० १७०२। (१३५) राठौर पदमसिंह, बीकानेर—जन्मसं० १७०२। (१३६) राठौड़ तेजसिंह, जोधपुर—जन्मसं० १७०२। (१३७) फ़तहसिंह उदयसिंहोत मेड़तिया, जोधपुर—जन्मसं० १७०३। (१३८) राठौड़ सूपमल्ली नाहरखानोत, जोधपुर—जन्मसं० १७०५। (१३९) राव इंद्रसिंह जी, नागौर—जन्मसं० १७०७। (१४०) चांपावत धनराज, जोधपुर—जन्मसं० १७०७। (१४१) राठौड़ मोहकमसिंह, जोधपुर—जन्मसं० १७०९। (१४२) महाराजकुँवर पृथ्वीसिंह जी, जोधपुर—जन्मसं० १७०९। (१४३) राना जयसिंह, उदयपुर—जन्मसं० १७१०। (१४४) आजमशाह, औरंगज़ेब का बेटा, दिल्ली—जन्मसं० १७१०। (१४५) राठौड़ महेशदास नाहरखानोत, जोधपुर—जन्मसं० १७१०। (१४६) भीम राणावत, उदयपुर—जन्मसं० १७११। (१४७) राठौड़ उदयसिंह लखधीरोत, जोधपुर—जन्मसं० १७११। (१४८) राना संग्रामसिंह, उदयपुर—जन्मसं० १७११। (१४९) राठौड़ केसरीसिंह भाकरसिंहोत, जोधपुर—जन्मसं० १७१२। (१५०) राठौड़ कुशलसिंह नाहरखानोत, जोधपुर—

जन्मसं० १७१२।(१५१) रावल जसवंतसिंह, जेसलमेर—जन्मसं० १७१३। (१५२) राजा मानसिंह रूपसिंहोत, किशनगढ़—जन्मसं० १७१३। (१५३) राठौड़ उदयकरण नाहरखानोत, जोधपुर—जन्मसं० १७१३। (१५४) शाहज़ादा अकबर, औरंगज़ेब का बेटा, दिल्ली—जन्मसं० १७१४।(१५५) राठौड़ हरीसिंह, जोधपुर—जन्मसं० १७१५। (१५६) राठौड़ अनूपसिंह, जोधपुर—जन्मसं० १७१५।(१५७) राठौड़ हिम्मतसिंह नाहरखानोत, जोधपुर—जन्मसं० १७१५। (१५८) चांपावत मुकनदास सुजाणसिंहोत, जोधपुर—जन्मसं० १७१६। (१५९) सुलतान मोअज़म का बेटा, दिल्ली—जन्मसं० १७२१।(१६०) भंडारी विट्ठलदास, जोधपुर—जन्मसं० १७२३। (१६१) भंडारी खीमसी, जोधपुर—जन्मसं० १७२३। (१६२) कँवर मेदिनीसिंह जी, जोधपुर—जन्मसं०—।(१६३) कँवर अजबसिंह, जोधपुर—जन्मसं० १७२७। (१६४) चांपावत प्रतापसिंह सांवतसिंहोत, जोधपुर—जन्मसं० १७२७। (१६५) कँवर जगतसिंह, जोधपुर—जन्मसं० १७२७। (१६६) राना अमरसिंह, उदयपुर—जन्मसं०—। (१६७) भंडारी रघुनाथ, जोधपुर—जन्मसं० १७३०। (१६८) महाराजा अजीतसिंह जी, जोधपुर—जन्मसं० १७३५। (१६९) राना दलथमण, जोधपुर—जन्मसं० १७३५।(१७०) राजा प्रतापसिंह, किशनगढ़—जन्मसं० १७३८ (१७१) बादशाह फर्रुख सियर, दिल्ली—जन्मसं० १७४२। (१७२) राना संग्रामसिंह, उदयपुर—जन्मसं० १७४३। (१७३) पंचोलीलाल जी, जोधपुर—जन्मसं० १७४४। (१७४) मोहणोत अमर सिंह, जोधपुर—जन्मसं० १७४४।(१७५) राजा अनूपसिंह जी का बेटा, बीकानेर—जन्मसं० १७४५। (१७६) राजा जेतसी, बीकानेर—जन्मसं० १७४५। (१७७) चांपावत महासिंह, जोधपुर—जन्मसं० १७४८। (१७८) सुरताणसिंह, जन्मसं० १७५२। (१७९) पदमसिंह मेड़तिया, जोधपुर—जन्मसं० १७५५। (१८०) बादशाह मोहम्मद शाह, दिल्ली—जन्मसं० १७५६। (१८१) महाराजा अभयसिंह, जोधपुर—जन्मसं० १७५६। (१८२) कँवर अखयसिंह, जोधपुर—

जन्मसं० १७६० । (१८३) महाराजा बख़तसिंह, जोधपुर—जन्मसं० १७६३। (१८४) कँवर छत्रसिंह जी, जोधपुर–जन्मसं० १७६४। (१८५) कँवर जोतसिंह जी, जोधपुर—जन्मसं० १७६४। (१८६) भंडारी अमर-सीह खींवसी का बेटा, जोधपुर—जन्मसं० १७६४। (१८७) दुर्जनसाल हाड़ा, कोटा—जन्मसं० १७६५। (१८८) राना जगतसिंह जी, उदयपुर—जन्मसं० १७६६। (१८९) सेरसिंह, जोधपुर—जन्मसं० १७६६। (१९०) कँवर किशोरसिंह, जोधपुर—जन्मसं० १७६६। (१९१) कँवर प्रतापसिंह, जोधपुर—जन्मसं० १७६८। (१९२) राजा जोरावरसिंह, बीकानेर—जन्मसं० १७६९। (१९३) रतनसिंह, जोधपुर—जन्मसं० १७७४। (१९४) सुरतानसिंह, जोधपुर—जन्मसं० १७७५। (१९५) महाराजा ईश्वरीसिंह, सवाई जयसिंह का बेटा, जयपुर—जन्मसं० १७७९। (१९६) राजा गजसिंह, बीकानेर—जन्मसं० १७७९। (१९७) जोधा इंद्रसिंह, जोधपुर—जन्मसं० १७८०। (१९८) राना प्रतापसिंह, जगतसिंह का बेटा, उदयपुर—जन्मसं० १७८१। (१९९) अहमदशाह बादशाह दिल्ली—जन्मसं० १७८४। (२००) महाराजा माधोसिंह, जयसिंह का बेटा, जयपुर—जन्मसं० १७८४ (२०१) महाराजा विजयसिंह, जोधपुर—जन्मसं० १७८६। (२०२) महाराजा रामसिंह जी, जोधपुर—जन्मसं० १७८७। (२०३) महाराजा राजा-सिंह, बीकानेर—जन्मसं० १८०१। (२०४) महाराजा सूरतसिंह, बीकानेर—जन्मसं० १८२२। (२०५) महाराजा भीमसिंह, जोध-पुर—जन्मसं० १८२२। (२०६) महाराजा मानसिंह, जोधपुर—जन्मसं० १८३९। (२०७) महाराजा रतनसिंह, बीकानेर—जन्मसं० १८४७। (२०८) श्रीमती महारानी विक्टोरिया, लंदन—जन्मसं० १८७५। (२०९) महाराजा तख़तसिंह, जोधपुर—जन्मसं० १८७५। (२१०) महाराजा सरदारसिंह, बीकानेर—जन्मसं० १८७५। (२११) महाराजा रामसिंह, जयपुर—जन्मसं० १८९१। (२१२) महाराजा जसवंतसिंह, जोधपुर—जन्मसं० १८९२। (२१३) श्रीसप्तम एडवर्ड कैसरहिंद, लंदन—जन्मसं० १८९८ (२१४) सुलतान अबदुल हमीदखां, रूम—जन्मसं० १८९९।

———

८—सिंधुराज की मृत्यु और भोज की राजगद्दी।

[लेखक—रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, अजमेर]
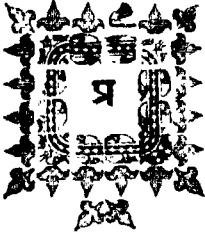
प्रसिद्ध विद्यानुरागी परमारवंशी राजा भोज के पिता, तथा राजा मुंज के छोटे भाई, राजा सिंधुराज का देहांत कब और कैसे हुआ यह अभी तक अनिश्चित है। परमारों के शिलालेखों, दानपत्रों तथा ऐतिहासिक ग्रंथों में इसका कुछ भी उल्लेख नहीं मिलता। इसका कारण यही है कि विशेष प्रसंग को छोड़ कर हमारे यहाँ ऐसी घटनाओं का उल्लेख नहीं किया जाता। राजा युद्ध में जीतता हुआ वीरगति पावे, या असाधारण रीति पर देह छोड़े, तब तो वह बात कही जाती है, परंतु जब कभी कोई राजा शत्रु के हाथ युद्धक्षेत्र में मारा जाता है या हार जाता है अथवा कैद होकर मरता है तब उसके वंश के इतिहासलेखक तो उस घटना का अपलाप या गोपन करते हैं किंतु विपक्ष के लोग अपने वंश का उत्कर्ष प्रकट करने के लिये, कभी कभी बहुत बढ़ा चढ़ा कर, उसका उल्लेख अवश्य करते हैं।

जयसिंहसूरि अपने कुमारपालचरित में गुजरात के सोलंकी राजा चामुंडराय के वृत्तांत में लिखता है कि 'चामुंडा के वर से प्रबल होकर चामुंडराज ने मदोन्मत्त हाथी के समान सिंधुराज को युद्ध में मारा'[1]। यहाँ पर सिंधुराज का अर्थ सिंधु देश का राजा

(१) रेजे चामुंडराजोऽथ यश्चामुंडावरोद्धुरः।
सिंधुरेंद्रमिवोन्मत्तं सिंधुराजं मृधेऽवधीत ॥

(कुमारपालचरित १।३१)

जयसिंहसूरि ने वि० सं० १४२२ (ई० स० १३६५) में इस काव्य की रचना की थी।

और सिंधुराज नामक राजा दोनों ही प्रकार से हो सकता है। यह निर्णय करना है कि दोनों में से कौन सा अर्थ ठीक है।

वड़नगर से मिली हुई सोलंकी राजा कुमारपाल की प्रशस्ति में, जो वि० सं० १२०८ (ई० स० ११५१) आश्विन शुदि ५, गुरुवार, की है, लिखा है कि 'उस (मूलराज) का पुत्र राजाओं का शिरोमणि चामुंडराज हुआ, जिसके मस्त हाथियों के मदगंध की हवा के सूंघने मात्र से, दूर से ही, मदरहित होकर भागते हुए अपने हाथियों के साथ ही साथ राजा सिंधुराज इस तरह से नष्ट हुआ कि उसके यश की गंध तक न रही[2]।'

इस श्लोक में 'नष्टः' के अर्थ 'भागा' और 'मारा गया' दोनों ही हो सकते हैं, किंतु कुमारपालचरित से ऊपर उद्धृत किए गए श्लोक में और इसमें एक ही चामुंडराज से एक ही सिंधुराज के पराजय का वर्णन होने से दोनों को मिलाने से 'मारा गया' अर्थ करना ही ठीक है। यहाँ पर 'सिंधुराजः' का विशेषण 'क्षोणिपतिः' होने से 'सिंधुराज नामक राजा' ही अर्थ कर सकते हैं, सिंध देश का राजा नहीं; क्योंकि वैसा होने से क्षोणिपतिः (=भूपति) पद 'सिंधुराजः' के साथ नहीं आ सकता। इस प्रशस्ति का संपादन करते समय डाक्टर बूलर भ्रम में पड़ गए और असली अर्थ को न निकाल सके। उन्होंने 'सिंधुराजः' का अर्थ 'सिंध देश का राजा' किया[3] और उससे क्षोणिपतिः का मेल न मिलता देखकर पादटीका में 'क्षोणिपतिर्यस्य' की जगह 'क्षोणिपतेर्यस्य' पाठ सुधार कर अर्थ किया 'जिस राजा के (यश का गंध इत्यादि)'। परंतु जब मूल में प्रत्यक्ष 'क्षोणिपतिर्यस्य'

(२) सूनुस्तस्य बभूव भूपतिलकश्चामुंडराजाह्वयो
यद्गंधद्विपदानगंधपवनाघ्राणेन दूरादपि।
विभ्रस्यन्मदगंधभग्नकरिभिः श्रीसिंधुराजस्तथा
नष्टः क्षोणिपतिर्यथास्य यशसां गंधोपि निर्नाशितः॥
(एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द १, पृ० २९७)

(३) एपि० इंडिका, जि० १, पृ० २९४, ३०२।

पाठ है तब उसके बदलने की क्या आवश्यकता है ? अतएव यह निश्चित है कि चामुंडराज के हाथ से युद्ध में सिंधुराज नामक राजा ही मारा गया, सिंध देश का राजा नहीं। चामुंडराय का समकालीन परमार सिंधुराज को छोड़ कर और कोई सिंधुराज न था, इसलिये यही सिंधुराज चामुंडराज के हाथों मारा गया।

इन दोनों श्लोकों में चामुंडराज के युद्ध का समय नहीं दिया गया इसलिये इस घटना का समय निश्चित करने की आवश्यकता है। सिंधुराज अपने भाई मुंज (वाक्पतिराज) के पीछे गद्दी पर बैठा। संवत् १०५० (ई० स० ९९३) में अमितगति ने सुभाषितरत्नसंदोह बनाया, उस समय मुंज विद्यमान था(४)। उसके पीछे किसी समय वह कल्याण के सोलंकी राजा तैलप के हाथों परास्त हुआ और कैद होकर शत्रु के यहां मारा गया। तैलप का देहांत सं० १०५४ (ई० सन ९९७) में हुआ, इसलिये मुंज की मृत्यु सं० १०५० और १०५४ (ई० सं० ९९३ और ९९७) के बीच में किसी समय हुई(५)।

मुंज ने अपने भाई सिंधुराज के पुत्र भोज को, उसके सद्गुणों से प्रसन्न होकर, अपना उत्तराधिकारी बनाया था किंतु मुंज की मृत्यु के समय भोज बालक था इसलिये उसका पिता सिंधुराज ही भाई के स्थान पर मालवा (उज्जैन) की गद्दी पर बैठा। गुजरात के सोलंकी राजा चामुंडराज ने, जिसने सिंधुराज को परास्त करके मारा,(६)

(४) समारूढे पूतत्रिदिववसतिं विक्रमनृपे
सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पंचाशदधिके।
समाप्तं पंचम्यामवति धरणिं मुंजनृपतौ
सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम् ॥
(अमितगति का सुभाषितरत्नसंदोह)

(५) गौरीशंकर हीराचंद ओझा—सोलंकियों का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ७७, ८० ।

(६) गुजरात (अनहिलवाड़ा) के सोलंकियों और धार के परमारों में वंशपरंपरागत अस्थिवैर हो गया था, दोनों बराबर लड़ते रहे। इस वैर का आरंभ चामुंडराज के द्वारा सिंधुराज के मारे जाने ही से हुआ हो।

विक्रम संवत् १०५२ से १०६६ तक (ईसवी सन् ६६६ से १०१०) चौदह वर्ष राज्य किया, अतएव सिंधुराज की मृत्यु इन्हीं संवतों के बीच किसी समय हुई और उसकी मृत्यु का संवत् ही भोज के गद्दी बैठने का संवत् मानना चाहिए। डाक्टर बूलर ने भी भोज के सिंहासनारूढ़ होने का समय ई० सन् १०१० (विक्रम संवत् १०६६-६७) अनुमान किया है[७]।

जैन लेखक मुनि सुंदरसूरि के शिष्य शुभशील ने अपने भोजप्रबंध में भोज के राज्यसिंहासन पर बैठने का समय विक्रम संवत् १०७८ (ई० स० १०२१) लिखा है—

> विक्रमाद् वासरादष्टमुनिव्योमेंदुसंमिते।
> वर्षे मुंजपदे भोजभूपो (!) पट्टे निवेशितः॥[८]

यह कथन सर्वथा मान्य नहीं क्योंकि प्रथम तो भोज मुंज के स्थान पर नहीं बैठा, वह सिंधुराज के पीछे गद्दी पर बैठा; दूसरे भोज का एक दानपत्र विक्रम संवत् १०७६ (ई० स० १०२०) माघ शुक्ल ५ का मिल गया है[९]। इस ताम्रपत्र का उल्लिखित दान 'कोंकण[१०] विजयपर्वणि' अर्थात् कोंकण देश (के राजा) के विजय के वार्षिकोत्सव पर दिया गया है।

भोज ने कोंकण विजय करके तैलप के हाथों मुंज के मारे जाने का बदला लिया। इस दानपत्र से सिद्ध होता है कि संवत् १०७६ से कम से कम एक वर्ष पहले कोंकण विजय हो चुका था, और भोज को राजगद्दी पर बैठे भी कुछ समय बीत चुका था, तभी तो वह इतना प्रबल और पराक्रमी हुआ कि कोंकण विजय कर सका, जो राज्यसिंहासन पर बैठने के प्रथम या द्वितीय वर्ष में संभव नहीं।

(७) एपि० इंडिका, जिल्द १, पृ० २३२।

(८) प्रबंधचिंतामणि, बंबई की छपी, पृ० ३३१।

(९) यह दानपत्र एपि० इंडिका, जिल्द ११, पृ० १८१-१८३ में छपा है और असली ताम्रपत्र राजपूताना म्यूज़ियम, अजमेर, में है।

(१०) उस समय कोंकण पर जयसिंह (दूसरे) सोलंकी का राज्य था, जो तैलप का पौत्र था (गौ० ही० ओझा—सोलंकियों का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० १३३)

बल्लाल पंडित के भोजप्रबंध के अनुसार हिंदी की पुस्तकों में भी यह प्रवाद प्रचलित हो गया है कि सिंधुल (सिंधुराज) अपने बालक पुत्र भोज को अपने छोटे भाई मुंज को सौंप गया और मुंज ने राज्यलोभ से उसे मार डालना चाहा इत्यादि। बल्लाल पंडित, या प्रबंधचिंतामणि के जैन लेखक और भोजचरित्र के कर्ता आदि भोज के इतिहास से ठीक ठीक परिचित न थे, जिससे उनके ग्रंथों में अनेक ऊटपटांग बातें मिलती हैं। परमारों का वंशक्रम यह है कि वैरिसिंह, उसके पीछे उसका पुत्र सीयक (श्रीहर्ष), उसका पुत्र मुंज (वाक्पतिराज), उसका छोटा भाई सिंधुराज, उसके पीछे सिंधुराज का पुत्र भोज। नागपुर से मिले हुए वि० सं० ११६१ (ई० स० ११०४) के शिलालेख में,[11] तथा उदयादित्य के लेख में[12] यही क्रम दिया है। सिंधुराज के राजत्वकाल में परिमल (पद्मगुप्त) कवि ने नवसाहसांकचरित काव्य लिखा। उसमें सिंधुराज तक का यही क्रम है। तिलकमंजरी का कर्ता धनपाल कवि मुंज, सिंधुराज और भोज तीनों का समकालीन था। उसने भोज के राज्य में अपना काव्य रचा। उसने भी यही वंशानुक्रम बताया है[13]। इन प्रमाणों से इन प्रबंधों का कथन निर्मूल सिद्ध होता है।

---

(११) एपि० इंडिका, जि० २ पृ० १८३–८९।

(१२) एपि० इंडिका, जि० १ पृ० २३५।

(१३) श्रीवैरिसिंह इति दुर्धरसैन्यदंतिदंताग्रभिन्नचतुरर्णवकूलभित्तिः ॥४०
तत्राभूद्वसतिः श्रियामपरया श्रीहर्ष इत्याख्यया विख्यातः......
श्रीसीयकः.........॥४१॥ तस्योदग्रयशाः...सुतः...श्रीसिंधुराजोऽभवत्। ......यस्य स श्रीमद् वाक्पतिराजदेवनृपतिर्वीराग्रणीरग्रजः ॥४२॥ ..... तस्याजायत मांसलायतभुजः श्रीभोज इत्यात्मजः। प्रीत्या योग्य इति प्रतापवसतिः ख्यातेन मुंजाख्यया यः स्वे वाक्पतिराजभूमिपतिना राज्येऽभिषिक्तः स्वयम् ॥४३॥
(तिलकमंजरी)

६–चारणों और भाटों का झगड़ा।

बारहट लक्खा का परवाना।

[लेखक—पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी बी० ए०, अजमेर]

तीर्थगुरु और पंडों की बहियों की खोज करने से बहुत सी इतिहास के काम की बातें मिल सकती हैं। उज्जैन में चारणों के कुलगुरु शक्तिदान जी[1] हैं। उनकी चौथी बही के ५८३ वें पत्रे पर एक परवाना है। यह बारहट लक्खा का दानपत्र है। मारवाड़ के आउवा ग्राम के रहनेवाले आंगदेश बारहट मुरारीदान जी ने इस पट्टे की प्रतिलिपि मुझे ला कर दी, इसलिये मैं लेख के आरंभ में धन्यवादपूर्वक उनका स्मरण करता हूँ। नकल पर मुरारीदान जी ने लिखा है—

नकल परवाना कुलगुरु शक्तीदानजी रे चौपड़ा[2] ४ रे पाने ५८३ रे मु: उज्जैण।

परवाने के चारों कोनों पर चार गोल मुहरें हैं। प्रत्येक में यह इबारत है—

॥ श्री ॥ श्रीदीलीपत पातस्याहजी श्री १०८ श्री अकबर साहजी बंदे दवागीर[3] बारट लषा

बारहट लक्खा के विषय में मुंशी देवीप्रसाद जी ने कृपा करके जो लिख भेजा है वह यहाँ उद्धृत किया जाता है। टिप्पणियों में भी जो कुछ मुंशी जी की कृपा से प्राप्त हुआ है वह चौकोर ब्रैकेट [ ] में 'दे०' इस संकेत के साथ लिखा गया है।

---

१. [इनके घर मैं भी गया हूँ और दुर्गादास राठौड़ और कवि कलश के प्रसंग वगैरह के पत्रों की नकलें लाया हूँ। दे०]

२. बही।

३. आशीर्वादक सेवक।

[ये रोहड़िया जाति के बारहट गाँव नानणपाई परगना साकड़े के रहनेवाले थे। बद्रीनाथ की यात्रा को गए थे, छींका टूट जाने से पहाड़ों के नीचे गिर पड़े। चोट ज्यादा नहीं लगी। पास ही पगडंडी थी जिसपर कुछ दूर चल कर एक जगह पहुँचे जहाँ चार धूनियाँ जग रही थीं जिनमें तीन पर तो तीन अतीत बैठे तापते थे, चौथी खाली थी। अतीतों ने लक्खा जी से पूछा कि कहाँ रहता है? यहाँ क्यों कर आया? इन्होंने कहा 'महाराज! दिल्ली मंडल में मेरा गाँव है, बद्रीनाथ जी की यात्रा को जाता था, छींका टूट पड़ा जिससे आपकी सेवा में उपस्थित हुआ। चौथे महात्मा कहाँ हैं उनके भी दर्शन हो जावें तो वापिस चला जाऊँ। उन्होंने कहा कि वह तो तेरी दिल्ली में राज करता है। लक्खा जी ने कहा कि महाराज, दिल्ली में तो अकबर बादशाह राज करता है। कहा, हाँ, वही अकबर इस चौथी धूनी का अतीत है, तू उससे मिलेगा? कहा, महाराज, वहाँ तक मुझे कौन जाने देगा? कहा, हम चिट्ठी लिख देंगे।

लक्खा जी उनकी चिट्ठी और कुछ भस्मी लेकर दिल्ली में आए। बादशाह की सवारी निकली तो दूर से वह चिट्ठी और राख की पोटली दिखाई। बादशाह ने पास बुला कर हाल पूछा और वे दोनों चीज़ें ले लीं। कहा कि हमारी धूनी में तेरा भी सीर (साझा) हो गया और उनको अपने पास रख लिया।

यह कथा जैसी सुनी वैसी लिख दी है। मालूम नहीं कि यह सही थी या लक्खा जी ने बादशाह को हिंदुओं के धर्म की तरफ झुका हुआ देख कर वहाँ घुस पैठ होने के वास्ते गढ़ ली थी।

कहते हैं कि बादशाह ने लक्खा जी को अंतरवेद में साढ़े तीन लाख रुपये की जागीर देकर मथुरा रहने को दी जहाँ लक्खा जी बड़े ठाठ से रहते थे। बादशाह की उन पर पूरी मेहरबानी थी। बादशाह ने उन्हें बरणपतसाह अर्थात् चारणों के बादशाह की पदवी भी दी थी जिसकी साख (प्रमाण) का यह दोहा है—

अकबर मुँह सूँ आखिया, रूडा कहै दोहूँ राह।
मैं पतसाह दुन्यानपत, लखा बरणपतसाह॥

यह भी कहते हैं कि एक बार जोधपुर के राजा उदयसिंह जी मथुरा में लक्खा से मिलने गए, पर लक्खा जी ने तीन दिन तक उनसे मुलाक़ात नहीं की, क्योंकि उन्होंने मारवाड़ के शासन-गाँव (चारणों को दिए हुए) ज़ब्त कर लिए थे जिसके वास्ते बहुत से चारण आउवे में धरना दे कर मर गए थे। चौथे रोज अपनी ठकुरानी (स्त्री) के यह कहने पर कि निदान तो आपके धणी (स्वामी) हैं इनसे इतनी बेपरवाही नहीं करना चाहिए, वे राजा जी से मिले।

चारणों में लक्खा जी का बड़ा जस है, क्योंकि बादशाह की आशा करके जो कोई चारण दिल्ली आगरे में जाता था तो लक्खा जी किसी न किसी उपाय से उसको दरबार में ले जाकर बादशाह का मुजरा करा देते थे, जिससे उसकी मनशा पूरी हो जाती थी। इसी वास्ते ये लोग अब तक भी यह दोहा पढ़ पढ़ कर उनकी कीर्ति बढ़ाते हैं। यह आढ़ा जाति के चारण दुरसा जी का कहा हुआ सुना जाता है—

दिल्ली दरगह अंब फल, ऊँचा घणा अपार।
चारण लक्खो चारणां. डाल नवाँवणहार॥

अकबर बादशाह की तवारीख़ में तो लक्खा का नाम कहीं नहीं आता है लेकिन गाँव टहले के बारहटों के पास, जो लक्खा जी की औलाद हैं, कई पट्टे परवाने हैं, जिन्हें देखने से पाया जाता है कि लक्खा अकबर बादशाह के समय से जहाँगीर के समय तक विद्यमान थे। लक्खा जी के नाम का एक पट्टा संवत् १६५८ का और दूसरा संवत् १६७२ का है। पहले पट्टे में उनके बेटे नरहरदास का नाम भी है और दूसरे में दोनों बेटों नरहरदास और गिरिधर के नाम हैं।

पहला पट्टा राजा उदयसिंह के बेटे दलपतसिंह का है जिसमें लक्खा और नरहरदास को गाँव धानणिया (धानणवा), परगने चौरासी, देना लिखा है। इसकी मिति मगसिर सुदि २ है और जब दलपत जी आगरे में थे तब यह लिखा गया। परगना चौरासी जिसे अब परबत-

सर कहते हैं बादशाह की तरफ से जागीर में होगा। दलपत जी के वंश में रतलाम का राज्य है।

दूसरा पट्टा महाराज सूरसिंह और महाराजकुमार गजसिंह के नाम का है जिसमें लिखा है कि बारहट लक्खा, नरहर और गिरधर को तीन शासन गाँव दिए गए हैं—

१ रेंदड़ी, परगने सोजत, गांव हाथुड़ी के बदले

२ सीकलानड़ी, परगने जैतारण (वर्तमान नाम सांगलावस)

३ उचियाहैड़ा, परगने मेड़ता (वर्तमान नाम उचियार्डो)

लक्खा की संतान में लक्खावत बारहटों के कई ठिकाने मारवाड़ में हैं जिनमें मुख्य गाँव टहला परगने मेड़ते में है। लक्खा जी की कविता भी है। उनके बेटे नरहरदास ने एक बड़ा ग्रंथ हिंदी भाषा में अवतारचरित्र नाम का बनाया है जो छप भी गया है। मारवाड़ में वही भागवत की जगह पढ़ा पढ़ाया जाता है। दे०]

परवाने की नकल आवश्यक टिप्पणियों के साथ यहाँ पर दी जाती है। परवाने का आशय यह है कि दिल्ली में बादशाह के सामने भाटों ने चारणों की निंदा की। इस पर लक्खा ने जैसलमेर के ग्राम जाजियों से कुलगुरु गंगाराम जी को बुलाया। उन्होंने चारणोत्पत्ति शिवरहस्य सुनाया जिससे भाट झूठे सिद्ध हुए। इसपर लक्खा ने उनका सत्कार किया और दिल्ली के "घणा ऊँचे अंबफलां की डाल नमावण हार" इन बारहट जी ने बावन हजार बीघा जमीन उज्जैन के परगने में दिलवाकर बादशाह की ओर से ताम्रपत्र करवा दिया। विवाह तथा दान के अवसरों पर सब चारणों से गुरु के वंश को नियत धन देते रहने का अनुरोध भी इस परवाने में किया गया है। परवाने पर माघ शुक्ल ५, संवत् १६४२ की मिति है और पंचोली पन्नालाल के हस्ताक्षर हैं।

इससे जाना जाता है कि चारण भाटों का झगड़ा[४] अकबर के दर-

[४] [चारण भाटों का झगड़ा बहुत पुराने समय से चला आता है। दोनों एक दूसरे को बुरा कहते हैं। किसी ढोली ने कूल-कुलमंडण ग्रंथ चारणों की उत्पत्ति का बड़े मज़े का बनाया है। इसका नाम ब्रजलाल था और यह मारवाड़ का रहने वाला था। कूल या कूला भी चारण जाति का नाम है। दे०]

बार तक भी पहुँचा था और जाति-निर्णय पर व्यवस्थाएँ लेने की चाल रिज़्ले साहब की मर्दुमशुमारी से ही नहीं चली है।

परवाना।

लीषावतां[५] बारटजी[६] ओलपोजी समसत[७] चारण वरण वीसजात्रा[८] सीरदारां सूं[९] श्रीजेमाताजी की[१०] बाच ज्यो अठे[११] तपत आगरा श्रीपा-

---

५. (अमुक की) ओर से लिखा गया।

६. बारट = बारहट = द्वारहठ। चारणों का एक उच्च भेद। राजपूतों के विवाह पर ये द्वार पर हठ करके अपने नेग लेते हैं इसी से ये पोलपात भी कहलाते हैं। पोलपात = पौलपात्र = प्रतोलीपात्र। [सरदारों में इनका डेरा भी पौल में या पौल के ऊपर दिलाया जाता है। जोधपुर की फौज ने एक ठाकुर की हवेली घेर ली थी। पौल लगी थी। जब ठाकुर लड़ने को बाहर निकलने लगा तब यह सवाल हुआ कि पौल कौन खोले क्योंकि जो खोले पहले वही मारा जावे। निदान पोलपात चारण ने कहा कि पौल मैं खोलूँगा क्योंकि इस पौल के नेग पाता हूँ। उसने पौल खोल दी। पहला गोला उसी पर पड़ा और वह वहीं मारा गया। दे०]

७. समस्त (सब)।

८. 'वीसोत्रा' चाहिए। [चारणों की एक सौ बीस जातें या गोत हैं इससे कुल चारणों की बिरादरी वीसोतर या वीसोत्रा कहलाती है। दे०]

९. राजपूताने में अब तक बिरादरी के समस्त लोग 'सरदार' कह कर संबोधित किए जाते हैं।

१०. चारण शाक्त होते हैं। भगवती उनकी कुलदेवी है। आपस में वे 'जै माता जी की' कह कर नमस्कार करते हैं। भगवती ने एक अवतार चारण कुल में लिया था जिससे चारण उन्हें बुआजी या बाईजी भी कहते हैं। ये 'करणी' जी किसी सांयात्रिक की तूफान से रक्षा करके गीले कपड़ों ही बीकानेर से एक स्टेशन इधर देशणोक (देशनोक) ग्राम में अपने मंदिर में आई इसीसे वहां के कुओं का पानी अत्यंत खारी है। करणी जी के मंदिर में चारणों और राजपूतों की बहुत मानता है। उस मंदिर में चूहे अमर हैं। सारा जगमोहन, निजमंदिर और प्रतिमा तक चूहों से ढके रहते हैं। वे दर्शनियों के सिर, गले और टांगों पर भी चढ़ जाते हैं। उन्हें बाजरा खिलाया जाता है। मारना तो दूर रहा, उन्हें झिड़कना भी महापाप है। कहते हैं जिससे चूहा मर जाय वह सोने का चूहा चढ़ावे तो देवी क्षमा करें। [ये चूहे काबा (लुटेरे) कहलाते हैं। 'करनीजीरा काबाओं' की मेंगनियों से सारा मंदिर गंदा रहता है, दस पांच चारण लट्ठियां लिए बिल्ली से उनको बचाने के लिये पहरे पर बैठे रहते हैं। बिल्ली आ जाय तो बहुधा मारी जाती है। पर कभी कभी कुछ काबों को ले भी जाती है। दे०] ११. यहाँ।

तसाजी श्री १०८ श्री अकबर साहजी रा हजुरात[12] दरीषांना मांहीं[13] भाट चारणां रा कुल री नंदीक[14] कीधी[15] जण[16] वषत समसत[17] राजेसुर[17] हाजर था वां का[18] सेवागीर[19] वी[20] हाजर था जकां[21] सुण भर[22] मो सु[23] समंचार कह्या जद[24] मब पंचां री सला सु[25] कुलगुरु गंगारांमजी प्रगणै[26] जेसलमेर गांव जाजीयां का जकाने[27] अरज लीष अठे[11] बुलाया गुर पधारया श्रीपातसाहजी नी कचकारी में चारण उत्पत्ती सास्त्र सिवरहस्य सुणायो पंडतां कबुल कीधो[28] जणपर[29] भाट झुटा पड्या गुरां चारण बंसरी पुपत राषी[30] नीवाजस[31] सारां[32] बुतासु[33] सीवाय[34] बंदगी कीधी ओर मारा बुता माफक हाती लाष पसाव[35] प्रथक[36] दीधो[37] गांव की ओवज[38] बावन

---

१२. हुजूर में। १३. दरबार में (राजपूताना में दरबारी मजलिस अभी तक दरीखाना कहलाती है)। १४. निंदा। १५. की। १६. जिस।

१७. राज्येश्वर = राजा महाराजा। १८. उनके।

१९. सेवक—यह शायद चारणों के लिये ही आया है [चारण अपने को सेवागीर नहीं कहते। इसका अर्थ नौकर-चाकर भी हो सकता है। एक बार जोधपुर दरबार से कविराजा (महामहोपाध्याय) मुरारदान जी और मुंशी मुहम्मद मखदूमजी के नाम एक मिसल पर राय लिखने का हुक्म आया था। उसके जवाब में मुहम्मद मखदूम ने अर्जी लिखी उसमें ताबेदार का शब्द था। उसी तौर से कविराजा जी के नवीसंदे पंचोली चतुरभुजजी ने भी 'ताबेदार कविराज मुरारदान की अर्ज मालूम हो' लिखा, तो कविराज जी ने कहा कि ताबेदार मत लिखो दुवागीर (दुआगो, देखो नोट ३) लिखो। तब मैंने चतुरभुजजी से कहा कि कविराज जी तो देवता बनते हैं और तुम ताबेदार बनाते हो। इस पर कविराज जी ने हँस कर कहा, हाँ ठीक। उन्हीं दिनों कविराज जी ने चारणों की उत्पत्ति की एक पुस्तक बनाई थी जिसमें चारणों को देवता सिद्ध किया था, इसलिये मैंने मजाक में ऐसा कहा था। दे०]

२०. भी। २१. जिन्होंने। २२. सुन और = सुनकर। २३. मुझसे। २४. अब।

२५. सलाह से। २६. परगने। २७. जिन्हें। २८. स्वीकार किया। २९. जिसपर। ३०. (बात) दृढ़ रक्खी।

३१. बख्शिश। ३२. सबने। ३३. बिरते से। ३४. बढ़ कर। ३५. [ब्राह्मणों का दान दक्षिणा कहलाता और चारणों का दान लाखपसाव, कोड़पसाव और अरबपसाव, जिसमें एक गांव अवश्य होता है। दे०] पसाव = प्रसाद। हाती = हाथी। ३६. पृथक् (अलग)। ३७. दिया। ३८. बदले में।

हजार बीगा[39] जमी[40] ऊजेण के प्रगने दीधी जकणांरा[41] तांबापत्र श्रीपातसाहजी का नांव को कराय दीधो अण[42] सवाय[43] आगा सु[44] चारण वरण सममत पंचां कुलगुरु गंगाराम जी का बाप दादा ने ब्याव[45] हुवे[46] जकण में[47] कुल[48] दापा[49] रा रुपीया १७॥) और त्याग[50] परट हुवे[51] जीण मां मोतीसरां[52] को नांवो बंधे[53] जीण सु दुणा[54] नांवो कुलगुरु गंगारामजी का बेटा पोता[55]

---

३६. बीघा । ४०. ज़मीन । ४१. जिसका । ४२. इस (के) । ४३. अतिरिक्त । ४४. आगे से । ४५. विवाह । ४६. होवे । ४७. जिसमें ।

४८. संपूर्ण । ४६. दान, नेग ।

५०. विवाह के अवसर पर राजपूत जो बधाई की रकम चारणों को देते हैं उसे त्याग कहते हैं । चारण इसे बहुत लड़ झगड़ कर मांगते हैं । वाल्टरकृत राजपुत्र हितकारिणी सभा ने इसकी परमावधि और बांटने के नियम बांध दिए हैं । भांड़िया वास के आसिया चारण बुधदान ने त्याग कम करने या बंद करनेवालों पर जल कर यह कविता कही है—

> जासी त्याग जकारां घर सु ं जातां लाग न लागे जेज ।
> धररो तोल न बांधो धणियां त्याग तणी किह बांधो तोल ?
> जासी त्याग जकां का घर सू ं जाती धरती करै जुहार ।
> दीजै दोस किसू ं सिरदारां जमी जावरा अंक जरूर ॥

अर्थात् जिनके घर से त्याग जावेगा उनके यहाँ से तलवार (त्याग = खग = खड्ग) जाते देर न लगेगी । स्वामियो ! त्याग का हिसाब तो बाँधते हो, जमीन का हिसाब नहीं बांधते ? जिनके घर से त्याग जायगा उन्हें जाती हुई पृथ्वी भी सलाम करती है । सरदारो ! दोष किसे दें ? ये लक्षण तो अवश्य भूमि छिन जाने के हैं ।

५१. दिया जावे [फ़रद या सूची बने । दे०]

५२. जैसे राजपूतों के चारण यश गानेवाले और त्याग मांगनेवाले होते हैं वैसे चारणों के याचक मोतीसर नामक जाति है ।

५३. नाम पर नियत हो । ५४. दुगुना ।

५५. ऊपर जो 'बाप दादा ने' आया है वह भी 'बेटा पोता ने' ही होना चाहिए । या यह अर्थ हो कि बाप दादों को जो मिलता आया है वह तो बेटे पोतों को मिलता ही रहे और मोतीसरों से दूनी रकम दापे के रुपयों से अतिरिक्त मिला करे ।

पायां जासी संमत १६४२ रा मती माहा सूद ५ दसकत पंचोली[56] पन्नालाल हुकम बारठ जी का सु लीपी तपत आगरा समस्त पंचांकी सलाह सू आपांणो[57] यां[58] गुरां सू अधीकता[59] दुजो नहीं छै[60] =

५६. पंचोली = पंचकुली (देखो, 'राजा पंचकुलमाकार्य', प्रबंधचिंतामणि, बंबई की छपी, पृष्ठ १४०) पंचकुल = राजकर वसूल करने वाला राजसेवक समाज, उसका एक जन। अब साधारणतः पंचोली कायस्थ जाति के मुत्सद्दियों का उपनाम हो गया है और यहाँ भी यही अर्थ है किंतु वास्तव में जिसे पंचकुल का अधिकार होता वही पंचकुल या पंचकुली या पंचोली कहलाता। यह उपाधि ब्राह्मण, महाजन, गूजर आदि कई जातियों में मिलती है और दीवान, भंडारी, मेहता, नाणावाटी आदि की तरह (जो ब्राह्मण, वैश्य, खत्री, कायस्थ, पारसी, जैन श्रावक (सरावगी) आदि सबमें कहीं न कहीं प्रचलित है) पद की सूचक है, न कि जाति की। कुछ पंचोली (कायस्थ) पंचाल (= पंजाब ?) देश से आने से हमारी उपाधि पंचोली है ऐसा कहते हैं। जो असार है [पंचोली पंचोल से बना है। मारवाड़ी बोली में पंचोल पंचायत (= पंचकुल) को कहते हैं। गाँवों के झगड़ों को कानूनगो लोग, जो बहुत से कायस्थ ही होते और ओसवाल या सरावगी कम, पहले मिटा दिया करते थे। परंतु कानूनगो का ओहदा जारी होने के पीछे कानूनगो कहलाने लगे। कायस्थ पंचोली ही कहलाते रहे। पूरब में ब्राह्मण जो गांव वालों का काम करते हैं पंचोरी कहलाते हैं। मारवाड़ में पंचोली का उपनाम झामरिया जाति के माथुर कायस्थ खींमसी से चला है। ये राव चूंडाजी के समय में दिल्ली की तरफ से रगट (परगने नागौर) के हाकिम हो कर दिल्ली से आए थे। दे०]

५७. अपना। ५८. इन। ५९. अधिकतः, बढ़ कर। ६०. है।

१०--हस्त-लिखित हिंदी पुस्तकों की खोज (१)।

[लेखक—बाबू श्यामसुंदरदास बी. ए., लखनऊ।]

सन् १८६८ ई० में भारत सरकार ने लाहौरनिवासी पंडित राधाकृष्ण के प्रस्ताव को स्वीकार कर भारतवर्ष के भिन्न भिन्न प्रांतों में हस्त-लिखित संस्कृत पुस्तकों की खोज का काम आरंभ करना निश्चय किया और इस निश्चय के अनुसार अब तक संस्कृत पुस्तकों की खोज का काम सरकार की ओर से बंगाल की एशियाटिक सुसाइटी, बंबई और मद्रास गवर्मेंटों तथा अन्य संस्थाओं और विद्वानों द्वारा निरंतर होता आरहा है। इस खोज का जो परिणाम आज तक हुआ है और इससे भारतवर्ष की जिन जिन साहित्यिक तथा ऐतिहासिक बातों का पता चला है वे पंडित राधाकृष्ण की बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता तथा भारत सरकार की समुचित कार्यतत्परता और विद्यारसिकता के प्रत्यक्ष और ज्वलंत प्रमाण हैं। संस्कृत पुस्तकों की खोज-संबंधी डाक्टर कीलहार्न, बूलर, पीटर्सन, भंडारकर और बर्नेल आदि की रिपोर्टों के आधार पर डाक्टर आफ्रेक्ट ने तीन भागों में, संस्कृत पुस्तकों तथा उनके कर्त्ताओं की एक बृहत् सूची छापी है जो बड़े महत्त्व की है और जिसके देखने से संस्कृत-साहित्य के विस्तार तथा उसके महत्त्व का पूरा पूरा परिचय मिलता है। इसका नाम कैटेलोगस कैटलोगोरम है। ऐसे ही महत्त्व के ग्रंथ आफरेक्ट का आक्सफर्ड की बोडलियन लाइब्रेरी का सूचीपत्र, एगलिंग का इंडिया आफिस की पुस्तकों का सूचीपत्र, और वेबर का बर्लिन के राजपुस्तकालय का सूचीपत्र है।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना के पहले ही वर्ष (सन् १८९३ ई०) में इसके संचालकों का ध्यान इस महत्त्वपूर्ण विषय की ओर आकर्षित हुआ। सभा ने इस बात को भली भाँति समझ लिया और उसे इसका पूरा पूरा विश्वास होगया कि भारत-वर्ष की, विशेष कर उत्तर भारत की, बहुत सी साहित्यिक तथा ऐतिहासिक बातें बेठनों में लपेटी, अँधेरी कोठरियों में बंद हस्तलिखित हिंदी-पुस्तकों में छिपी पड़ी हैं। यदि किसी को कुछ पता भी है अथवा किसी व्यक्ति विशेष के घर में कुछ हस्तलिखित पुस्तकें संगृहीत भी हैं तो वे या तो मिथ्या मोहवश अथवा धनाभाव के कारण इन छिपे हुए रत्नों को सर्वसाधारण के सम्मुख उपस्थित कर अपनी देशभाषा के साहित्य को लाभ पहुँचाने और उसे सुरक्षित करने से पराङ्मुख हो रहे हैं।

सभा यह भली भाँति समझती थी कि इन छिपी हुई हस्त-लिखित पुस्तकों को खोज कर ढूँढ़ निकालने में तथा इनको प्राप्त करने में बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, क्योंकि सभ्यता की इस बीसवीं शताब्दी में भी ऐसे बहुत से लोग मिल जाते हैं जो अपनी प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों को, देने की बात तो दूर रही, दिखाने में भी आनाकानी करते हैं। तथापि यह सोच कर कि कदाचित् नीति, धैर्य और परिश्रम से काम करने पर कुछ लाभ अवश्य होगा, सभा ने यह विचार किया कि यदि राजपूताने, बुंदेल-खंड, संयुक्त प्रदेश तथा अवध और पंजाब में प्राचीन हस्तलिखित हिंदी-पुस्तकों के संग्रहों के खोजने की चेष्टा की जाय और उनकी एक सूची बनाई जा सके तो आशा है कि सरकार के संरक्षण, अधिकार तथा देख रेख में इस खोज की अच्छी सामग्री मिल जाय। पर सभा उस समय अपनी बाल्यावस्था तथा प्रारंभिक स्थिति में थी और ऐसे महत्त्वपूर्ण और व्ययसाध्य कार्य का भार उठाने में सर्वथा असमर्थ थी। अतएव उसने भारत सरकार और एशियाटिक सुसाइटी बंगाल से यह प्रार्थना की कि भविष्य में हस्तलिखित संस्कृत पुस्तकों की

खोज और जाँच करने के समय यदि हिंदी की हस्तलिखित पुस्तकें भी मिल जाँय तो उनकी सूची भी छपाकर प्रकाशित कर दी जाय। एशियाटिक सुसाइटी ने सभा की इस प्रार्थना पर उचित ध्यान देते हुए उसकी अभिलाषा को पूर्ण करने की इच्छा प्रगट की। भारत सरकार ने भी इसी तरह का संतोषजनक उत्तर दिया। सन १८९५ के आरंभ में ही एशियाटिक सुसाइटी ने खोज का काम बनारस में आरंभ कर दिया और उस वर्ष लगभग ६०० पुस्तकों की नोटिसें तैयार की गईं। दूसरे वर्ष उक्त सुसाइटी ने इस काम के करने में अपनी असमर्थता प्रगट की और वहीं इस कार्य की इति श्री हो गई। यह दुःख की बात है कि इन पुस्तकों की कोई सूची तक अब तक प्रकाशित नहीं की गई है। सभा ने संयुक्त प्रदेश की सरकार से भी खोज का काम कराने की प्रार्थना की थी। प्रांतिक सरकार ने अपने यहाँ के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर महाशय को लिखा कि वे संस्कृत-पुस्तकों की खोज के साथ ही साथ उसी ढंग पर ऐतिहासिक तथा साहित्यिक महत्त्व की हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज का भी उचित प्रबंध कर दें। सरकार की इस आज्ञा की अवहेलना की गई और उसके अनुसार कुछ भी कार्य नहीं हुआ। यह अवस्था देख मार्च सन १८९९ में सभा ने प्रांतिक सरकार का ध्यान फिर इस ओर आकर्षित किया। अब के बार सरकार ने इस कार्य के लिये सभा को ४००) की वार्षिक सहायता देना और खोज की रिपोर्ट को अपने व्यय से प्रकाशित करना स्वीकार किया। उस समय से अब तक सभा इस काम को बराबर कर रही है। अब तक आठ रिपोर्टें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें से पहली ६ (सन १९०० से १९०५ तक) तो वार्षिक हैं और शेष दो त्रैवार्षिक (सन १९०६-१९०८ और १९०९-१९११) हैं। नवीं रिपोर्ट सरकार के पास विचारार्थ भेजी जा चुकी है और दसवीं लिखी जा रही है। सरकार ने इस खोज के काम के लिये अब १०००) की वार्षिक सहायता देना आरंभ कर दिया है। अब तक जो आठ रिपोर्टें प्रकाशित हो चुकी हैं उनमें से कुछ चुनी हुई महत्त्वपूर्ण बातों का वर्णन आगे दिया जाता है।

सन् १९००

इस खोज का काम नियमित रूप से सन् १९०० में आरंभ हुआ। इस वर्ष सब मिलाकर २५७ पुस्तकों की जाँच की गई जिनमें से १६९ पुस्तकों का विवरण[1] रिपोर्ट में दिया है। इनमें से १५७ पुस्तकें ९० ग्रंथकर्ताओं की बनाई हुई हैं। शेष १२ ग्रंथों के रचयिताओं का पता न चल सका। जिन ९० ग्रंथकर्ताओं का पता चला उनमें से १ बारहवीं शताब्दी का, २ चौदहवीं के, १ पंद्रहवीं का, २२ सोलहवीं के, १८ सत्रहवीं के, १८ अठारहवीं के और १२ उन्नीसवीं शताब्दी के थे। बाकी १६ ग्रंथकर्ताओं के समय का पता नहीं लग सका। इन १६ ग्रंथों के अज्ञात ग्रंथकर्ताओं में से एक का समय १७८१ ई० है। प्रायः सभी पुस्तकें पद्य में हैं। अधिकांश ग्रंथों का लिपिकाल सत्रहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी है, कुछ अठारहवीं शताब्दी के और एक सोलहवीं शताब्दी का है। इनकी लिपि देवनागरी, कैथी और मारवाड़ी है। इस वर्ष की रिपोर्ट में निम्नलिखित बातें महत्त्व की हैं।

(१) सबसे महत्त्व की पुस्तक जिसका विवरण इस वर्ष की रिपोर्ट में दिया गया है "पृथ्वीराजरासो" है। इसकी तीन प्रतियों का इस वर्ष पता चला जिनका लिपिकाल क्रमशः संवत् १६४०, १८५९ और १८७८ है। संवत् १६४० से पहले की लिखी हुई पृथ्वीराज-रासो की प्रति अब तक कहीं नहीं मिली है। एशियाटिक सुसाइटी बंगाल के कार्यविवरणों में यह प्रकाशित किया गया है कि उक्त संस्था को चंदबरदाई के असली रासो की प्रति का पता चल गया है और उसका कुछ अंश उसके देखने में भी आया है। राजपूताने की

[1] इन विवरणों के लिये प्रायः "नोटिस" शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस विवरण में ग्रंथ का नाम, ग्रंथकर्ता का नाम, ग्रंथ का विस्तार, (अर्थात् प्रति ग्रंथ की अनुमानतः कितनी श्लोक-संख्या है। प्रति श्लोक ३२ अक्षरों का माना जाता है।) लिपि, निर्माणकाल, लिपिकाल, ग्रंथ की अवस्था (अर्थात् जीर्ण, नवीन, प्राचीन, पूर्ण, खंडित आदि), रक्षित रहने का स्थान आदि रहता है और ग्रंथ के आदि और अंत का अंश उद्धृत किया जाता है।

ऐतिहासिक ख्यातों की खोज का काम भी एशियाटिक सुसाइटी के द्वारा हो रहा है। इसकी पहले वर्ष की रिपोर्ट में पृथ्वीराजरासो की इस प्रति से कुछ अंश उद्धृत भी किया गया है। पर आज तक यह पता न लगा कि पृथ्वीराजरासो की यह प्रति कागज़ भोजपत्रादि में से किस पर लिखी मिली है। उसमें कोई लिपिकाल दिया है या नहीं और वह किन अक्षरों में लिखी है। जब तक इन बातों का पूरा पूरा विवरण न प्रकाशित किया जाय तब तक इसके असली होने का निश्चय नहीं हो सकता। जो अंश रिपोर्ट में उद्धृत किया गया है उससे इसके असली होने का कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलता। इस अवस्था में यही कहा जा सकता है कि पृथ्वीराजरासो की सबसे प्राचीन प्रति जिसका अब तक पता चला है, संवत् १६४० की लिखी है। इसमें ६४ समय[२] हैं। लोहानो आजानबाहु समय, पदमावती ब्याह समय[१] होलीकथा समय, महोबा समय और वीरभद्र समय इस प्रति में नहीं हैं। दुःख की बात है कि यह प्रति कहीं कहीं से खंडित है।

पृथ्वीराजरासो के प्रामाणिक होने में बहुत कुछ संदेह किया जाता है। इस संदेह का हवा को बहानेवाले पहले पहल उदयपुर के स्वर्गवासी महामहोपाध्याय कविराजा श्यामलदान जी हुए। उन्होंने एशियाटिक सुसाइटी की पत्रिका में एक लेख लिख कर इस ग्रंथ को अप्रामाणिक सिद्ध करने का उद्योग किया। उनके लिखने का इतना प्रभाव पड़ा कि एशियाटिक सुसाइटी ने, जो पृथ्वीराजरासो का एक संस्करण तथा उसका अँग्रेजी अनुवाद छाप रही थी, इस काम को बंद कर दिया। कविराजा श्यामलदान जी का अनुमान था कि पृथ्वीराजरासो अकबर के समय में बना। यह बात तो इस प्रति से खंडित हो जाती है। इसमें संदेह नहीं कि रासो, जैसा

---

२ "समय" से तात्पर्य सर्ग, अध्याय आदि से है।

१ एशियाटिक सुसाइटी की रिपोर्ट में पद्मावती विवाह उद्धृत किया गया है और इस प्रति में उस अंश का पूरा अभाव है। आश्चर्य की बात है कि प्राचीन प्रतियों में महोबा युद्ध के वर्णन का समय नहीं मिलता। यह युद्ध बड़े मार्के का हुआ है और इतिहास-प्रसिद्ध है।

वह हमें इस समय प्राप्य है, क्षेपकों से भरा पड़ा है। इन क्षेपकों की संख्या इतनी अधिक है कि इनको अलग करके शुद्धरूप में इसे प्रकाशित करना असंभव है। सन १९०१ की खोज में एशियाटिक सुसाइटी बंगाल के पुस्तकालय में एक प्रति "प्रथीराजरायसा" की मिली। यह दो जिल्दों में बँधी है और इसका लिपिकाल संवत् १९२५ है। पहले खंड का नाम "महोबा खंड" और दूसरे का "कन्नौज खंड" है। इसके प्रत्येक "समय" के अंत में कर्ता की जगह चंदबरदाई का नाम दिया है, पर विशेष जाँच करने पर यह ग्रंथ न तो पृथ्वीराजरासो ही ठहरा और न इसका कर्ता चंदबरदाई सिद्ध हुआ। पहले खंड में आल्हा ऊदल की कथा तथा परमारदेव और पृथ्वीराज के युद्ध का सविस्तर वर्णन है। दूसरे खंड में संयोगिता के स्वयंवर, अपहरण, विवाह आदि तथा पृथ्वीराज और जयचंद के युद्ध का विस्तार के साथ वर्णन है। जिस बात का वर्णन चंद के वर्तमान क्षेपकपूर्ण रासो में एक दो समयों में आगया है उसे इस प्रति में दो बड़े बड़े खंडों में समाप्त किया गया है और सारी कृति चंद के सिर मढ़ दी गई है[४]।

इस घटना के उल्लेख करने से मेरा तात्पर्य यही है कि जब बड़े बड़े ग्रंथ प्राचीन कवियों के नाम से बन सकते हैं तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि पृथ्वीराजरासो में क्षेपक भर गए हैं और अब उनका अलग करना कठिन हो गया है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने संवत् १६३१ में रामचरितमानस का लिखना प्रारंभ किया था और संवत् १६८० में उनकी मृत्यु हुई। इसे २९७ वर्ष हो चुके हैं। इस बीच में रामचरितमानस की यह दुर्गति हो गई है कि क्षेपकों की तो कुछ पूछ ही न रही, कांड भी सात के स्थान में आठ होगए। जब तीन सौ

४ मेरा अनुमान है कि यह ग्रंथ किसी बुंदेलखंडी कवि का बनाया हुआ है और उसने देशानुराग में मस्त हो कर अपने यहाँ की ऐतिहासिक घटनाओं को महत्त्व देने की इच्छा से इसे चंद के नाम से प्रचारित कर दिया है। देखो, परमालरासो, ना० प्र० ग्रंथमाला, भूमिका।

वर्षों में एक अत्यंत प्रचलित ग्रंथ की यह अवस्था हो सकती है तो ७५० वर्ष पुराने ग्रंथ के संबंध में जो न हो जाय सो थोड़ा है।

सन् १९०० की रिपोर्ट में इस बात को सिद्ध करने का बहुत उद्योग किया गया है कि पृथ्वीराजरासो बिल्कुल जाली नहीं है। इसके प्रमाण में अनेक बातें कही गई हैं। सबसे बड़ी बात जो इसके जाली होने के समर्थन में कही जाती है वह यह है कि इसमें भिन्न भिन्न घटनाओं के जो संवत् दिए हैं वे ठीक नहीं हैं। रिपोर्ट में इस बात पर विचार किया गया है और इसके लिये तीन घटनाएँ चुन ली गई हैं—(१) पृथ्वीराज और जयचंद का युद्ध, (२) पृथ्वीराज और परमर्दि का युद्ध, (३) पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन का युद्ध। पृथ्वीराज से संबंध रखनेवाले चार शिलालेखों का रिपोर्ट में उल्लेख है जो संवत् १२२४ से १२४४ के बीच के हैं। जयचंद से संबंध रखनेवाले तो अनेक दानपत्र मिल चुके हैं। इनमें से दो में जो संवत् १२२४ और १२२५ के हैं जयचंद को "युवराज" लिखा है और शेष में जो संवत् १२२६ से १२४३ के बीच के हैं उसे "महाराजाधिराज" लिखा है। इससे प्रमाणित होता है कि जयचंद कन्नौज की गद्दी पर संवत् १२२६ के लगभग बैठा था। परमर्दिदेव का काल दानपत्रों से १२२० से १२६० तक सिद्ध होता है। तबकाते नासिरी के अँग्रेज़ी अनुवाद के ४५६ वें पृष्ठ की एक टिप्पणी में मेजर रवर्टी ने शहाबुद्दीन की मृत्यु का समय ५८८ हिजरी (संवत् १२४८) सिद्ध किया है। इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि पृथ्वीराज विक्रम संवत् की तेरहवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में हुआ। पृथ्वीराज का अंतिम युद्ध संवत् १२४८ में हुआ। अब पृथ्वीराजरासो में पृथ्वीराज का जन्म संवत् १११५, दिल्ली गोद जाना संवत् ११२२, कन्नौज जाना संवत् ११५१ और अंतिम युद्ध संवत् ११५८ में लिखा है। इन चारों संवतों को जब हम और प्रमाणों से सिद्ध करने का उद्योग करते हैं तो यह पता लगता है कि ये चारों घटनाएं वास्तव में संवत् १२०५, १२१२, १२४१ और १२४८ में हुई। दोनों संवतों को मिलाने से इनमें ९० वर्ष का अंतर

स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यदि यह अंतर एक स्थान पर मिलता या किसी एक घटना के संबंध में होता अथवा भिन्न भिन्न घटनाओं के संबंध में संवतों का अंतर भिन्न भिन्न देख पड़ता तो हम इसे कवि की भूल मान लेते और ग्रंथ की ऐतिहासिकता में संदेह करते, पर जब सब स्थानों में ऐसे ही संवत् दिए हैं जिनका अंतर विक्रम संवत् से ९० वर्ष का है तो हमें विचार करना पड़ता है कि यह कवि की भूल नहीं हो सकती, वरंच उसका जान बूझ कर ऐसा करना जान पड़ता है। पृथ्वीराजरासो के आदि पर्व में यह दोहा मिलता है—

> एकादस सै पंचदह, विक्रम जिम ध्रमसुत्त।
> त्रतिय साक प्रथिराज को, लिष्यौ विप्रगुन गुप्त॥

अर्थात् जिस प्रकार ध्रमसुत (युधिष्ठिर) से ११११ वर्ष पीछे विक्रम का संवत् चला उसी प्रकार विक्रम से ११११ वर्ष पीछे पृथ्वीराज का तीसरा शाक ब्राह्मण (कवि) ने अपने गुण से गुप्त (गूढ़) करके लिखा है।

आगे चलकर यह दोहा मिलता है—

> एकादस सै पंचदह, विक्रम साक अनंद।
> तिहि रिपुजय पुर हरन को, भय प्रथिराज नरिंद॥

अर्थात् अनंद विक्रम साक (संवत्) के वर्ष ११११ में पृथ्वीराज का जन्म हुआ। इस संवत् का नाम अनंद विक्रम संवत् दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि पृथ्वीराज के समय में एक नए संवत् का प्रचार हुआ जो अनंद विक्रम संवत् कहलाया। अब यदि हम इस बात को ऊपर लिखे ९० वर्ष के अंतर से मिलाते हैं तो यह विदित होता है कि यह अनंद विक्रम संवत् वास्तविक विक्रम संवत् में से ९० वर्ष घटा देने से बनता है। यह संवत् क्यों चला और ९० वर्ष का अंतर क्यों माना गया इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। अनेक लोग इस संबंध में अनेक अनुमान करते हैं। कोई "अनंद" शब्द का अर्थ लगाता है, कोई ऐतिहासिक घटनाओं पर विचार कर उन्हें इसका

कारण बताता है, पर अब तक कोई ऐसी बात नहीं कही गई है जो सर्वथा मन में जम जाय।

उक्त वर्ष की रिपोर्ट में दस परवानों के फोटोचित्र छापकर इस बात के सिद्ध करने का उद्योग किया गया था कि यह अनंद संवत् उस समय के राजदर्बार के कागज पत्रों में प्रचलित था। पर इन परवानों के संबंध में अनेक लोग अनेक संदेहजनक बातें कहते हैं अतएव हमें उनकी प्रामाणिकता का कोई आग्रह नहीं है।

जो कुछ कहा गया है उसका सारांश इतना ही है कि पृथ्वीराज-रासो बिल्कुल जाली नहीं है। इसमें क्षेपकों की संख्या अवश्य अधिक है पर मूल चंदबरदाई का है।

(२) दूसरी महत्त्व की पुस्तक जिसका इस वर्ष पता चला वह गोस्वामी तुलसीदास जी रचित "रामचरितमानस" या रामायण है। गोस्वामी जी ने संवत् १६३१ में इस ग्रंथ का लिखना प्रारंभ किया था और संवत् १६८० में उनकी मृत्यु काशी में हुई। इस पुस्तक की जो प्रति इस वर्ष मिली वह संवत् १७०४ की लिखी है। यह महाराज काशिराज के पुस्तकालय में रक्षित है। सन् १९०१ की रिपोर्ट में इस ग्रंथ के बाल कांड और अयोध्या कांड की अत्यंत प्राचीन प्रतियों का विवरण दिया गया है। इनमें से बाल कांड तो संवत् १६६१ का लिखा है और अयोध्या कांड स्वयं तुलसीदासजी के हाथ का लिखा है। बाल कांड अयोध्या में रक्षित है और अयोध्या कांड राजापुर (बाँदा) में। अयोध्या में रक्षित प्रति संपूर्ण रामायण की है पर बाल कांड को छोड़ शेष ६ कांड नए लिखे हुए जान पड़ते हैं। बाल कांड में भी पहले पाँच पृष्ठ नवीन लिख कर लगाए गए हैं। छठे पृष्ठ से पुरानी प्रति प्रारंभ होती है। अंत के पत्र भी जीर्ण हो चले हैं अतएव उनकी रक्षा करने के लिये जहाँ तहाँ चिट लगा दिए गए हैं। पहले पत्रे पर हिंदी में कुछ लिखा है जो स्पष्ट पढ़ा नहीं जाता। इसमें "संवत् १८८९ कार्तिक कृष्ण ५ रविवार" लिखा है जिससे यह अनुमान होता है कि इस प्रति का उद्धार इस संवत् में किया गया। अंत में "संवत् १६६१

वैशाख सुदि ६ बुधे" लिखा है। अतएव यह स्पष्ट है कि पहले ५ पत्रों को छोड़ कर शेष प्रति संवत् १६६१ की लिखी है।

सन् १९०१ की रिपोर्ट में राजापुर में रक्षित अयोध्या कांड की प्रति का भी पूरा वर्णन है। कहते हैं कि गोस्वामी जी ने रामचरित-मानस की दो प्रतियाँ अपने हाथ से लिखी थीं, जिनमें से एक तो वे किसी भाट के पास मलिहाबाद (लखनऊ) में छोड़ गए और दूसरी अपने साथ राजापुर लेते गए। राजापुर वाली प्रति को एक बार कोई चोर ले भागा। लोगों ने उसका पीछा किया तो उसने समस्त पुस्तक यमुना की धार में फेंक दी। यमुना में से किसी प्रकार केवल अयोध्या कांड निकल सका। शेष कांडों का पता नहीं चला। कहते हैं कि यह प्रति वही यमुना से निकाली हुई प्रति है। इस पर अब तक जल के चिह्न हैं जिससे इस घटना की प्रामाणिकता पुष्ट होती है। मलिहाबाद वाली प्रति जनार्दन भट्ट नाम के एक पंडित के पास थी पर अब उसके वंशधरों के अधिकार में है। कहा जाता है कि यह प्रति भी तुलसीदास जी के हाथ की लिखी है। पर जाँच करने पर इस बात के सत्य होने में संदेह किया जाता है। जिन लोगों ने इस प्रति को देखा है उनका कहना है कि इसमें क्षेपक हैं जैसे गंगावतरण की कथा। इस अवस्था में इसे प्रामाणिक मानना असंभव है। अस्तु अब तक रामचरितमानस की तीन प्राचीन प्रामाणिक प्रतियों का पता चला है। एक तो बाल कांड जो अयोध्या में है और जो संवत् १६६१ की लिखी है। दूसरी अयोध्या कांड जो राजापुर (ज़िला बाँदा) में है पर जिस पर कोई सन् संवत् नहीं दिया है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने जीवन काल में एक पंचनामा लिखा था। यह महाराज काशिराज के यहाँ रक्षित है। इसके अक्षर राजापुर की प्रति से बिलकुल मिलते हैं। अतएव इसके तुलसीदास जी के हाथ की लिखी होने में कोई संदेह नहीं है। इसका लिपिकाल संवत् १६८० के पूर्व का होगा। तीसरी प्रति संवत् १७०४ की लिखी महाराज काशिराज के पुस्तकालय में रक्षित है। बाल कांड और

अयोध्या कांड के दो दो पत्रों का फोटोचित्र भी सन् १६०१ की रिपोर्ट में दिया गया है। हम इन दोनों चित्रों को यहाँ देकर विद्वानों को दोनों प्रतियों के अक्षरों को मिलाने का अवसर देते हैं। बाल कांड के एक पत्रे का पाठ जो चित्र में दिया है इस प्रकार है—

राष विधाता ॥
देषु जनक हठि वालकु एहू।
कीह्न चहत जड़ जमपुर गेहू॥
वेगि करहु किन आषिन्ह ओटा।
देषत छोट षोट नृप ढोटा॥
विहसे लषनु कहा मन माहीं।
मूदे आषि कतहुं कोउ नाहीं॥

॥ दोहा ॥

परसुरामु तव राम प्रति वोले उर अति क्रोधु।
संभु सरासनु तोरि सठ करसि हमार प्रबोधु ॥१८१॥

वंधु कहै कटु संमत तोरे।
तू छल विनय करसि कर जोरे॥
करु परितोषु मोर संग्रामा।
नाहि त छाड़ु कहाउव रामा॥
छलु तजि करहि समरु सिवद्रोही।
वंधु सहित नत मारौं तोही॥
भृगुपति वकहिं कुठार उठाए।
मन मुसुकाहि रामु सिर नाए॥
गुनह लषनु कर हम पर रोसू।
कतहू सुधाइहु ते वड दोसू॥
टेढ़ जानि सव वंदै काहू।
वक्र चंद्रमा ग्रसै न राहू॥
राम कहेउ रिस तजिअ मुनीसा।
कर कुठा

दूसरे अर्थात् बाल कांड के अंतिम पत्रे का पाठ इस प्रकार है—

इ तहं रामु व्याहु सबु गावा।
सुजस पुनीत लोक तिहु छावा॥
आए व्याहि रामु घर जब तें।
बसै अनंद अवध सब तब तें॥
प्रभु विवाह जस भयेउ उछाहू।
सकहि न बरनि गिरा अहिनाहू।
कवि कुल जीवनु पावन जानी।
राम सीय जसु मंगल षानी॥
तेहि ते मै कछु कहा वषानी।
करन पुनीत हेतु निज बानी॥

॥ छंदु॥

निज गिरा पावनि करन कारन राम जसु तुलसी कह्यो।
रघुवीर चरित अपार वारिधि पारु कवि कौने लह्यो॥
उपवीत व्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं।
वैदेहि राम प्रसाद ते जन सर्वदा सुषु पावहीं॥

॥ सोरठा॥

सिय रघुवीर विवाहु जे सप्रेम गावहि सुनहि।
तिन्ह कहु सदा उछाहु मंगलायतन राम जसु॥२६२॥

इति श्रीमद्रामचरितमानसे कल कलि कलुष विध्वंस........[१]
सुभमस्तु॥ संवत् १६६१ वैशाष शुदि ६ बुधे॥

राजापुर में रक्षित अयोध्या कांड के एक पत्रे का पाठ इस प्रकार है—

करउं इठ झूठ सनेहु बढ़ाइ।
मानि मातु कर नात वलि सुरति विसरि जनु जाइ॥२६॥

१ शेष अंश हाशिए पर लिखा है जो स्पष्ट पढ़ा नहीं जाता।
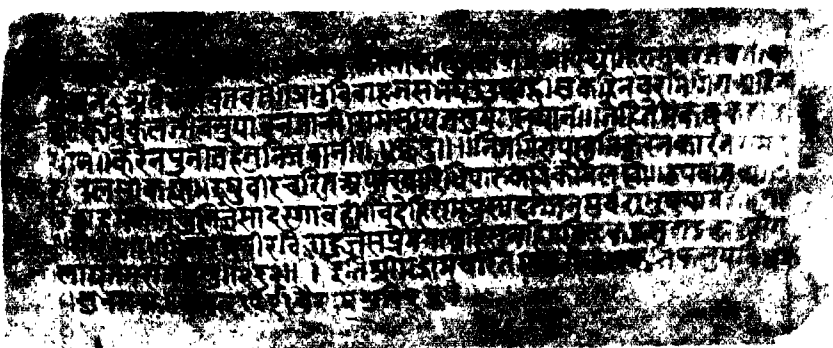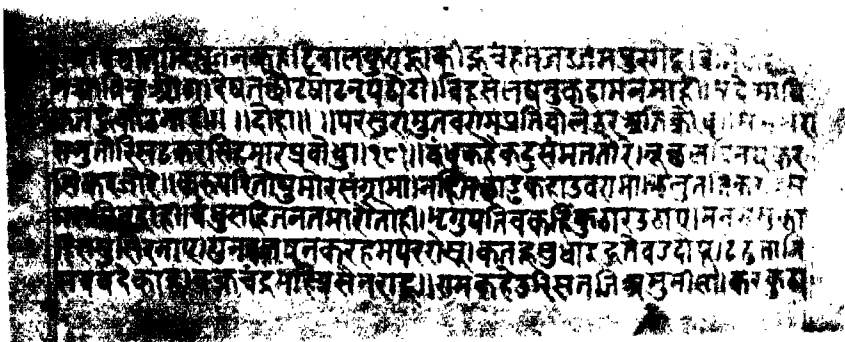
(क) अयोध्या में रक्षित बालकांड के दो पृष्ठों का चित्र।
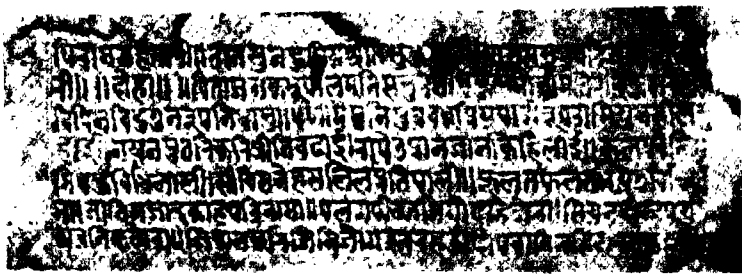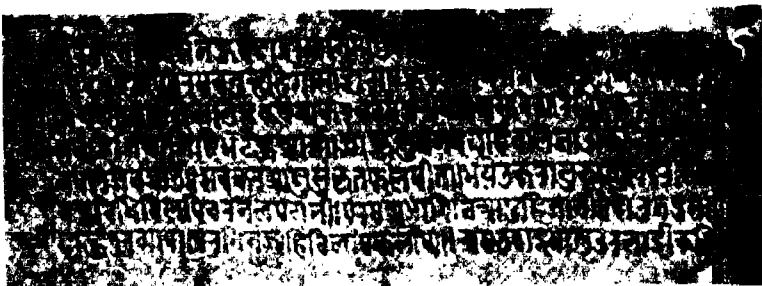
(ख) राजापुर में रक्षित अयोध्याकांड के दो पृष्ठों का चित्र।

देव पितर सब तुम्हहि गोसाई।
राषहु पलक नयन की नाई॥
अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना।
तुम्ह करुनाकर धरम धुरीना॥
अस विचारि सोइ करहु उपाई।
सबहि जिअत जिहि भेंटहु आई॥
जाहु सुषेन बनहिं बलि जाऊं।
करि अनाथ जन परिजन गाऊं॥
सब कर आजु सुकृत फल बीता।
भयेउ करालु कालु विपरीता॥
बहु विधि विलपि चरन लपटानी।
परम अभागिनि आपुहि जानी॥
दारुन दुसह दाहु उरु व्यापा।
बरनि न जाहिं विलाप कलापा॥
राम उठाइ मातु उर लाई।
कहि

इस पुस्तक के दूसरे पत्रे का पाठ इस प्रकार है

षि राम महंतारी॥
तात सुनहु सिय अति सुकुमारी।
सासु ससुर परिजनहि पियारी॥

॥ दोहा ॥

पिता जनक भूपाल मनि, ससुर भानु कुल भानु।
पति रवि-कुल कैरव, विपिनि, विधु गुनरूप निधानु॥५८॥

मैं पुनि पुत्र वधू प्रिय पाई।
रूप रासि गुन सील सुहाई॥
नयन पुतरि करि प्रीति बढाई।
राषेउ प्रान जानकिहि लाई॥

कलप बेलि जिमि बहु विधि लाली।
सींचि सनेह सलिल प्रतिपाली ॥
फूलत फलत भयउ विधि बामा।
जानि न जाहि काहि परनामा ॥
पलंग पीठ तजि गोद हिंडोरा।
सिय न दीन्ह पगु अवनि कठोरा ॥
जिअन मूरि जिमि जोगवत रहऊं।
दीप बाति नहि टारन कहऊं ॥

दोनों पुस्तकों के पाठों को मिलाने से यह स्पष्ट प्रगट होता है कि तुलसीदास जी के हाथ की लिखी प्रति में य और व के नीचे बिंदी दी है पर अयोध्या की प्रति में चार पाँच जगह छोड़ कर और कहीं ऐसा नहीं है। फिर दोनों में दीर्घ 'ई' की मात्रा लिखने में भी भेद है। सारांश यह है कि यदि राजापुर की प्रति तुलसीदास जी के हाथ की लिखी है तो अयोध्या की प्रति उनके हाथ की लिखी नहीं हो सकती।

(३) मलिक मुहम्मद जायसी ने सन् ९२७ हिजरी [संवत् १५७८] में पदमावती (पदमावत) नाम का काल्पनिक कथात्मक काव्य ग्रंथ लिखा था। हिंदी-साहित्य में बहुत दिनों तक जायसी की कृति ही इस विषय का सर्वोत्तम और सब से पहला ग्रंथ माना जाता था। पर इस वर्ष की खोज में पदमावती से १८ वर्ष पहले के बने हुए एक नवीन ग्रंथ का पता चला। यह शेख कुतबन का बनाया हुआ मृगावती नामक काव्य है। इसे सन् ९०९ हिजरी [संवत् १५६०-६१] में कवि ने रचा। कुतबन शेरशाह सूर के पिता हुसैन शाह के समय में हुआ और मलिक मुहम्मद शेरशाह के समय में। कुतबन हुसैनशाह के विषय में यह लिखता है—

साह हुसेन अहै बड़ राजा।
छत्र सिंहासन उनको छाजा ॥
पंडित औ बुधवंत सयाना।
पढ़े पुरान अरथ सब जाना ॥

धरम जुधिष्टिर उनको छाजा।
हम सिर छाह जियो जगराजा॥
दान देइ औ गनत न आवै।
बलि औ करन न सरवर पावै॥
राय जहां लौ गंध्रप रहहीं।
सेवा करहिं बार सब चहहीं॥

मलिक मुहम्मद शेरशाह के विषय में यह लिखता है—

शेरशाह दिल्ली सुलतानू। चारहुँ खंड तपै जस भानू॥
ओही छाज छात औ पाटा। सब राजैं भुइँ धरा लिलाटा॥
जाति सूर औ खाँडे सूरा। औ बुधवंत सबै गुन पूरा॥
सूर नवाई नवखंड भई। सातौ दीप दुनी सब नई॥
तहँ लग राज खड़्ग करि लीन्हा। इसकंदर जुलकरन जो कीन्हा॥
हाथ सुलेमां केरि अँगूठी। जग कहँ दान दीन्ह भरि मूठी॥
औ अति गरू भूमि पति भारी। टेक भूमि सब सृष्टि सँभारी॥

दीन्ह असीस मुहम्मद करहु जुगहि जुग राज।
बादशाह तुम जगत के जग तुम्हार मुहताज॥१३॥

बरनौं सूर भूमिपति राजा। भूमि न भार सहै जो साजा॥
हय मय सेन चलै जग पूरी। परबत टूटि उड़हिं होइ धुरी॥
परी रेणु होइ रविहिं गरासा। मानुष पंखि लेहि फिरि बासा॥
भुंइ उड़ि गइ अंतरिक्ष मृत मंडा। ऊपर होय छाव महि मंडा॥
डोलै गगन इंद्र हरि काँपा। बासुकि जाय पतारहिं चापा॥
मेरु धसमसै समुद सुखाई। बनखँड टूटि खेह मिलि जाई॥
अगलहिँ कहँ पानी गहि बाँटा। पिछलहिँ कहँ नहिं काँदो आँटा॥

जो गढ़ लियो न काहू चलत होय सब चूर।
जौ यह चढ़ै भूमिपति शेरशाह जग सूर॥ १४॥

अदल कहों प्रथमैं जस होई। चाँटा चलत न दुखवै कोई॥
नौशेरवाँ जो आदिल कहा। शाह अदल सर सौंहि न अहा॥
अदल जो कीन्ह उमर की नाई। भई अहाँ सगरी दुनयाई॥

परी नाथ कोई छुवै न पारा। मारग मानुष से उँजियारा॥
गऊ सिंह रेंगहिं एक बाटा। दोनों पानि पियें एक घाटा॥
नीर खीर छानै दरबारा। दूध पानि सब करै निरारा॥
धर्म नियाव चलै सत भाखा। दूबर बली एक सम राखा॥

सब पृथवी सीसहिं नई जोर जोर कै हाथ।
गंग जमुन जौं लहि जल तौ लहि अम्मर नाथ॥ १५॥

पुनि रूपवंत बखानों काहा। जावत जगत सबै मुख चाहा॥
ससि चौदस जो दई सँवारा। ताहूँ चाहि रूप उँजियारा॥
पाप जाइ जो दरसन दीसा। जग जुहार कै देत असीसा॥
जैस भानु जग ऊपर तपा। सबै रूप वह आगे छिपा॥
अस भा सूर पुरुष निरमरा। सूर जाहि दस आकर करा॥
सौंह दृष्टि करि हेर न जाई। जेहि देखा सो रहा सिर नाई॥
रूप सवाई दिन दिन चढ़ा। विधि सुरूप जग ऊपर गढ़ा॥

रूपवंत मनि माथे चंद्र घाटि वह बाढ़ि।
मेदिनि दरस लुभानि असतुति विनवै ठाढ़ि॥१६॥

पुनि दातार दई जग कीन्हा। अस जग दान न काहू दीन्हा॥
बलि विक्रम दानी बड़ कहे। हातिम करण तियागी अहे॥
शेरशाह सरि पूजन कोऊ। समुद सुमेर भंडारी दोऊ॥
दान डाँग बाजै दरबारा। कीरति गई समुंदर पारा॥
कंचन सूर परस जग भयो। दारिद भागि दिसंतर गयो॥
जो कोइ जाय एक बेर माँगा। जन्म न हो पुनि भूखा नाँगा॥
दस असुमेध जगत जे कीन्हा। दान पुन्य सइ सौंह न चीन्हा॥

ऐस दानि जग उपजा शेरशाह सुलतान।
ना अस भयो न होइय ना कोइ देय अस दान॥ १७॥

मृगावती का लिपिकाल नहीं दिया है पर पदमावती संवत् १७४७ की लिखी है। सन् १९०१ की खोज में पदमावती की और तीन

प्रतियों का उल्लेख है जो संवत् १८४७, १८७९ और १७५८ की लिखी हैं। सन् १९०३ की रिपोर्ट में संवत् १७६१ की लिखी एक प्रति का उल्लेख है।

सन् १९०२ की रिपोर्ट में कवि नूर मुहम्मद के इंद्रावती नाम के एक कथात्मक काव्यग्रंथ का उल्लेख है जो सन् ११९७ हिजरी [संवत् १८४०] का बना है। यह कवि अपने समय के राजा मुहम्मद शाह का इस प्रकार वर्णन करता है—

कहौं मुहम्मद साह बखानूँ।
है सूरज दिहली सुलतानूँ।
धरम पंथ जग बीच चलावा।
निबरन सबरै सौं दुख पावा॥
पहिर सलातीन जग केरे।
आए सुहाँस बने हैं चेरे॥
उहै साह नित धरम बढ़ावै।
जेहि पहरा मानुष सुख पावै॥
सब काहू पर दाया धरई।
धरम सहित सुलतानी करई॥
धरम भला सुलतान को धरम करै जो साह।
सुख पावै मानुष सबै सब का होइ निबाह॥

इसी सन (१९०२) की रिपोर्ट में कवि कासिम साह कृत हंस-जवाहिर नाम के एक कथात्मक काव्यग्रंथ का उल्लेख है जो सन् ११४९ हिजरी [संवत् १७९४] में रचा गया। एक दूसरे कवि शेख नबी के ज्ञानदीपक नामक कथात्मक काव्यग्रंथ का भी उल्लेख है जो सन् १०२४ हिजरी [संवत् १६७२] में निर्माण हुआ। इस प्रकार कथात्मक काव्यग्रंथों के प्रचार करनेवाले मुसलमान कवियों में सब से पहला कुतबन, दूसरा मलिक मुहम्मद, तीसरा शेख नबी, चौथा कासिम और पाँचवाँ नूरमुहम्मद हुआ। ऐसे ग्रंथों के लिखनेवाले हिंदू कवियों में हरराज और दामो नामक दो कवियों का उल्लेख

सन् १९०० की रिपोर्ट में दिया है । पहले कवि ने संवत १६०७ में ढोला मारवणी चउपही और दूसरे ने संवत १५१६ में लक्ष्मणसेन पद्मावती नामक काव्य ग्रंथ लिखे । ऐसा जान पड़ता है कि ऐसे ग्रंथों के लिखने की परिपाटी बहुत दिनों तक नहीं चली ।

सन् १९०१

इस वर्ष २५० पुस्तकों की नोटिसें की गई जिनमें से १२९ का पूरा विवरण इस रिपोर्ट में दिया गया है । इनमें १२९ ग्रंथ ७१ ग्रंथ-कर्ताओं के रचे हुए हैं जिनमें १ बारहवीं, १ चौदहवीं, १२ सोलहवीं, १२ सत्रहवीं, १९ अठारहवीं, और १५ उन्नीसवीं शताब्दी के बने हुए हैं । शेष १३ ग्रंथों के कर्ताओं का समय और ५ के नामों का पता न चल सका । इन ५ अज्ञात ग्रंथकारों में से १ अठारहवीं और १ उन्नी-सवीं शताब्दी का था । अधिकांश प्रतियों का लिपिकाल १९ वीं शताब्दी है ।

(१) इस वर्ष की रिपोर्ट में रामचरितमानस और पृथ्वीराज-रासो की प्रतियों के अतिरिक्त, जिनके विषय में ऊपर लिखा जा चुका है, महाराज सावंतसिंह उपनाम नागरीदास और उनकी बहिन सुंदरकुँवरि के अनेक ग्रंथों का उल्लेख है ।

ईसा की सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में मारवाड़ की गद्दी पर महाराज उदयसिंह विराजते थे । इनके दो पुत्र सूरसिंह और कृष्ण-सिंह हुए । संवत् १६५१ में महाराज उदयसिंह ने आसोब (?) नामक गाँव अपने पुत्र कृष्णसिंह को दे दिया, पर जब सूरसिंह अपने पिता की गद्दी पर यथासमय विराजे तो उन्होंने यह गाँव अपने छोटे भाई कृष्णसिंह से ले लिया और उसके बदले में दुधारा नामक गाँव उन्हें दिया । कृष्णसिंह को यह बात स्वीकार नहीं हुई और वे मारवाड़ छोड़कर दिल्ली चले गए जहाँ उन्हें संवत् १६५४ में हिंडोरा परगना मिला । इस परगने में संवत् १६६८ में उन्होंने कृष्णगढ़ नाम का नगर बसाया । यह कृष्णगढ़ राज्य स्थापित होने की आदि-कथा है । महाराज कृष्णसिंह के चार लड़के हुए—सहमल, जगमल, भार-

मल और हरिसिंह। महाराज कृष्णसिंह के पीछे सहमल, उनके अनंतर उनका भाई जगमल, उसके अनंतर उनके छोटे भाई हरिसिंह और उसके पीछे उसके बड़े भाई भारमल का लड़का रूपसिंह गद्दी का मालिक हुआ। इन महाराज रूपसिंह ने संवत् १७०० में रूप-नगर या रूपगढ़ नामक नगर बसाकर[१] उसे अपनी राजधानी बनाया। यही संवत् १८२३ तक कृष्णगढ़ राज्य की राजधानी रहा। इसके अनंतर कृष्णगढ़ नामक नगर पुनः अपने गौरव को प्राप्त हुआ। रूप-सिंह के अनंतर मानसिंह और मानसिंह के पीछे राजसिंह कृष्णगढ़ की गद्दी पर बैठे। इन राजसिंह के ५ लड़के हुए जिनमें तीसरे लड़के सावंतसिंह गद्दी के अधिकारी बने। महाराज राजसिंह के दो ग्रंथों (रसपाय नाटक और बाहुविलास) का विवरण सन् १९०२ की खोज की रिपोर्ट में दिया है। महाराज सावंतसिंह का जन्म संवत् १७५६ में हुआ। संवत् १८०५ में वे गद्दी पर बैठे और तीन वर्ष पीछे अपने लड़के सरदारसिंह को राज्य सौंप संवत् १८०८ में मथुरा में जा बसे जहाँ संवत् १८२२ में उनका गोलोकवास हुआ। इन्हीं महाराज सावंतसिंह का उपनाम नागरीदास था। ऐसा जान पड़ता है कि इन महाराज का जीवन बड़ा दुःखमय था। अभी गद्दी पर बैठे इन्हें थोड़े दिन हुए थे कि इनकी अनुपस्थिति में इनका छोटा भाई बहा-दुरसिंह जबरदस्ती गद्दी पर अधिकार जमा बैठा। महाराज सावंतसिंह को उससे लड़ाई लड़ अपना राज्य लेना पड़ा। पर इस घटना का उनके हृदय पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे राजपाट छोड़ मथुरा चले गए। ईश्वर की विचित्र लीला है। महाराज सावंतसिंह के लड़के महा-राज सरदारसिंह के कोई संतति नहीं हुई और उनके पीछे कृष्णगढ़ का राज्य महाराज बहादुरसिंह और उनके वंशजों के अधिकार में चला गया। महाराज सावंतसिंह उपनाम नागरीदास के ३० ग्रंथों का विवरण सन् १९०१ की रिपोर्ट में दिया है। इनमें से दस ग्रंथों

१ वास्तव में वव्वेरक (बवेरा) नामक प्राचीन नगर का नाम बदल कर रूपसिंह ने उसे अपने नाम से प्रसिद्ध किया।

में निर्माण काल दिया है जो संवत् १७८८ से संवत् १८१९ के बीच में है अर्थात् सबसे पहले ग्रंथ (विहारचंद्रिका) का निर्माण-काल संवत् १७८८ और अंतिम ग्रंथ (बनजन प्रशंसा-पदप्रबंध) का निर्माण काल संवत् १८१९ है।

महाराज सावंतसिंह की बहिन सुंदरकुँवरि के दस ग्रंथों का विवरण भी इस वर्ष की रिपोर्ट में दिया गया है। इनका निर्माण-काल संवत् १८१७ से संवत् १८५३ है। ऐसा जान पड़ता है कि सुंदरकुँवरि महाराज बहादुरसिंह के पक्ष में थीं। महाराज सावंतसिंह का उन्होंने अपने ग्रंथों में कहीं उल्लेख नहीं किया है, पर महाराज बहादुरसिंह के विषय में उन्होंने अपने "वृंदावन गोपीमाहात्म्य" नामक ग्रंथ में जो संवत् १८२३ का रचित है यह लिखा है—

राजसिंह महाराजसुत सिंह बहादुर वीर।
विक्रम बल विद देत अति, दाता सुघर सुधीर॥

भक्त परायण रसिकमणि, रूपनगर के राज।
निज भगनी सुंदरकुँवरि, लावत शुभ मग काज॥

सुंदरकुँवरि ने अपने "रामरहस्य" नामक ग्रंथ में जो संवत् १८५३ का बना है अपने माता पिता का उल्लेख इस भाँति किया है—

भूप रूपगढ़ राजसिंह, बाँकावत जिन भाम।
तिहि जु सुता हौं लहहु मम, सुंदरकुँवरि सु नाम॥

(२) दूसरा उल्लेख करने योग्य ग्रंथ तानसेन का "संगीतसार" है। इनका असली नाम त्रिलोचन मिश्र और पिता का मकरंद पांडे है। तानसेन स्वामी हरिदास जी के शिष्य थे। इस ग्रंथ में पहले संगीत-विद्या-संबंधी शब्दों का लक्षण, फिर रागों का नाम, प्रत्येक का लक्षण, स्वरूप आदि दिया है। तालाध्याय में ताल का पूरा पूरा वर्णन, प्रत्येक ताल का नाम, लक्षण, प्रस्तार आदि दिए हैं। दुःख का विषय है कि यह ग्रंथ खंडित है। इसका लिपि-काल संवत् १८८८ है।

(३) रीवाँ के राजकवि अजबेस ने संवत् १८६२ में महाराज जयसिंह जू देव और महाराज विश्वनाथसिंह जू देव के समय में "बघेलवंशवर्णन" नामक ग्रंथ लिखा। इस ग्रंथ में आदि से लेकर व्याघ्रदेव तक के राजाओं के नाम आए हैं। चौलुक्य से लेकर व्याघ्रदेव तक १०३८ राजाओं के नाम इसमें दिए हैं, जिनमें से १०५ के नामों के अंत में "ऋषि," १०२ में "मुनि," ४६ में "चंद्र," ८६ में "भानु," ६२ में "पाल," ७७ में "साह," ६८ में "देव," १२२ में "सिंह," १०८ में "सेन," १२४ में "दत्त," ११८ में "सी," और ७ में "देव" शब्द आया है। व्याघ्रदेव के पाँच पुत्रों के ये नाम दिए हैं—करनदेव (बघेलखंड के अधीश), कीरतिदेव (पीथापुर दक्षिण के राजा), सूरतिदेव (कोटा के अधीश), स्यामदेव (जोधपुर के अधीश) और सबसे छोटे कन्हरदेव जिनको "राव" की पदवी और कसौरा गाँव दिया गया। इनके वंश में अब राजा साहब बारा और महाराव फलौटा हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से इस वंशावली तथा इन नामों का कुछ भी महत्व नहीं है, भाटों की वंशावलियों में ऐसे ही मनगढ़ंत तुकबंदी के नाम मिलते हैं। पृथ्वीराजरासो को छोड़कर कहीं पर सोलंकियों (चालुक्यों) का अग्निवंशी होना लिखा नहीं मिलता। चालुक्यों के शिलालेखों और ताम्रपत्रों में उनकी वंशावली यों दी है—पुरुषोत्तम, ब्रह्मा, अत्रि, सोम, बुध, पुरूरवा, आयु, नहुष, ययाति, पुरु, जनमेजय, प्राचीश, सैन्ययाति, हयपति, सार्वभौम, जयसेन, महाभौम, देशानक, क्रोधानन, देवकि, ऋभुक, ऋत्तक, मतिवर, कात्यायन, नील, दुष्यंत, भरत, भूमन्यु, सुहोत्र, हस्ति, विरोचन, अजमील, संवरण, सुधन्वा, परिक्षित्, भीमसेन, प्रदीपन, शांतनु, विचित्रवीर्य, पांडु, अर्जुन, अभिमन्यु, परीक्षित, जनमेजय, क्षेमुक, नरवाहन, शतानीक और उदयन। उदयन से लेकर ५९ चक्रवर्ती राजा अयोध्या में हुए और विजयादित्य दक्षिण में गया। प्रायः सभी लेखों और काव्यों में उन्हें [चं]द्रवंशी कहा है। एक लेख में ब्रह्मा, स्वायंभुव मनु, मानव्य, हरित,

पंचशिखहारीति और चालुक्य क्रम देकर उससे वंश का नाम चलाया है। कश्मीरी कवि बिल्हण ने अपने विक्रमांकदेवचरित में कवि-स्वभाव से कल्पना की है कि ब्रह्मा ने संध्या करते समय जल से भरे हुए चुल्लू पर ध्यान दृष्टि डालकर त्रैलोक्य की रक्षा में समर्थ चौलुक्य वीर को उत्पन्न किया जिसके वंश में हारीत और मानव्य हुए। यह ब्रह्मा के चुल्लू की कथा पीछे के चार शिलालेखों में भी मिलती है जो चौलुक्य शब्द के निर्वचन पर से की गई जान पड़ती है। कलचुरियों के एक लेख में द्रोण के शाप-जल के चुल्लू से चौलुक्य की उत्पत्ति कही गई है। अयोध्या से दक्षिण जाने के पीछे सोलह राजा हुए, फिर कुछ काल चौलुक्यराजलक्ष्मी 'दुष्टावष्टब्ध' रही, पीछे जयसिंह ने चौलुक्य राज्य की स्थापना की। जयसिंह का समय निश्चित नहीं, किंतु उसके पौत्र पुलकेशी प्रथम का राज्यांत समय ५६७ ई० है। दक्षिण या गुजरात के सोलंकियों के लेखों में कहीं व्याघ्रदेव का नाम नहीं मिलता। व्याघ्रदेव नामक एक राजा के शिलालेख बुंदेलखंड से मिले हैं किंतु उसके दक्षिण या गुजरात के सोलंकियों से किसी प्रकार का संबंध होने का कोई प्रमाण नहीं। पूर्वी सोलंकी राजा विजयादित्य पांचवें का राज्यकाल ई० स० ९२५ है। उससे वेंगी का देश उसके छोटे भाई युद्धमल्ल के पुत्र ताडप ने छीन लिया किंतु उसके वंशज सन् १२०२ तक पिट्ठापुरम पर राज्य करते रहे। पिट्ठापुरम् के सोलंकी राज्य का स्थापक विजयादित्य पाँचवें का पुत्र सत्याश्रय था। पिट्ठापुरम् के राजाओं की नामावली में कहीं कीरतिदेव का नाम नहीं है। पीथापुर जहाँ बघेलों का राज्य होना पाया जाता है वह गुजरात का पीथापुर (पीथापुर माणसा) हो सकता है। कोटे और जोधपुर में करनदेव के भाइयों का राज्य होना भी कल्पित है।

(४) सदल मिश्र-लिखित नासिकेतोपाख्यान नामक गद्य-ग्रंथ सन् १८०३ (संवत् १८६०) में फोर्ट विलियम कालेज में रचा गया। सदल मिश्र लल्लूलाल के समसामयिक थे। हिंदी गद्य को आधुनिक रूप देनेवालों में इन महाशय की गणना है।

(५) संवत् १६८० में जटमल ने गोराबादल की कथा लिखी। इस ग्रंथ का विशेष भाग गद्य में है। इसमें सत्रहवीं शताब्दी के हिंदी-गद्य का नमूना मिल सकता है। उदाहरण के लिये नीचे दो चार पंक्तियाँ दी जाती हैं—

"गोरे की आवरत आवे सा वचन सुनकर आपने पावंद की पगड़ी हाथ में लेकर वाहा सती हुई, सो सीवपुर में जाके वाहा दोनों भेले हुवे। गोरा बादल की कथा गुरू के वस सरस्वती के महरवानगी से पूरन भई, तीस वास्ते गुरू कू व सरस्वती कू नमसकार करता हु" ॥

(६) संवत् १८८२ में महापात्र शिवनाथ ने जो महापात्र नरहरि (अकबर के आश्रित) के वंश में थे, "वंसावली" नामक ग्रंथ लिखा। इसमें रीवाँ राज्य की वंशावली महाराज जयसिंह तक की है। इस पुस्तक का जो अंश रिपोर्ट में उद्धृत किया गया है उससे इसके ऐतिहासिक मूल्य का कुछ भी निर्णय नहीं किया जा सकता। यदि अजबेस के "बघेलवंश-वर्णन" और शिवनथ की "वंशावली" की पूरी पूरी जाँच की जा सके तो इनसे अनेका ऐतिहासिक बातें जानी जा सकें।

[क्रमशः]

११—संवत् १९६८ का मेरा दौरा।

[लेखक—मुंशी देवीप्रसाद, जोधपुर।]

यह दौरा मिस्टर भंडारकर को मारवाड़ के पुराने मंदिरों और शिलालेखों की खोज में मदद देने के लिये ऐसे अशुभ दिनों में हुआ जब कि हमारे महाराजाधिराज श्री १०८ श्री सरदारसिंह जी बहादुर के असमय स्वर्ग सिधार जाने से देश भर में शोक छा रहा था और सब देशी विदेशी प्रजा भद्र कराए अभद्रस्वरूप में दिखाई देती थी। मैं तारीख़ १ अप्रैल शनिवार चैत सुदि २ संवत् १९६८ को ९ बजे जोधपुर बीकानेर रेल से चल कर ११ बजे पीपाड़ रोड पर उतरा और गाँव के बाहर नाग-तलाव पर एक बगीची में ठहरा जिसके दरवाज़े में बहुत ही ठंढी और सुहावनी हवा आती थी। यह बगीची बहादरमल ओसवाल ने बनवाई थी जो अब उसकी संतान के निर्धन हो जाने से उजड़ी पड़ी है। इसके चौभीते में एक चौड़ा चबूतरा और उसके पास एक बड़ का पेड़ है जिसकी छाँह सारे आँगन में रहती है। दोनों तरफ़ दो दालान हैं, इसके पास और सामने कई बगीचियाँ, मंदिर और धर्मशालाएँ इसी तालाव पर हैं जो एक नाग का बनाया हुआ कहा जाता है और इसकी पाल पर नाग की मूर्ति भी एक पत्थर में खुदी हुई रखी है जिसे हिंदुओं ने तेल सिंदूर चढ़ा चढ़ा कर बिगाड़ दिया है। इस नाग की भी एक अद्भुत कथा है कि जहाँ यह तालाव है वहाँ एक नाग बाँबी में रहता था जिसे पीपा नाम का एक पल्लीवाल ब्राह्मण आकर रोज दूध पिलाता था और कथा सुनाता था जिसकी दक्षिणा में एक टका सोने का मिल जाता था। पीपा को एक बेर नागोर जाना पड़ा। वह बेटे से कह गया कि नागराज को रोज दूध पिलाने और कथा सुनाने जाना और जो दक्षिणा मिले ले आना।

लड़का बाप से कुछ सपूत था, उसने सोचा कि नाग के पास द्रव्य बहुत है उसे मार कर ले आऊँ तो सात पीढ़ी का दरिद्र जाता रहे और रोज रोज दूध ले जाने तथा कथा सुनाने का कष्ट भी मिट जावे।

एक दिन पोथी के साथ वह लाठी भी लेता गया। आते समय ज्योंही उसने साँप के माथे पर लाठी मारी त्योंही साँप ने उसको काट खाया जिससे वह घर पहुँच कर मर गया। ब्राह्मण देवता लौटकर आए तो पुत्र शोक से दुखी होकर साँप के पास गए। साँप ने कहा, अब मेरा मन फट गया, वह बात नहीं रही। जैसे बेटे का शोक तेरे दिल में खटकता है वैसे ही तेरे बेटे के हाथ का घाव मेरे सिर में दुखता है।

जब ब्राह्मण ने बहुत ही स्तुति और विनती की तो नागराज कुछ पसीजा और बोला कि इस धन के पीछे मेरी और तेरी यह व्यवस्था हुई है। मेरे मस्तक में घाव लगा और तेरा भी बेटा मरा, सो अब मैं तो गंगाजी को जाता हूँ तू इस धन से यहाँ एक तालाव और एक मंदिर भगवान का बनवा देना। इस विषय का यह एक दोहा भी है—

मन फाटा, चित ऊचटा, दूधां लाव न साव ॥
तोने साले दीकरो माने साले घाव[1] ॥ १ ॥

यह कहकर नाग तो चला गया और पीपा ने उसके धन से यह तालाव और शेषशायी विष्णु भगवान का मंदिर उसके नाम से बनवाया और अपने नाम पर यह पीपाड़ नगर बसाया।

यदि यह कथा[2] कल्पित नहीं है तो इसका यथार्थ अर्थ इस समय के विचारानुकूल केवल इतना ही हो सकता है कि नागजाति के किसी धनवान पुरुष ने जीते जो या मरे पीछे ये तीनों काम यहाँ पीपा नाम एक ब्राह्मण के हाथ से कराए हैं। इस तालाव में खड़े हुए आदमी से कुछ ऊँचा एक कीर्तिस्तंभ लाल पत्थर का गड़ा तो है परंतु उस पर

---

(१) अर्थात् मन फट गया है, चित्त उचट गया है, दूधों में अब न तो लाभ रहा है और न मवाद। तुझे तो लड़का खटकता है और मुझे घाव ॥

(२) यह कथा पंचतंत्र में है और बहुत पुरानी है।

लेख नहीं है, होता तो साल संवत् और बनानेवाले का सही पता लग जाता।

इस तालाव की पाल पर एक बड़ी छतरी गिरी पड़ी है जिसको नीबाजवाले, कि जिनकी जागीर का यह गाँव है, ऊदावत ठाकुर जगरामसिंह की बताते हैं और दूसरे लोग कहते हैं कि करमसोत राठोड़ों की है जो नीबाजवालों से पहले यहां के जागीरदार थे और जिनकी संतान अब गाँव सायले में है। यदि नीबाजवालों का कहना सही है तो ठाकुर साहिब नीबाज को इसकी मरम्मत करा देना चाहिए जो थोड़ी सी लागत में हो जायगी क्योंकि यह उनके मूल पुरुष की निशानी है जो इतनी बड़ी जागीर दरबार जोधपुर से निकलवा कर उनके वास्ते छोड़ गए हैं। दूसरे इस बड़ी और सुंदर छतरी से इस गाँव और तालाव की शोभा भी है।

इस छतरी के आस पास कई देवलियाँ सतियों की हैं पर सब संवत् १६०० के पीछे की हैं। इनमें से एक पर, जो श्रीमाली ब्राह्मणों की बगीची की भीत में तालाव की तर्फ़ लगी है, एक राजपूत घोड़े पर सवार खुदा है जिसके आगे चार स्त्रियाँ ऊपर नीचे खड़ी हैं और मारवाड़ी अक्षरों में एक लेख खुदा है जिसमें उनके सती होने का वर्णन है पर वह इतिहास में विशेष काम दे ऐसा नहीं है।

सामने की पाल पर एक फ़क़ीर ने बहुत अच्छी बगीची लगा रक्खी है जिसमें एक एक दो दो पेड़ अनेक प्रकार के फूलों और फलों के हैं। मैंने जांई का नाम तो सुना था पर उसका बूटा यहीं देखा जो प्रायः चार हाथ ऊँचा था और जिसमें चमेली की कलियों से कुछ लंबी कलियाँ लगी हुई थीं और जो शाम तक नहीं खिली थीं। सांई ने कहा कि रात को खिलती हैं और उस समय बहुत सुगंध आती है।

इस बगीची से लगती हुई मुसलमानों की पुरानी ईदगाह है जिसके मीनार दूर से दिखाई देते हैं। इसमें पत्थर पर एक फ़ारसीसलेख उभरे हुए हर्फ़ों का खुदा है पर उसमें साल, संवत् तथा बनानेवाले

का नाम नहीं है, केवल इतना ही मतलब है कि यह मसजिद सब मुसलमानों के वास्ते बनाई गई है।

ईदगाह की दक्षिण दिशा में कुछ गिरी पड़ो पुरानी कबरें हैं जिनमें एक मीरजी की कहलाती है। भटजी[३] कहते हैं कि मीरघडूले की है।

मीरघडूले का नाम जोधपुर के इतिहास में आता है जो सिंध का एक लुटेरा सरदार कहा जाता है। यह गाँव कोसाने के तालाब पर से १४० तीजनियां अर्थात् तीज खेलनेवाली लड़कियों को संवत् १५४८ में ले भागा था और राव सातलजी ने जोधपुर से धावा करके उसको इस अपराध के दंड में मारा था। इसके नाम का **घुड़लिया** बनाकर मारवाड़ की लड़कियां अब तक गनगौर के दिनों में निकालती हैं। यह रीति मीरघड़ूला की बेटी ने चलाई थी जिसको राव सातलजी पकड़ लाए थे।

पीपाड़ एक पुराना शहर जोजरी नदी के दक्षिण किनारे पर बसा है। इसमें अब १५०० घर और ७४०० आदमी बसते हैं। हिंदुओं में बनिये या माली ज़ियादा हैं, मुसलमानों में छींपे अच्छे कारीगर हैं। उनकी छापी हुई जाज़में, तोशकें, रजाइयाँ, मेज़पोश, पलंगपोश और छींटें वग़ैरा दिसावरों में बहुत जाती हैं। अब अलादीन नाम के एक छीपे ने भोडल का छापा नया निकाला है जिससे वह कई रंग देकर सरेस से लाल रंग के कपड़ों पर, मेज़पोश, परदे, और पंखों की झालरें वग़ैरा बहुत अच्छी छापता है। एक परदे का मोल ५), झालर का २), छोटे मेजपोश का १।), बड़े का २॥) है। यह काम चाँदी के वर्कों की छपाई के समान होता है पर दो बातें इसमें बढ़कर होती हैं—एक तो उससे पक्का है कि पानी में धोने से नहीं उतरता, दूसरे इकरंगा अर्थात् सफेद नहीं होता। कई भड़कीले और चटकीले रंग भी दिए जाते

---

(३) वही नानूराम जो दौरे में अकसर मेरे साथ रहते हैं और अपने को चंदबरदाई के वंश में बताते हैं।

हैं जिनकी शोभा देखते ही बनती है, कही नहीं जाती। अँग्रेज़ लोग और देसी अमीर इन्हें बहुत पसंद करते हैं। ये चीजें अभी एक ही कारीगर बनाता है, इससे कुछ महँगी पड़ती हैं।

व्यापार की चीज़ों में से बकरे और घेटे (मेंढे) बाहर बहुत जाते हैं। हाजी अहमद नाम के एक मुसलमान ने इसमें बहुत लाभ उठाया है और सज्जनता से इस लाभ का एक बड़ा भाग परमार्थ में भी लगाया है। उसने पीपाड़ में एक दवाखाना,[४] एक मदरसा और एक किताबखाना सर्वसाधारण के लिये पिछले वर्ष से खोल दिया है। इनसे पीपाड़ वालों को ही नहीं किंतु आस पास की बस्तियों को भी सहायता मिलती है।

पीपाड़ के हिंदुओं में भी कई धनवान और श्रीमान् सेठ रामरिख जैसे हैं परंतु उनको परोपकार की अभी तक ऐसी श्रद्धा नहीं हुई है जो अपठित जाति के इस सज्जन पुरुष में देखी जाती है।

ये तीनों कारखाने एक ही हाते के अंदर अलग अलग साफ़ और सुथरे मकानों में हैं, मदरसे में ५०-६० लड़के पढ़ते हैं। इनकी ३ श्रेणियाँ हैं। एक श्रेणी अरबी की, दूसरी उर्दू-फ़ारसी की और तीसरी हिंदी की है। अगले दोनों क्लासों में केवल मुसलमानों के लड़के और तीसरे में हिंदू मुसलमान दोनों जातियों के बच्चे पढ़ते हैं और इन ही की संख्या भी अधिक है क्योंकि मारवाड़ में हिंदी ज़ियादा चलती है। बड़ी बात यह है कि जैसे पढ़ाई की कुछ फीस नहीं ली जाती है वैसे ही पढ़ने की किताबें भी विद्यार्थियों को मुफ्त दी जाती हैं। पढ़ाने वाले भी सुशील और परिश्रमी हैं। शफ़ाख़ाने में औज़ार और अंग्रेज़ी दवाइयाँ ज़ियादा हैं। सब मिलाकर प्राय: १००) महीने का ख़र्च है। सौभाग्य से डाकृर भी इस शफ़ाख़ाने को ऐसे अच्छे अनुभवी मिल गए हैं जिनकी सारी उमर ही, जो इस समय ८३ वर्ष की है, डाक्टरी में बीती है। इनका नाम रसूल बख़्श है। प्राय: ५० वर्ष तक अजमेर

---

(४) यह दवाख़ाना १ मार्च १९१० को खुला था।

और मारवाड़ के अस्पतालों में ये नेकनामी के साथ नौकर रह चुके हैं। इनके पास बड़े बड़े डाक्टरों के सार्टिफ़िकट हैं। इस शफ़ाख़ाने में आए हुए इनको अभी एक ही वर्ष हुआ है तो भी अपने काम में ऐसी योग्यता और उन्नति दिखाई है कि उसकी तारीफ़ बड़े बड़े गोरे डाक्टरों ने "विज़िट बुक" में लिखी है। पिछले वर्ष जब यहाँ प्लेग फैला था तो उसका प्रबंध भी रेज़ीडेंसी सिविल सरजन और दरबार जोधपुर की तरफ़ से इन्हीं को सौंप दिया गया था जिसको इन्होंने बहुत अच्छी तरह से चला कर राज और प्रजा में यश पाया था। आज कल ऐसे अनुभवी पुराने डाक्टर बहुत कम रह गए हैं जो किताबी चिकित्सा और अनुभव के सिवाय फ़कीरी इलाज के चुटकुले भी जानते हों। ये अजमेर के रहने वाले और मेरे पुराने मुलाकाती हैं। इनसे यहाँ ४०। ५० बरस पीछे मिलना हुआ, किसी ने सच कहा है—आदमी से आदमी मिल जाता है कुवें से कुवाँ नहीं मिलता।

पीपाड़ में कई मंदिर हैं परंतु पुराने दो ही हैं जिनमें पीपलाद माता का तो बहुत ही पुराना समझा जाता है और कहते हैं कि गंधर्वसेन राजा का बनाया हुआ है और इस बस्ती का पीपाड़ नाम भी माता के नाम से पड़ा है। यह मंदिर बहुत बड़ा नहीं है। इसकी भीतें तो बहुत पुरानी हैं जिन पर गधे के खुरों के से चिह्न खुदे हैं और इसी से इसको गंधर्वसेन[५] का बनाया हुआ वा उसके राज में बना हुआ बताते हैं। दंतकथाओं में कहा जाता है कि गंधर्वसेन जो उज्जैन का पँवार राजा और विक्रमादित्य का बाप था, एक समय जादू से गधा बना दिया गया था और फिर उसने उसी दशा का स्मारक चिह्न यह गधे का खुर अपने महलों और मंदिरों पर खुदा दिया था, परंतु घोड़ों वा गधों के चिह्न वाले मंदिर जो मारवाड़ में बीसियों ही हैं इतने पुराने नहीं हैं कि इतने पहिले के माने जावें। हज़ार बारह सौ वर्ष के पुराने ज़रूर हैं। सोमपुरे[६] जो ऐसे शिखरबंध मंदिर सैकड़ों वर्षों से बनाते चले आते हैं कहते हैं कि मंदिरों के रूपमंडन[७]

(५) गर्दभसेन ?। (६) एक जाति। (७) शिल्पशास्त्र का एक ग्रंथ।

की यह भी एक कारीगरी किसी समय में थी जिसकी जगह पीछे से और प्रकार की कारीगरी चल पड़ी है।

कुछ भी हो प्राचीन शिल्प के तत्त्ववेत्ताओं की समझ में तो यह मंदिर विक्रम संवत् की ८वीं शताब्दी से पुराना नहीं है।

इस मंदिर का शिखर मुसलमानी राज में तोड़ा जाने के पीछे किसी समय नया बनाया गया है। पीपलाद माता की मूर्ति भी जो अब इसमें है न तो पुरानी है और न किसी अच्छे कारीगर की बनाई हुई है। यह तिरछे मुँह की एक स्त्री की सी मूर्ति है जिसके हाथ भी दो ही हैं, एक तो कमर से लगा और दूसरा ऊपर को उठा हुआ है जिसमें कोई गोल वस्तु नारियल जैसी है। देवी की मूर्ति ऐसी नहीं होती। इसके बहुत करके चार हाथ होते हैं और इनमें कोई न कोई उसका आयुध भी होता है। इसके सिवाय दरवाज़े के छबने पर गरुड़ की, उसके नीचे दोनों कमलों पर गंगा यमुना की, पीठ में पश्चिम की तरफ़ स्वामिकार्तिक की, उत्तर की तरफ़ गजलक्ष्मी की और दक्षिण की तरफ़ वाराह की मूर्तियाँ हैं। इन मूर्तियों से जाना जाता है कि यह मंदिर ठेठ में विष्णु भगवान् का था, असल मूर्ति न रहने के पीछे पीपलाद माता के नाम से यह मूर्ति धर दी गई है।

इस पर मुझे मारवाड़ी गहलोतों के एक भाट की बात याद आती है जो अपनी पुरानी बहियों के प्रमाण से कहता था कि बापा रावल का एक बेटा आभर मंडलीक नाम का था, वह मारवाड़ में आकर गुणामंड[८] गाँव का राजा हो गया था जो यहाँ से उत्तर में १४। १५ कोस पर है। उसके एक बेटे पीपला रावल ने यह पीपाड़ बसाई थी जिससे उसकी संतान का नाम पीपाड़ा गहलोत हो गया था और उन्होंने बहुत वर्षों तक यहाँ राज किया था।

---

(८) भट नानूराम का कहना है कि गुणा आभरमंडलीक की रानी थी। उसी के नाम से गुणामंड बसा है, इसकी भी एक अद्भुत कथा है जिसमें गुणा को राजा इंद्र के अखाड़े की अप्सरा कहा गया है।

उसी पीपला रावत ने अपनी माता पीपलदे के नाम पर यह पीपलदे माता का मंदिर बनवाया था और उसकी मूर्ति यहाँ रक्खी थी जो पीपलाद माता के नाम से प्रसिद्ध हुई ।

इस मंदिर में कोई शिलालेख नहीं है। पिछले वर्ष भी मैंने लेख की बहुत खोज की थी। बरना नाम एक भड़भूंजे के कहने से जो इस मंदिर का पड़ोसी है एक शिला जो मंदिर के दरवाज़े पर दाहिनी तरफ़ रुपी है नीचे तक खुदाई थी परंतु कोई लेख नहीं निकला।

दूसरा पुराना मंदिर शेषजी का है जो पीपलाद के मंदिर के सामने था और अब दूकानों के पीछे आ गया है जिसपर एक बड़ा मंदिर लक्ष्मीनारायणजी का ६० वर्ष पहले बन गया है । इन्हीं कारणों से यह शेषजी का मंदिर छिप गया था और अँधेरा भी उसमें बहुत रहता था। इसलिये उसके भीतर के शिलालेख ३।४ वर्ष पहले मि० भंडारकर के देखने में नहीं आए थे परंतु उसके कुछ समय पीछे एक महेश्वरी बनिये के मन में एक रात अकस्मात् कुछ ऐसी लहर उठी कि उसने उसी दम जाकर सारा मलबा जिससे मंदिर की परिक्रमा भरी पड़ी थी एक कोने में हटा दिया और बनियों से लड़ झगड़ कर मंदिर की कोठरियां भी खाली करालीं जिन्हें सूनी देख कर उन्होंने रोक रखा था। ऐसा करने से उसको कष्ट भी बहुत हुआ परंतु शेषजी की भक्ति से उसने सब सह लिया। उस महापुरुष का नाम गिरधारी-लाल है, भूतड़ा जाति है। इस मंदिर में उसके भी दर्शन हुए। प्रसन्न वदन और नम्र प्रकृति का साधु आदमी है। उसने मुझे ढोक दी, मैंने उसे दी। कुशल पूछी और उसकी भक्ति की सराहना की, लोग उसको अध-गेला (आधा बावला) कहते हैं। यदि बावला है तो भी मेरी समझ में स्याना है क्योंकि भगवत के प्रेम में पगा हुआ है और इसलिये कष्ट उठाकर भी इस मंदिर का उद्धार करने में लगा है। पार साल जब मैं आया था तो मंदिर में खूब उजाला था और उसके तीन शिलालेख भी साफ़ नज़र आते थे परंतु उनमें चूना बहुत भरा हुआ था जिसको मैंने और यहाँ की अदालत के मुंशी पुरोहित छोगालाल

ने सुनारों के औजार मँगा कर बड़ी मिहनत से छुड़ाया था और लेखों की छापें लेकर अजमेर में मिस्टर भंडारकर को दी थीं, परंतु हरफों के घिस जाने से वे पूरे पढ़े नहीं गए तो भी जो थोड़ा बहुत अक्षरांतर और भाषांतर उनका हो सका उसका सारांश यह है—

१—संवत् १२२४ कातिक बदि ११ राणाश्री... विजयसिंह के विजयराज्य में पिप्पलपाट कृतकृत्य हुआ है।

२—संवत् १२२४ कातिक वदि ११ को श्रीपिप्पलपाट में राना श्रीराजकुल विजयसिंह के राज में पंचों के सामने धड़िल मलिग की भार्या दोल्हण देवी ने रास्ते के कर (राहदारी के महसूल) में से आधा दिलक (?) दिया।

इसमें और भी कई नाम स० पीपड़, देलण स्वामी, जराकगम, बीलासुत गंगाधर तथा श्रेष्टि दूला के लिखे हैं. नीचे एक श्लोक है जिसका अर्थ है कि सगरादि राजाओं ने बहुत सी पृथ्वी दी है परंतु उसका फल जो वर्तमान राजा होता है उसको मिलता है।

अक्षरों के जाते रहने से यह भी नहीं मालूम होता कि दोल्हण देवी ने वह आधा दिलक किसको दिया था परंतु यह लेख शेषजी के मंदिर में खुदा है, इससे ऐसा अनुमान हो सकता है कि इसी मंदिर के वास्ते दिया गया होगा।

यह वही लेख है जिसके विषय में कर्नल टाड ने अपने दौरे की कथा में लिखा है कि लक्ष्मी के मंदिर में है। उसमें गहलोत वंश के राजा विजयसिंह और देलण जी के नाम मिलते हैं जिनका पुराना खिताब रावल था।

रावल (राउल) तो राजकुल का प्राकृत रूप हो सकता है पर गहलोत वंश का उल्लेख इस लेख में नहीं है, हां इस पीपाड़ के पुराने राजा गहलोत हो सकते हैं क्योंकि संवत् १२०० और १३०० के बीच में यहाँ गहलोतों का राज्य था। यह बात जैसी दंतकथाओं में कही जाती है वैसी शिलालेखों से भी सिद्ध होती है।

शेषजी का मंदिर बहुत ऊँचा नहीं है, छतें भी नीची हैं, निज मंदिर के कमलों और छबनों पर कुछ पुराना काम है। शिखर भी ऊँचा नहीं है, लक्ष्मीनारायण के मंदिर से दबा हुआ है, दरवाज़ा भी एक गली में आ गया है।

मंदिर में शेषशायी भगवान की श्याम मूर्ति है। पुरानी खंडित मूर्ति जो मैंने पिछले साल एक बखारी में पड़ी देखी थी वह अब नहीं है। पूछने से मालूम हुआ कि पुष्कर जी भेज कर पानी में डलवा दी गई है। उसकी कारीगरी इस मूर्ति से बहुत अच्छी थी जिसे अज्ञानी लोगों ने यहाँ से हटा कर नष्ट कर दिया।

पीपाड़ की बस्ती खाती-पीती है, स्त्रियों के पास गहने कपड़े अच्छे दिखाई देते हैं। बाज़ार भी आस पास के गाँवों से अच्छा है। बस्ती में झालरबाय नाम बावड़ी किसी झाली रानी की बनाई हुई है और बाहर पूर्व की तरफ़ और भी कई बगीचे जोजरी नदी पर हैं। इनमें शिवनारायण के बेटे का बगीचा सुंदर है।

नदी में पश्चिम की तरफ़ रेलवे पुल की नींव खोदते हुए एक पुरानी बावड़ी निकली थी जिसके गड़े हुए पत्थर नदी में पड़े हैं और कुछ जागीरदार के कोट में भी मँगा लिए गए हैं। कई लोगों ने कहा कि एक शिलालेख भी निकला था जो कोट के आदमियों ने बावड़ी समेत वहीं जमीन में बुरा दिया है। कोटवालों से पूछा तो उन्होंने कहा कि यह बात झूठ है, फिर उसका कुछ ठीक पता भी कहनेवालों ने नहीं दिया।

जागीरदारों के बड़े क़िले या महल को, जो ज़मीन पर होता है, कोट और छोटे को कोटड़ी कहते हैं। यह कोट अगले जागीरदारों का बनवाया हुआ है जिनसे उतर कर यह गाँव नीबाज के जागीरदार को मिला है।

अब नीबाज के मुसलमान कामदार जो एक मियाँ आदमी (सज्जन पुरुष) हैं इस कोट में रहते हैं और कचहरी करते हैं। घोड़ों की पायगाह और जागीरदार के महल भी यहाँ हैं। कोट की बड़ी पौल महाराज

श्रीगजसिंहजी के राज में बनी है। बनने की मिती संवत् सहित उसके दहने कौंले पर खुदी है।

पौल के बाएँ हाथ को ठाकुर रामसिंहजी का महल है जिसकी रावटी कोट के सब मकानों से ऊँची है। रामसिंह ऊदावत ठाकुर थे और एक लड़ाई में काम आए थे इसलिये उनकी पूजा इस महल में होती है। अजब बात यह है कि पुजारी मुसलमान है, उसको पीपाड़ की कचहरी से तनख्वाह मिलती है। वह कहता है कि जब लड़ाई में रामसिंहजी की जान पर आ बीती थी तब उनके साथी सब भाग गए थे, मेरे दादा का परदादा या उसका बाप उनको छोड़कर नहीं गया जिससे वह कह मरे थे कि मेरी मिट्टी भी तू ही सुधारना और किसी को हाथ मत लगाने देना। पीछे भी मेरी बंदगी तू ही करना और अपनी औलाद से भी कराना। मैं तुझसे राज़ी हूँ और मरे पीछे भी राज़ो रहूँगा। इसलिये मेरे बाप दादे इस महल की झाड़ा-बुहारी, बिछायत, धूप-दीप, जोत और अग्यारी करते रहे हैं। मैं भी उसी रीति से करता हूँ।

महल में रामसिंहजी की मूर्ति है जो घोड़े पर सवार है। आगे जाज़िम बिछी रहती है। लोग उनको जूझार समझ कर मानता मानते हैं और चढ़ावा चढ़ाते हैं।

नीबाज के ठाकुर भी ऊदावत हैं परंतु रामसिंहजी की संतान में नहीं हैं। उनके वंशज तो, जो रामसिंहोत ऊदावत कहलाते हैं और खेती या नौकरी करके अपना पेट पालते हैं, पीपाड़ में ही हैं, पर उनको अपना इतिहास भी पूरा याद नहीं है।

पीपाड़ के बाहर उत्तर के कोने में एक बड़ा तालाब है जिसको लाखा कहते हैं। इसे कर्नल टाड ने लाखा फूलाणी का बनाया हुआ लिखा है, शायद ऐसा हो। लाखा फूलाणी सिंध का राजा था जिसके वंश में अब कच्छ और जामनगर के राजा हैं।

लाखा फूलाणी का नाम मारवाड़ में भी बहुत प्रसिद्ध है क्योंकि उसकी कई अद्भुत कथाएँ कही जाती हैं।

यह तालाब अब फूटा पड़ा है जिससे पानी भी थोड़ा ही आता

है। पानी की जगह मिट्टी भरी है जिसमें किसान लोग खेती करते हैं।

यहाँ के किसान विशेष करके माली और जाट हैं। इन्हीं की यहाँ बपौती भी है। ये पहले कभी नागोर से आए हैं। मालियों में कछवाहा जाति के माली ज़ियादा हैं, उनसे कम पड़िहार, टाँक, साँखला, सोलंकी और गहलोत जाति के हैं।

यहाँ दोनों साखों में गुज्जी और जवार अधिक होती है और यही बाहर भी जाती है।

लाखा के पूर्व के किनारे पर दो कीर्ति-स्तंभ लाल टूटे हुए खड़े हैं जिनपर कोई लेख नहीं है। इसी तरफ़ एक पुराना झालरा घड़े हुए लाल पत्थरों का बना है जो कई जगह से टूट गया है। यह बहुत सुंदर और देखने योग्य है। जो इसकी मरम्मत हो जाय तो अच्छी बात हो क्योंकि यह एक अद्भुत वस्तु पुरानी कारीगरी की है और उपकार भी हो। इसकी तीन भुजाओं पर सैंकड़ों सीढ़ियाँ नीचे उतरने को बनी हैं। बनानेवाले का प्रयोजन हजारों रुपए लगाने से अपनी बस्ती को स्वच्छ और निर्मल जल पिलाने का था और अब भी जो इसका जीर्णोद्धार जागीरदार वा बस्ती के धनी मानी पुरुषों की उदारता से हो जाय तो फिर यहाँ पन-घट लगने लगें। शास्त्रों में भी नए निवान (जलाशय) बनाने से पुराने के सुधराने का अधिक पुण्य लिखा है।

इस झालरे पर एक पुराना मंदिर भी टूटा पड़ा है जिसमें लोग पाखाना फिरते हैं और यही हाल मैंने ओसियाँ के टूटे हुए मंदिरों का भी कई साल पहले देखा था। मुसलमानों का मंदिर तोड़ना बुरा था या हिंदुओं का मंदिरों को इस काम में लाना? शायद टूटे हुए मंदिर जिनमें हजारों लाखों रुपए लगे थे और सैंकड़ों के खर्च से देवताओं की पूजा हुआ करती थी अब इसी काम के रह गए हैं? मरम्मत कराना तो अलग रहा कोई पाखाने जाना भी बंद नहीं करता। यहाँ के रहनेवाले अधिकतर हिंदू हैं, जागीरदार हिंदू हैं, इस मंदिर के पड़ोसी भी हिंदू हैं। पर किसी में इतनी श्रद्धा नहीं है कि एक बार इस मंदिर को भंगियों से साफ़ करा-

कर आगे के लिये पाखाना जानेवालों को रोक कर दे। टाड ने भी इस मंदिर को देखा था। उस समय इसका यह हाल न होगा या साफ़ करा दिया गया होगा।

परगने के हाकिम भी राज में रिपोर्ट नहीं करते। करें तो बंदोबस्त हो जावे जैसा कि ओसियाँ के मंदिरों के वास्ते हो गया है। सुना है कि अब कोई उनमें पाखाना नहीं फिर सकता है।

एक पुराना कीर्तिस्तंभ।

पश्चिम की तरफ़ प्रायः एक कोस एक नाड़ी पर एक पुराना कीर्तिस्तंभ लाल पत्थर का खड़ा है जो पाँच हाथ ऊँचा और एक हाथ चौड़ा है। नीचे से चौकोर, ऊपर से गोल है, उस पर चारों तरफ़ मूर्तियाँ खुदी हैं।

पूर्व की तरफ़ एक सती हाथ जोड़े खड़ी है। दक्षिण की तरफ़ एक आदमी चौकी पर बैठा महादेवजी को पानी चढ़ा रहा है। पश्चिम की तरफ़ एक टूटी हुई मूर्ति मर्द या औरत की है जो ठीक पहिचानी नहीं जाती। उत्तर की तरफ़ एक आदमी पालथी मारे बैठा है।

सती के नीचे एक लेख खुदा है परंतु उसके अक्षर घिस गए हैं। संवत् १३१ पढ़ा जाता है जो ११३१ होगा क्योंकि अक्षर इतने पुराने नहीं हैं।

यहाँ एक सिंधी सिपाही रिसाल खाँ है जो अपने को गाँव साथीण के जती वृद्धिचंद्र का चेला बताता है और, संवत् १९४५ से, अगले वर्षों का फल पहले से कहा करता है। इस वर्ष अर्थात् संवत् १९६८ के लिये भी उसने कई दोहे कहे हैं जिनमें का एक यह है—

सीला बादल बायरा बीज गाज जल होय।
हिरण फाल फल फूलड़ा काई फलता जोय॥

इसका भावार्थ यह है कि ठंढी हवा के चलने और बादल के गरजने से पानी बरसेगा, हिरण कूदे उतनी उतनी दूर में फूल फल लगेंगे अर्थात् नाज के बूटे बहुत कम फलें फूलेंगे।

मारवाड़ में कई लोग शकुन, ज्योतिष और स्वरोदय से संवतों के फल पहले ही कह दिया करते हैं।

श्रीमाली ब्राह्मणों में पहले कभी खेता नाम एक ज्योतिषी हो गया है। उसने बहुत से वर्षों के फलों के दोहे कह डाले थे जिनको संग्रह करके किसी ने एक पोथी बना ली है जो खेता जोसी की 'सईकी' (शतक) के नाम से विख्यात है। उसमें वर्तमान संवत् १९६८ के फल का यह दोहा लिखा है—

अडसट्टो अति आकरो दुनिया में दुखदाय॥
रस कस सहु मूंगा हुए रुत परदेसाँ जाय॥

अर्थ—अड़सठ का संवत् बहुत ही क्रूर और दुनिया को दुख देनेवाला है, घी तेल महँगे रहेंगे और रुई परदेशों को जायगी।

इतिहास।

पापाड़ का प्राचीन इतिहास दंतकथाओं से तो अभी तक इतना ही जाना गया है कि यहाँ राठोड़ों से पहले गहलोतों का राज था और गहलोतों ने पँवारों से लिया था। पँवारों से पहले शायद नागवंशियों का राज हो जिसका कोई ठीक समय अभी नहीं ठहराया जा सकता है।

शेषजी के मंदिर के लेख से जाना जाता है कि संवत् १२२४ में यहाँ रावल विजयसिंह का राज था। वह कौन था और उसकी राजधानी कहाँ थी, पीपाड़ में ही थी या और कहीं थी, यह बात इस शिलालेख से नहीं जानी जाती। ऐसे ही धडिल मगल का भी अपरिचित नाम है जिसकी भार्या दोल्हण देवी ने आधा दिलक राहदारी के महसूल में से दान किया था। धडिल मगल, दोल्हण देवी और दिलक भी अद्भुत नाम हैं। दोल्हण देवी का पीपाड़ में यह अधिकार होना कि वह राहदारी के महसूल में से आधा दिलक दान करदे इसके सिवाय और क्या समझा जाय कि वह रावल विजयसिंह के अधीन और यहाँ की जागीरदारनी हो।

राठोड़ों का राज पीपाड़ में कब हुआ यह भी उनके इतिहास से ठीक ठीक नहीं जाना जाता; परंतु इसमें संदेह नहीं है कि राव जोधा का राज जोधपुर बसाने के पीछे संवत् १५१५ में पूर्व की तरफ़

बढ़ा तो पीपाड़ भी जो उस समय संभव है कि मुसलमानों के पास हो उनके हाथ लगा हो। क्योंकि जोधपुर के पूर्व में मंड़ता, अजमेर, सांभर और डीड वाणे के परगने दिल्ली के नीचे थे और फीरोज़शाह तुगलक के पीछे मुसलमानी बादशाहत निर्बल हो जाने से कुछ राठोड़ों ने और कुछ सीसोदियों ने दबा लिए थे।

जोधाजी के पीछे सातलजी और सूजाजी गद्दी पर बैठे। सूजाजी के पीछे उनके कँवर बाघाजी के बेटे गांगाजी जोधपुर के राव हुए। उनके काका शेखाजी को सूजाजी ने पीपाड़ दे दिया था तो भी वह गांगाजी से राज के वास्ते लड़ते रहे। निदान वे इसी धुन में मारे गए। उस समय बीकानेर के राव जेतसी भी राव गांगाजी की मदद को आए थे। शेखाजी मरने के पहले घावों में चूर हुए अचेत पड़े थे। गांगाजी ने उनको अफीम खिलाकर चैतन्य किया और उन्होंने आँख खोल कर देखा तो राव जेतसी को नहीं पहिचाना। पूछा कि यह कौन ठाकुर हैं। गांगाजी ने कहा कि बीकानेर के राव जेतसीजी हैं। तब शेखाजी ने कहा कि रावजी हम काका भतीजे तो अपनी ज़मीन के वास्ते लड़ते थे तुम क्यों आए? मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था? जाओ जो मेरा हाल हुआ है वही तुम्हारा भी होगा। यह कह कर शेखाजी परमधाम को पहुँचे। उनको दाग (दाह) देकर राव गांगाजी तो जोधपुर आए और राव जेतसी बीकानेर को गए, परंतु शेखाजी के शाप से नहीं बच सके। संवत् १५९८ में राव गांगाजी के बेटे राव मालदेव ने बीकानेर पर चढ़ाई की। राव जेतसी उनसे लड़कर खेत रहे।

शेखाजी के पीछे पीपाड़ की जागीर जोधपुर में मिल गई। फिर राव मालदेवजी के समय से जो संवत् १५८८ में गद्दी पर बैठे थे महाराज मानसिंहजी के राज तक, जिनका देहांत संवत् १९०० में हुआ, ३१२ बरस में पीपाड़ के भुक्तभोग का संक्षेप वृत्तांत यहाँ के फ़ोतेदार चौधरी जुगराज की बही में इस प्रकार लिखा है। यह बही

जुगराज के दादा चौधरी गजमल की लिखी हुई है जिसका देहांत संवत् १८८५ में पौस सुदि १३ को हुआ था।

पीपाड़ राव मालदेवजी के राज्य में भार मलोतों[९] के और उनके पीछे रामसिंहजी ऊदावत[१०] के पट्टे (जागीर) में रही फिर करमसोत[११] पृथ्वीराज के पट्टे हुई। करमसोतों के पीछे संवत् १७६६ में ऊदावत जगराम[१२] को मिली। संवत् १८१६ की चैत बदि ११ को जब सरदारों को चूक[१३] हुई तो यह गाँव खालसा होगया।

फिर संवत् १८१७ के मँगसर में पीपाड़ दौलतसिंह के नाम लिखी गई परंतु संवत् १८१९ की सावनी (ख़रीफ़) साख से फिर ज़ब्त होकर संवत् १८३३ के चैत तक खालसा रही। फिर ऊनालू (रबी) साख से पासवानजी[१४] के पट्टे

(९-१०-११)—ये तीनों राठोड़ों की शाखायें हैं।

(१२) ये रायपुर, रास और नीवाज के वर्तमान ठाकुरों के मूल पुरुष थे।

(१३) मारवाड़ में धोखे से मार डालने या पकड़ लेने को चूक कहते हैं। यहचूक चैत बदि ८ सं० १८१६ को महाराज विजयसिंहजी के राज्य में जोधपुर के किले पर हुई थी जिसकी साख (साक्षी) का यह दोहा है—

केहर, देवो, छत्रसी, दोलों राजकुवार ॥
मरते मोडे मारिया चोटीवाला चार ॥

इसका यह अर्थ है कि केसरीसिंह, देवीसिंह, छत्रसिंह, और दौलतसिंह, चार चोटीवालों को मोडे अर्थात् बिना चोटीवाले (साधु) ने मरते मरते मारा। ख्यात से जाना जाता है कि ये चारों पोकरण, आसोप, रास और नीबाज के ठाकुर थे। इन्होंने बागी होकर महाराज विजयसिंहजी को बहुत दुखी कर दिया था महाराज के गुरु साधु आत्मारामजी थे। वह कहा करते थे कि मैं मरूँगा तब आपका दुख ले जाऊँगा। वे फागन बदि १ संवत् १८१६ को मर गए। इन्हें मिट्टी देने को ये सरदार भी किले में आए थे। मुसाहिबों ने यह कह कर कि ज़नाने सरदार भी दर्शन करने आए हैं इनके आदमियों को किले से बाहर निकाल दिया और इनको पकड़ कर क़ैद कर लिया, सो ये क़ैद में ही मरे, केवल दौलतसिंह को महाराज ने छोड़ दिया।

(१४) जोधपुर के राजाओं में यह चाल ठेठ से चली आती है कि जिस परस्त्री (भोगपत्नी) को सोना पाँव में पहिना कर परदे में रख लेते हैं उसको पड़दायत कहते हैं और पड़दायतों में भी जिसका पद बढ़ाते हैं उसको पासवान की पदवी देते हैं। ऊपर जिस सौभाग्यवती पासवानजी का उल्लेख है वह महाराज विजयसिंहजी की पासवान थी। गुलाबराय नाम था। उसका दखल राज में ज़ियादा बढ़ जाने से सरदारों ने उसको मरवा डाला

हुई। जब बैसाख बदि ४ संवत् १८४८ को पासवानजी को 'चूक' हुई तब यह गाँव दो ढाई महीने तक फिर राज्य के खालसे में रहा । फिर जेठ में ठाकुर शंभुसिंह[१५] के पट्टे हुआ परंतु संवत् १८४९ के बैसाख में फिर ज़ब्त हो गया और आधे जेठ में फिर उन्हींके नाम लिखा गया । संवत् १८५३ के कातिक में ज़ब्त होकर फिर संवत् १८५५ में सिंघी जोधराज[१६] से देसूरी में लड़ाई हुई तब फिर दिया गया । संवत् १८५८ में सिंघी जोधराज को चूक हुई[१७] तब फिर यह गाँव उतर गया । संवत् १८६० कातिक सुदि ४ को महाराज भीमसिंहजी स्वर्गवासी हुए और तीसरे दिन ही कातिक सुदि ६ को भंडारी धीरतमल[१८] की फौज में फिर ठाकुर के नाम लिखा गया । संवत् १८६८ पौष सुदि १४ को ज़ब्त हो गया पर बैसाख में फिर लिखा गया । जब संवत् १८७६ आसाढ़ बदि १ को ठाकुर सुरतानसिंह सूरसिंहजी को चूक[१९] हुई तो

---

(१५) शंभुसिंह दौलतसिंह के बेटे थे ।

(१६) सिंघी जोधराज महाराज भीमसिंहजी का दीवान था । उसको महाराज ने मारवाड़ के बागी सरदारों पर भेजा था । देसूरी में लड़ाई होकर जोधराज की हार हुई । शंभुसिंह जोधराज के साथ रहा था इससे उसने पीपाड़ फिर उसको लिखा दी थी ।

(१७) आसोप और आउवा वगैरह के बागी सरदारों ने कुछ आदमी जोधपुर में भेजे जो रात के वक्त सोते हुए सिंघी जोधराज को मारकर नीबाज में शंभुसिंह के पास चले गए ।

(१८) भंडारी धीरतमल मेड़ते का हाकिम था । सिंघी जोधराज को मरवा डालने से महाराज भीमसिंहजी ने सरदारों पर फौज भेजी । सरदार देसूरी से भाग कर नीबाज में जा घुसे । भंडारी धीरतमल ने मेड़ते से आकर नीबाज को घेरा । शंभुसिंह बीमार था वह तो मर गया ; सरदार निकल गए, शंभुसिंह का बेटा सुरतानसिंह छोटा था वह मेड़ते की फ़ौज में हाज़िर हो गया ।

(१९) ये दोनों भाई शंभुसिंह के बेटे थे पर नमकहरामों से मिल गए थे । महाराज मानसिंहजी ने उन नमकहरामों को सजा देकर इनकी हवेली पर भी फ़ौज भेजी । ये बहादुरी से लड़कर मारे गए जिसके लिये किसी कवि ने कहा है—

कोई पहरे झकतर बकतर, कोई बाँधे गाती ॥
सूरसिंह सुरतानसिंह तो लड़े उघाड़ी छाती ॥

दूसरे ही दिन पड़िहार लालसिंह ने जोधपुर से आकर ज़ब्त कर लिया। संवत् १८८१ मँगसर सुदि ६ को ठाकुर सावंतसिंहजी[२०] के पट्टे हुआ।

यह एक नमूना मारवाड़ में ख्यात लिखने की रीति का है जिसको हमने इतिहासरसिकों की सूचना के लिये यहाँ मारवाड़ी भाषा से उलथा करके टिप्पणी सहित लिख दिया है।

जिस बही से यह ख्यात लिखी गई है उसमें और भी बहुत सी इतिहाससंबंधी बातें लिखी हैं। जो ऐसी बहियाँ इकट्ठी की जायँ तो इतिहास का बहुत उपयोगी संग्रह हो सके।

जोधपुर के महाराज सरदारसिंहजी के स्वर्गवासी होने के तीसरे दिन चैत बदि ७ संवत् १९६७ को जोधपुर में पीले रंग की बूँदें बरसी थीं जो तूर के दाने के बराबर थीं। इस अद्भुत घटना से सारे शहर में 'केशर बरसने' के नाम का कोलाहल मच गया था। यह केशर उसी दिन पीपाड़ में भी बरसी थी। कई बूढ़े आदमियों ने कहा था कि पहले भी हमने केशर बरसने की बात सुनी थी। इस बही में भी एक जगह केशर बरसने की चर्चा है, उसका भी उलथा यहाँ प्रमाण के लिये किया जाता है।

"सिवाणे के क़िले पर संवत् १८८० में फागुन बदि १३ की रात

---

(२०) सावंतसिंह सुरतानसिंह के बेटे थे। महाराज ने जोधपुर में सुरतानसिंह को मरवाकर नीबाज पर फ़ौज भेजी। सावंतसिंह ६ महीने लड़कर निकल गए और बागी सरदारों से जा मिले। ५-६ बरस उनके शामिल रहकर लूटमार करते रहे। निदान महाराज ने उनको बागी सरदारों से अलग करने की ज़रूरत देखकर बुलाने का ख़ास रुक्का भेजा। उसमें यह दोहा भी लिखा था —

कळियों गाढो कीच में, रजमट हंदो रत्थ।
सावंतिया सुरताणरा तू काढ़ण समरत्थ॥

अर्थात् राज का रथ कीचड़ में गहरा गड़ गया है सुरतान के बेटे सावंतसिंह तू उसके निकालने को समर्थ है।

सावंतसिंह इसको पढ़ते ही बाप का वैर और सब गिल्वे शिकवे भूलकर हज़ूर में हाज़िर हो गए। महाराज ने भी महरबान होकर जागीर बहाल कर दी।

को कुंकुम और केशर की बूँदें बरसीं। फिर फागुन सुदि १४ को होली की रात को भी गढ़ पर और शहर में कुंकुम के छींटे पड़े। चैत बदि ३ और ४ को मेह बरसा उसमें केशर के भी छींटे थे जिसके समाचार हाकिम और कारकुन वग़ैरह ओहदेदारों के कागजों से श्री हजूर में मालूम हुए थे, मैंने भी पढ़े थे।

"चैत बदी ११ को दोपहर के लगभग जोधपुर में केसर की बूँदें बरसी थीं उन्हें बहुत लोगों ने देखा। पहले संवत् १८५९ में द्वारिका में केसर की और दिल्ली में लाल रंग की बूँदें पड़ी थीं।"

रीयाँ।

पीपाड़ से एक कोस पर खालसे का एक बड़ा गाँव रीयाँ नामक है। इसको सेठों की रीयाँ भी बोलते हैं क्योंकि यहाँ के सेठ पहले बहुत धनवान् थे। कहते हैं कि एक बार महाराज मानसिंहजी से किसी अँग्रेज़ ने पूछा था कि मारवाड़ में कितने घर हैं तो महाराज ने कहा था कि ढाई घर हैं। एक घर तो रीयाँ के सेठों का है, दूसरा बिलाड़े के दीवानों का है और आधे घर में सारा मारवाड़ है।

ये सेठ मोहणोत जाति के ओसवाल थे। इनमें पहले रेखाजी बड़ा सेठ था, उसके पीछे जीवनदास हुआ, उसके पास लाखों ही रुपए सैकड़ों हज़ारों सिक्कों के थे। महाराज विजयसिंहजी ने उसको नगरसेठ का खिताब और एक महीने तक किसी आदमी को क़ैद कर रखने का अधिकार भी दिया था। जीवनदास के बेटे हरजीमल हुए। हरजीमल के रामदास, रामदास के हमीरमल और हमीरमल के बेटे सेठ चाँदमल अजमेर में हैं।

जीवनदास के दूसरे बेटे गोरधनदास के सोभागमल, सोभागमल के बेटे धनरूपमल कुचामण में थे जिनकी गोद अब सेठ चाँदमल का बेटा है।

सेठ जीवनदास की छत्री गाँव के बाहर पूरब की तरफ़ पीपाड़ के रास्ते पर बहुत अच्छी बनी है। यह १६ खंभों की है। शिखर के नीचे चारों तरफ़ एक लेख खुदा है जिसका सारांश यह है—

सेठ जीवनदास मोहणोत के ऊपर छत्री सुत गोरधनदास हरजी-मल कराई नीव संवत् १८४१ फागुन सुदि १ को दिलाई। कलस माह सुदि १५ संवत् १८४४ गुरुवार को चढ़ाया।

कहते हैं एक बेर यहाँ नवाब अमीर खाँ के डेरे हुए थे, किसी पठान ने छत्री के कलस पर गोली चलाई ता उसमें से कुछ अशरफियाँ निकल पड़ीं। इससे छत्री तोड़ी गई तो और भी माल निकला जो नवाब ने ले लिया, फिर बहुत बरसों पीछे छत्री की मरम्मत सेठ चाँदमल के बाप या दादा ने अजमेर से आकर करा दी। इन सेठों की हवेली रीयाँ में है। उसमें बीलाड़े की हकूमत का थाना है। रीयाँ में प्रतापजी सेवक साधारण कवि हैं। इनका मूल पुरुष भग्गाजी गाँव सिरयारी से आया था। उसे सेठ रेखाजी ने बहुतसा धन दे कर यहाँ रख लिया। उसने उप्पलदे पँवार और ओसवाल जाति के बनियों की उत्पत्ति का एक बृहत् काव्य भाषा में बनाया है, पहले साह और पीछे बादशाह की कहावत की भी व्याख्या की है। उसके पोते मूलजी का एक बेटा गुमानजी भी कवि था।

प्रतापजी का जन्म संवत् १९३२ का है। इन्होंने अहमदनगर (दक्षिण) में कुछ कविता पढ़ी थी। इनको बहुत कवित्त याद हैं।

शाहजहाँ बादशाह के दरबार में मीरबख्शी सलावत खाँ ने राव अमरसिंह राठौड़ को गँवार कहा था जिस पर राव अमरसिंह ने बादशाह के देखते हुए सलाबतखाँ को कटारी से मार डाला था। उसी कटारी की प्रशंसा में उस समय के कवियों ने अच्छे अच्छे कवित्त कहे थे जिनमें ये दो प्रतापजी को भी याद थे जो अति उत्तम होने से यहाँ लिखे जाते हैं—

वजन माँह भारी थी कि रेख में सुधारी थी,
हाथ से उतारी थी कि सांचे हू में ढारी थी।
संखजी के दर्द मांहि गर्द सी जमाई मर्द,
पूरे हाथ साँधी थी कि जोधपुर सँवारी थी।
हाथ में हटक गई गुट्टी सी गटक गई,
फेंफड़ा फटक गई आँकी बाँकी तारी थी।

शाहजहाँ कहै यार सभा माँहि बार बार,
अमर की कमर में कहाँ की कटारी थी[२१] ॥ १ ॥
साहि को सलाम करि मार्यो थो सलाबत खाँ,
दिखा गयो मरोर सूर बीर धीर आगरो।
मीर उमरावन की कचेड़ी धुजाय सारी,
खेलत सिकार जैसे मृगन में बागरो।
कहै रामदान गजसिंह के अमरसिंह,
राखी रजपूती मजबूती नव नागरो।
पाव सेर लोह से हलाई सारी पातसाही,
होती समशेर तो छिनाय लेतो आगरो ॥ २ ॥

बागोरिया

पीपाड़ से ७ कोस उत्तर और जोधपुर से १८ कोस उत्तर-पूर्व के कोने में यह छोटा सा गाँव बालू रेत के एक दड़े के बीच में बसा है। इसको बाघ पँवार ने बसाया था। उससे पहले यहाँ नाहरपुरा गाँव था। जमींदारी जाखड़ और खोतगोत के जाटों तथा भाटी और देवड़ा जाति के मालियों की है। गाँव खालसा है। कूंपावत राठोड़ों की भी भोम है। ये कहते हैं कि हमारे मूलपुरुष कूंपावत पदमसिंह को महाराज अजीतसिंहजी ने विखे (आपत्काल) की बंदगी में गाँव गजसिंहपुरा और उनके भाई रामसिंह को गाँव बड़लू दिया था। गजसिंहपुरे के साथ २५ हज़ार की जागीर थी। पदमसिंह के बेटे जोरावरसिंह महाराज रामसिंह के स्वामिधर्मी रहे, जिससे महाराज बख्तसिंहजी ने महाराज रामसिंह से राज जीत लेने के पीछे जोरावरसिंह से गच्छीपुरा छीन लिया, फिर उनके बेटे लालसिंह को बागोरिया और घोरू वग़ैरह चार गाँव मिले। लालसिंह के बेटे सूरतसिंह और पोते हिम्मतसिंह थे। वे संवत् १८६५ में आसोप के ठाकुर केसरी-

---

(२१) यह ध्यान देने की बात है कि हिंदी के कवि जो बात मुसलमानों के मुँह से कहलवाते थे उसे रेख़ता या खड़ी बोली में कहते थे, और अपनी उक्ति व्रजभाषा में। भूषण की कविता में भी जहाँ मुगलों की उक्ति है वह ऐसी ही है।

सिंह के साथ जो दरबार से बागी थे बागोरिया छोड़ कर चले गए तो भी दरबार से गाँव ज़ब्त नहीं हुए, तब चासणी के ठाकुर करणसिंह ने कहलाया कि तुम तो ड्योढ़ी के चाकर हो, आसोप के ठाकुर के साथ क्यों रोते फिरते हो। इसपर वे बागोरिया में आ गए। मगर उसी दिन साँप ने पाँव में काट खाया और तब ही कँवर प्रतापसिंह के मारे जाने की खबर भी देसूरी से आई जो राज की फौज के साथ लुटेरे मीणों से लड़ने को गए थे। यह सुनते ही ठाकुर भी यहाँ मर गए और जागीर राज में ज़ब्त हो गई। प्रताप के पीछे उनका बेटा अनार-सिंह बागोरिया में जन्मा। उसका बेटा आसकरण संवत् १६२३ में मरा। उसके ३ बेटे धूहड़सिंह, डूंगरसिंह और गाहड़सिंह हैं। धूहड़सिंह संवत् १९६३ से अँग्रेज़ी सरकार के रिसाले नम्बर ३२ में नौकर है जो अभी स्यालकोट से बदल कर जब्बलपुर में आया था। इस रिसाले में ६२५ सवार और ४ स्क्वाड्रन हैं। १ स्क्वाड्रन सिक्खों का, १ राठोड़ों का और २ मुसलमान रंघड़ों के हैं। रिसालदार गाँव बड़वाड़ो का मेड़-तिया रणजीतसिंह और रसाईदार परगने नागोर के गाँव रानियें का चांदावत जोरावरसिंह हैं।

धूहड़सिंह आजकल रुख़सत पर अपने गाँव आया हुआ है। वह कहता है कि सन् १९०९ में जो एक बड़ी परेड रावलपिंडी से आगे हुई थी उसमें ३२ वाँ रिसाला भी गया था और यह वह जगह है जहाँ औरंगज़ेब बादशाह के राज में जोधपुर के बड़े महाराज जस-वंतसिंहजी के साथ राठोड़ों की फौज रहा करती थी और महाराज का चौंतरा रावलपिंडी से ३०-३५ कोस आगे जमरूद के पास है जिसे रसाईदार ज़ोरावरसिंह ने परेड में जाते हुए देखा था।

यह महाराज करनल सर प्रतापसिंह जी का प्रताप है कि मार-वाड़ के राठौड़ मुगल बादशाहों के समय के समान अँग्रेज़ी फौज में भी भरती होकर नाम पाने लगे हैं।

बागोरिये के पास पूर्व की तरफ़ एक लंबी पहाड़ी दूर तक चली गई है। उसमें एक पुराना मंदिर है जिसमें चामुंडा

और कालिका देवी की मूरतें रक्खी हैं। इसके पास दो शिलालेख भींत में लगे हैं। एक संवत् ११११ का है। उसमें एक गहलोत सरदार के मरने का हाल है और दूसरे में एक सांखले सरदार और उसकी दो सती खीचण और मोयल के नाम[२२] हैं।

इनसे जाना जाता है कि यहाँ संवत् ११११ में गहलोतों का और उनके पीछे साँखले राजपूतों का राज था। साँखलों का खुदाया हुआ एक कुवाँ भी इस गाँव की सरहद में है। उनके भाई सोढ़े भी पहले यहाँ रहते थे।

एक अद्भुत बात यह है कि इन माताओं का भोपा या पुजारी मुसलमान है। इसका नाम छोटू है। वह कहता है कि "मेरी कौम "हिंगोलजा" है जो सामेजा जाति के सिंधियों की एक शाखा है। मेरे पुरखाओं की पुरानी जन्मभूमि तो जैसलमेर में है परंतु फिर वे बाहड़मेर में आकर रहे। उधर अकाल बहुत पड़ा करते थे इसलिये मारवाड़ के गाँवों से ऊँटों पर नाज ले जाते थे। एक बार दो भाई मेड़ते से, जो १६ कोस पूर्व में है, अनाज का ऊँट लेकर आते थे। जब इस पहाड़ी के नीचे पहुँचे और नकारे की आवाज़ सुनी तो पूछने लगे कि यहाँ क्या है। किसी ने कहा कि माता का मंदिर है। यह सुन कर एक भाई ने कहा कि जो माता रोंड मुझे खाने को दे तो मैं यहीं रह जाऊँ। माता ने सपने में कहा कि तू रह जा, मैं खाने को दूँगी परंतु उसने कुछ ध्यान नहीं दिया और घर चला गया। वहाँ रात को दो ओढ़ी पहरी औरतें उसको दिखाई देती थीं और कहती थीं कि हमारे साथ चल, तुझे खाने को देंगे। निदान वह यहाँ आया और माता जी का पुजारी बन गया। मुझे उसका नाम याद नहीं है। भाट की बही में लिखा है कि तब से अब तक ३५ पीढियाँ बीत चुकी हैं।"

---

(२२) अर्थात् खींची और मोयल जाति की राजपूतनियाँ—ये दोनों जातियाँ चौहान वंश की शाखाएँ हैं और सांखला परमारवंश की शाखा है।

छोटू मुसलमान है, अपनी बिरादरी में सगाई विवाह करता है, झटके का मांस नहीं खाता है जो माता जी को चढ़ता है। झटका राजपूत लोग करते हैं और वही खाते हैं। छोटू की उमर प्रायः ५० वर्ष की है, संतान कोई नहीं है इसलिये अपने भानजे फौजू को साथ रखता है। चैती दसहरे के दिन माता जी के जवारे[२३] लेकर मेरे पास बागोरिये में भी आया था।

पंचमती पहाड़।

बागोरिये से एक कोस पश्चिम में पाँच पहाड़ियाँ हैं उनको पंचमती कहते हैं। एक पहाड़ी पर जो गाँव घोरू की सीमा में दो पहाड़ियों के बीच से रास्ता निकलता था उसको एक तरफ़ से किसी जोगी ने बंद करके अपने रहने को गुफा बना ली है और उसमें कुछ बेजोड़ ऊल जलूल अक्षर और अंक खुदा दिए हैं। उनमें चिड़ियानाथ का भी नाम है और एक टूटी हुई मूर्ति रखी है जिसको नकटी माता कहते हैं, क्योंकि आधा चेहरा फूटा हुआ है किंतु यह स्त्री की मूर्ति नहीं, पुरुष की है।

यहाँ एक शिलालेख की भाल लगी थी परंतु वह मिला नहीं।

---

(२३) उगे हुए जौ, जो नवरात्रों में माता जी के पास बोए जाते हैं।

१२—महाराजा भीमसिंह सीसोदिया।

[लेखक—बाबू रामनारायण दूगड़, उदयपुर ।]

वीरशिरोमणि हिंदूपति महाराणा प्रतापसिंह को कौन नहीं जानता कि जो अपनी स्वतंत्रता को स्थिर रखने के वास्ते मुगल शाहंशाह अकबर जैसे प्रबल शत्रु से निरंतर युद्ध करके बड़ी बड़ी विपत्तियाँ झेलने पर भी अपनी प्रतिज्ञा पर ध्रुव के समान अटल बने रहे, और चाँद, सूरज के सदृश अपनी अमर कीर्त्ति को संसार में छोड़ गए? राणा प्रताप के स्वर्गवास पर उनका पाटवी पुत्र अमरसिंह उदयपुर के राजसिंहासन पर सुशोभित हुआ, और दिल्ली का तख़्त अकबर शाह के पुत्र जहाँगीर को मिला। उसको भी बादशाहत पर आते ही यही धुन लगी कि किसी न किसी प्रकार राणा को अपने अधीन बनाऊँ तभी मेरा भारत का सम्राट् कहलाना सार्थक हो। अपने बड़े बड़े नामी सेनापतियों और शाहज़ादे पर्वेज़ की सर्दारी में उसने अनेक बार मेवाड़ पर आक्रमण किए, राणा के कई कुटुंबी और भाई बंधुओं को बड़े बड़े मनसब आदि का प्रलोभन देकर अपनी सेवा में लिया। सगर जी को चित्तोड़ का राणा बना दिया। उदयपुर अमरसिंह से छुट कर उसका निवास जंगल पहाड़ों में हुआ, तथापि अपने पूज्य पिता की प्रतिज्ञा को मन में धार यथाशक्ति प्रबल शत्रु के साथ लड़ाइयाँ लेने में राणा अमर किंचित् भी न हिचकिचाया, और समयानुकूल उसके प्रयत्नों को निष्फल करता रहा। तब तो शाहंशाह जहाँगीर ने स्वयं इस मुहिम को सिद्ध करने के लिये कमर कसी और वह अजमेर आया। बादशाह अपनी पुस्तक 'तुज़क-इ-जहाँगीरी' में लिखता है कि "वलायत हिंद के तमाम राजा व राय राणा की बुज़ुर्गी को स्वीकार

करते हैं और दीर्घ काल से इस राजवंश में दौलत और रियासत चली आती है। चित्तौड़ पर इनका अधिकार होने के समय से आज तक १४७१ वर्ष के अर्से में उन्होंने वलायत हिंद के किसी बादशाह के अधीन हो कर सिर न झुकाया, और अकसर लड़ाई झगड़े करते रहे। हज़रत फिर्दोसअकानी (बाबर) के साथ राणा साँगा ने वलायत हिंद के तमाम राजा राय व जमींदारों को लेकर एक लाख अस्सी हज़ार सवार व उतने ही पैदल की सेना से जंग किया। अल्लाह की मदद व क़िस्मत के ज़ोर से इसलाम की फौज को फतह हासिल हुई। मेरे पूज्य पिता (अकबर) ने भी राणा की सरकशी मिटाने में बहुत कोशिश की और फौजें भेजीं, (सं० वि० १६२४; ई० स० १५६७) में चित्तौडगढ़ तोड़ने और राणा के मुल्क को बर्बाद करने को वे आप गए, चार मास दो दिन के घेरे के बाद क़िला फतह हुआ, परंतु राणा अमरसिंह के पिता ने अधीनता न मानी। बादशाही सेना ने उसको यहाँ तक तंग किया कि उसका बंदी हो जाना या ख़राब ख़स्ता होना संभव था तथापि उस मुहिम में यथेष्ट रूप से सफलता प्राप्त न हुई। बादशाह (अकबर) ने मुझको भी बड़ी सेना और बड़े बड़े अमीर साथ देकर राना के मुल्क पर भेजा था परंतु कारण विशेष से उसका कुछ फल न निकला। तख़्त पर बैठते ही मैंने भी फर्ज़ंद पर्वेज़ की मातहती में तोपख़ाना और जर्रार लश्कर राना पर भेजा मगर उस वक़्त ख़ुस्रो का झगड़ा खड़ा हो जाने से उस (पर्वेज़) को पीछे बुलाना पड़ा। फिर अब्दुल्लाख़ाँ, फीरोज़ जंग और महाबतख़ाँ भेजे गए तो भी वह मुहिम मेरे मन मुवाफ़िक सर न हुई, तब मैंने विचारा कि जब तक मैं आप इसका प्रबंध अपने हाथ में न लूँगा तब तक कामयाबी होने की नहीं।"

हमारे लेख का नायक महाराजा भीमसिंह सीसोदिया इसी राणा अमरसिंह का पुत्र था। निरंतर लड़ाई झगड़ों से उदयपुर राणा के हाथ से निकल गया था, मेवाड़ में जगह जगह बादशाही थाने बैठे हुए थे, झाड़ पहाड़ और दुर्गम पर्वतीय स्थानों का आश्रय लेकर राणा

अमरसिंह अपने साथी सरदार और परिजन परिवार सहित सहस्रों आपत्तियाँ भोगने पर भी स्वाधीनता की डोर को हाथ से छोड़ना नहीं चाहता था। एक बार अबदुल्ला ने राणा के निवास-स्थान, चावंड के पहाड़ों को भी जा घेरा और उसके बचाव की कोई आशा न रही तब निराशा के गंभीर नीर में गोते खाते हुए राणा ने अपने पुत्र भीमसिंह से कहा, "बेटा भीम! अब यह सुरक्षित स्थान भी हमारे हाथ से गया, उदयपुर छूटने का मुझे इतना शोक नहीं जितना चावंड के अभेद्य पर्वतों के छूटने से है, और खेद भी इस बात का है कि अपना वास छोड़ने के पूर्व यदि एक बार भी हमने शत्रु को अपने हाथ न बतलाए और रजपूती का परिचय न दिया तो सीसोद कुल की उज्ज्वल कीर्ति कलुषित होगी।" भीमसिंह अपने पिता का आज्ञाकारी पुत्र था और आपत्काल में उसने दीवाण (राणा) की अच्छी सेवा की थी। अपने पूज्य पिता के ऐसे करुणाजनक वाक्य सुनकर उसके हृदय में क्रोधानल की ज्वाला धधक उठी। हाथ जोड़कर उसने निवेदन किया, "दीवाण, इतना शोक क्यों करते हैं? मैं आज ही अबदुल्ला का वह आतिथ्य करूँगा कि वह भी याद रक्खे। यदि तलवार बजाता हुआ उसकी सदर ड्योढ़ी पर जाकर छापा न मारूँ तो मेरा नाम भीम नहीं।" ज़बर्दस्त सेना साथ होने पर भी अबदुल्ला को प्रति क्षण अपने प्राणों का भय बना ही रहता था। जब उसने सुना कि आज भीम ने ऐसी प्रतिज्ञा की है तब ड्योढ़ी पर बहुत सी रणपरिचित चमू और बड़े बड़े अमीरों को रखकर उसने विकट प्रबंध कर दिया।

प्रभात होते ही नित्य कर्म से निश्चिंत हो, शस्त्र सज, कुँवर भीम ने नक्कारा बजवाया और तुर्क योधाओं का गर्व गंजन करने के पूर्व उसने यह विचारा कि आज उन देशद्रोहियों को भी कुछ शिक्षा देऊँ जिन्होंने अपने देश और स्वामिधर्म को तिलांजलि दी, और जो लोभ-वश शत्रु के सेवक बनकर कलंकित हुए हैं। इनमें मुख्य राणा अमर-सिंह का चचा सगर जी था। यह जी में ठान उस बलवंड भीम ने कई देशद्रोहियों की वही गति बनाई जो प्रचंड-बाहु पांडव भीम ने

कीचक की बनाई थी। अपनी दिनचर्या को समाप्त कर जब भगवान दिवसपति अस्ताचल में प्रवेश कर गए तब अर्धरात्रि के समय सजे सजाए दो हज़ार सवार साथ लेकर भयंकर भट भीम काल के तुल्य अबदुल्ला की फौज पर जा गिरा। जो सम्मुख हुआ उसके दो टूक। इस प्रकार कई योधाओं को यमपुर भेजता, काई की नाई शत्रुसेना को चीरता हुआ भीम सदर ड्योढ़ी तक जा पहुँचा। वहाँ तो पहले ही से लोग सावधान बैठे थे, दोनों ओर से तलवार बजने लगी, वीर क्षत्रियों ने बढ़ बढ़ कर हाथ मारे, सैंकड़ों तुर्क सैनिकों के रुंड मुंडविहीन होकर खेत पड़े। कई सेनानायक कालकवलित हुए, और कई घायल होकर गिरे। भीम के भी कई राजपूत काम आए। इतना साहस करने पर भी वह आगे न बढ़ सका और घाव खाकर वहीं से पीछे फिर गया। उसकी सवारी के घोड़े का भी पैर कट गया था अतएव दूसरे घोड़े पर सवार हो वह सीधा पिता के पास नाहरमगरे पहुँचा और उसने मुजरा किया। प्रसन्न होकर राणा ने कहा, "शाबाश भीम! तुमने जैसा कहा था वैसा ही कर दिखाया"। ऐसी कठोर शिक्षा पाने से चार मास तक फिर अबदुल्ला खाँ को भी हाथ पाँव हिलाने तक का साहस न हुआ।

इसके पीछे जहाँगीर बादशाह ने शाहज़ादे खुर्रम को बड़े भारी लश्कर के सहित राणा पर भेजा जिसने देश में जगह जगह थाने बिठा कर सारे विकट घाट-बाटों को रोक दिया। तब भी भीमसिंह सदा शत्रुदल से लड़ता रहा था। उस समय का किसी कवि का कहा हुआ गीत यह है—

खित लागा वार विन्है खूंदालम, सूतो अणी सनाहां साथ
थापै खुरम जेहड़ा थाणा, भीम करै तेहड़ा भाराथ
हुवे प्रवाड़ां हाथ हिन्दुवां, असुर सिंघार हुवै आराण
साह आलम मूकै साहिजादां, रायजादो थापलियो राण
मंडियो वाद दिली मेवाड़ां, समहर तिको दिहाड़ै सींव
भवसन पैठो किसे भाखरै, भाखर किसे न बिढ़ियो भींव

आरभ जाम अमर धर ऊपर, लड़ै अमर छलती पलंग
आथड़ियो घटियो असुरायण खूमांणो मांजियो खंग ॥

भावार्थ—क्षत्रियता से भरा हुआ धीर गंभीर भीम कवचधारी सेना से भिड़कर जहाँ जहाँ खुर्रम थाने डालता है वहीं वहीं संग्राम करता है। हिंदुओं के हाथ से युद्ध में कई यवन मारे गए। बादशाह ने शाहजादे को और राणा ने रायजादे को नियत किया। दिल्ली और मेवाड़ में युद्ध चला, शत्रु ने पर्वतों को घेरा तब प्रत्येक पहाड़ पर भीम उनसे जा भिड़ा, वीर अमरसिंह के पुत्र ने अपने खड्ग से असुर दल का संहार किया।

जब राणा अमरसिंह की बादशाह के साथ संधि हो गई, तब भीमसिंह मेवाड़ की ज़मीयत का अफसर होकर बादशाही दर्बार में रहता था। शाहंशाह जहाँगीर उसकी वीरता और स्वामिधर्म से इतना प्रसन्न हुआ कि उसने उसे तीन हज़ारी मनसब और टोड़े का पर्गना जागीर में देकर 'राजा' का ख़िताब प्रदान किया, और पृथक् नरपति बना दिया। बनास नदी के तट पर एक नगर बसा कर राजा भीम ने वहाँ बड़े महल (राजमहल) बनवाए जो अब जयपुर राज्य में हैं। उसका मान मनसब और पद प्रतिष्ठा बादशाही दर्बार में प्रति दिन बढ़ती ही रही यहाँ तक कि वह पांचहज़ारी मनसब पाकर "महाराजा" के पद को पहुँच गया और शाहज़ादे ख़ुर्रम की सेवा में रहने लगा, और उसके साथ गुजरात, गोंडवाना, और दखन की मुहिमों में अच्छा काम देने से उसका पूर्ण विश्वासपात्र बन गया।

जब ख़ुर्रम ने अपने पिता बादशाह जहाँगीर से सिर फेरा और अपने बड़े भाई पर्वेज़ की जागीर के कई नगरों पर अधिकार कर लिया तब महाराजा भीमसिंह शाहज़ादे की सेना के हिरोल में रहता था, उसने पटना नगर पर्वेज़ से छीन लिया। शाही लशकर को साथ लिए पर्वेज़ मुक़ाबले को आया। जयपुर का राजा जयसिंह और जोधपुर का राजा गजसिंह आदि और भी बड़े बड़े रईस पर्वेज़ के साथ थे। सं० १६८१ की कार्तिक सुदि १५ को गंगातट पर पटने के पास हाजीपुर

गाँव में (फार्सी तवारीखों में झाँसी के पास लिखा है) दोनों शाहज़ादों में घोर संग्राम हुआ। उस वक्त ख़ुर्रम की सेना के सेनापति दर्याखाँ पठान ने, जो बाज़ू पर था, हिम्मत हार दी और रणखेत से पीठ दिखाई। शाहजादे का तोपखाना छिन गया, और दूसरे लोगों के भी पाँव पीछे पड़े। यह दशा देख कर महाराजा भीम की रजपूती ने जोश किया, अपने रजपूतों सहित भूखे सिंह के समान शत्रुदल पर टूट पड़ा, घोड़े से उतर कर पैदल होगया, और वह लोहा बजाया कि पर्वेज़ की सेना में भागड़ पड़ गई। वीररस में रंगा हुआ महाराजा भीम अरिदल को चीरता पर्वेज़ के हाथी तक पहुँच गया। यहाँ शाहज़ादे के सैनिकों ने चारों ओर से उसे घेर कर मार लिया। तीर तलवार और बर्छे के सात घाव उसके तन पर लगे थे, शरीर में से रुधिर के फव्वारे छूटते थे, परंतु प्राणांत होने तक उस शूर-शिरोमणि ने अपनी तलवार हाथ से न छोड़ी।

जोधपुर के राजा गजसिंह यद्यपि बादशाही सेना के साथ पर्वेज़ की सेवा में उपस्थित थे परंतु युद्ध में सम्मिलित न हुए। अपनी अनी सहित अलग खड़े लड़ाई का ढंग देख रहे थे। इसका कारण कोई तो ऐसा बतलाते हैं कि शाहज़ादा ख़ुर्रम जोधपुरवालों का भानजा था इसलिये राजा गजसिंह गुप्तरूप से उसके पक्षपती और पर्वेज़ के विरुद्ध थे। कोई ऐसा भी कहते हैं कि आमेर के राजा जयसिंह के पास सेना अधिक होने से पर्वेज़ ने उसको हिरोल में रख दिया था इसलिये गजसिंह अप्रसन्न होगया। कुछ भी हो, जब महाराजा भीम ने गजसिंह को ललकारा तो उसने अपने घोड़ों की बागें उठाई और युद्ध के परिणाम को पलट दिया। जोधपुर की ख्यात में लिखा है कि "पचीस हज़ार सेना सहित सीसोदिया भी शाहज़ादे ख़ुर्रम की फौज में हिरोल में था, और गौड़ गोपालदास और दूसरे भी कई नवाब ख़ुर्रम के साथ थे। राजा गजसिंह नदी के तट पर बांई ओर अलग खड़ा हुआ युद्ध का कौतुक देख रहा था। ख़ुर्रम और भीम राणावत के वीरों की बागें उठीं, और पर्वेज़ की फौज भाग निकली। उस वक्त भीम ने शाहज़ादे के

कहा कि और सेना तो भागी परंतु राजा गजसिंह सामने खड़ा है अतएव उसका बल भी मैं देख लेता हूँ। जब भीम के घोड़े राजा की तरफ उठे उस वक्त वह नदी के किनारे नाड़ा खोलने को बैठ गया था, राजा के साथी सर्दार कूंपावत गोवर्द्धनदास ने आगे बढ़ कड़क कर गजसिंह को कहा कि पर्वेज़ की फौज भागी जारही है और आपको नाड़ा खोलने का यह समय मिला है। लघुशंका से निवृत्त हो राजा ने उत्तर दिया कि हम भी यही बाट जोह रहे थे कि कोई रजपूत हमको कहनेवाला है या नहीं। फिर सवार हो घोड़े रणखेत में डाले। भीम सीसोदिया हाथी पर सवार था। राजा गजसिंह और गोवर्द्धन कूंपावत दोनों हाथी के निकट जा पहुँचे, गजसिंह ने बर्छा चला कर भीम को पृथ्वी पर मार गिराया, ख़ुर्रम भागा, और पर्वेज़ की फतह होगई। शाहज़ादे ख़ुर्रम ने अपनी विजय होने पर भीम को जोधपुर देने का वचन दिया था। इस युद्ध में उभय पक्ष के निम्नलिखित सर्दार मारे गए-भीम सीसोदिया, जैतारणिया राठौड़ हरीदास, कूंपावत कंवरा, जसवंत सादूलोत। राठौड़ राघोदास, राठौड़ भीम कल्याणदासोत और राठौड़ पृथीराज बल्लुओत घायल हुए, और कूंपावत गोरधन चांदावत पूरे घाव खाकर पड़ा।"

यद्यपि ख्यात में महाराजा भीम का हाथी पर सवार होना और राजा गजसिंह के बर्छे से मारा जाना लिखा है परंतु इस विषय में फारसी तवारीख़ मआसिरुल उमरा का लेख विशेष विश्वास के योग्य है कि भीम ने पैदल होकर युद्ध किया और पर्वेज़ के सैनिकों ने घेर कर उसे मारा। इसी लड़ाई के वर्णन में कहे हुए निम्नलिखित गीतों से भी यही आशय टपकता है—

गीत

अंग लागै बाण जुजबा उडै गै गाजै बाजै गुरज।
भांजै नहीं दलीदल भड़तां, भीमड़ा हड़मततणा भुज।
बरंगल झडै ऊधडै बघतर चौधारां धारां खगचोट।
ओट होय मंडियो इम रावत कालो पडै न मैंमत कोट।

गोला तीर आ छूटै गोला डोला आलमतणा दल।
पड़ दड़अड़ चड़यड़ चहुं पासै खूमांणो लूंबिया खल।
पातल हरा ऊपरा पड़भव खल खूटा तूटा खड़ग।
पांडवनामी नीठ पाड़ियो लग ऊगमण आथमण लग ॥१॥

असा रूप सूं भीम खग बाहतो आवियो विषम भारतवणी बणी बेला।
भांज दल सैद गजसिंह सूं भेलिया भांज गजसिंह जयसिंह भेला॥
खत्रीवट प्रगट अमरेस रो खेलतो ठेलतो ठाट रहियो समर ठांह।
मार तुरकां दिया सार कमधां मंही मार कमधां दिया कुरंभा मांह॥
असंगदल दली रा भुजंग उछाड़तो समर भड़ भीम दीठो सबां ही।
घैंच बच बारहां मंडोवर घातिया मंडोवर घैंच आमेर मांही॥
भीमा सांगा हरो विहंड करतो भड़ां आवरत सावरत खगै उजालो।
पचै असुरै सुरै घणा माथा पटक कटक मर मारियो नीठ कालो॥२॥

भावार्थ—अंग में बाणादि शस्त्र के लगने, गुर्ज़ जुजरबों के चलने, और हस्तियों के गर्जने पर भी दिल्ली दल से भिड़ते हुए वीर भीम की भुजा नहीं थकती है। गोलो गोलों और खड्ग की चैाधार चोटों से बख़्तर उधड़ उधड़ कर टूक टूक होते हैं। अड़ते और पड़ते हुए अरियों ने खुमांण (भीम) को चारों ओर से घेर लिया और प्रताप के पोते पांडव नाम के (भीम) को प्रभात से संध्या तक पच पच कर प्राण देते हुए शत्रुओं ने कठिनाई से मारा॥१॥

विषम भारत के समय विकराल रूप से खड्ग चलाते हुए भीम ने सैयदों (तुर्क सेना) के दल को बखेर कर गजसिंह के शामिल किया और गजसिंह को भगा कर जयसिंह से मिलाया। अमरसिंह के पुत्र ने युद्ध की वेला रणखेत में खेलते हुए तुर्कों को मार कर राठौड़ों में, और राठौड़ों को कछवाहों में खेंच पटका। सांगा का प्रपौत्र भीम योद्धाओं का नाश करता, अपने खड्ग को उज्ज्वल बनाता रहा। उस विषधर काले (सर्प) को सुर असुरों (शत्रु) ने बहुत सिर पटक, अपने कटक का नाश कराकर भी बड़ी कठिनता से मारा।

———

१३—सिंहलद्वीप में महाकवि कालिदास का समाधिस्थल ।

कालिदास की देशभाषा ।

[लेखक—पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बी० ए०, अजमेर ।]

संस्कृत साहित्य में महाकवि कुमारदास और महाकाव्य जानकीहरण का नाम बहुत विख्यात है । उस काव्य की उत्तमता पर राजशेखर ने तो यहाँ तक कह डाला है[1] कि—

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति ।
कविः कुमारदासो वा रावणो वा यदि क्षमः ॥

अर्थात् रघुवंश (कालिदास का काव्य और रघु का वंश) के रहते हुए यदि किसी की हिम्मत जानकीहरण[2] (काव्य और सीता का हरण) करने की हुई तो या तो कवि कुमारदास की[3] या रावण की ।

---

(१) आरोहक भगदत्त जल्हण की सूक्तिमुक्तावली में राजशेखर के नाम से यह श्लोक दिया है ।

(२) सिंहली भाषा में एक जानकीहरण काव्य की टीका मात्र मिली थी । उसपर से बड़े परिश्रम और पांडित्य से जयपुर के शिक्षाविभागाध्यक्ष पंडित हरिदास शास्त्री ने, पंडित मधुसूदन ओझा की सहायता से, काव्य का मूल संपादित किया । पुस्तक छप ही रही थी कि शास्त्री जी का स्वर्गवास हो गया। उधर सिलोन के विद्यालंकार कालेज के धर्माराम महास्थविर ने जानकीहरण छाप दिया । पीछे शास्त्री का संस्करण निकला ।

(३) संस्कृत की सुभाषितावलियों में कई श्लोक कुमारदास (कुमार, कुमारदत्त, कुमार भट्ट, भट्टकुमार) के नाम से दिए हैं, उनमें से बहुत से जानकीहरण में मिल गए हैं । कई नहीं भी मिले । अमरकोष की टीका रायमुकुटी और उज्ज्वलदत्त की उणादि सूत्रवृत्ति में भी कुछ उद्धरण कुमारदास के जानकीहरण के मिले हैं ।

जानकीहरण के अंत में कवि ने अपना नाम कुमारपरिचारक (कुमारदास का पर्याय) दिया है और दो मामाओं की अपने ऊपर परम कृपा बतलाई है[४] ।

सिंहलद्वीप की पूजावली और पेरुकुम्बसिविक्त में यह लिखा है कि मोग्गलायन कुमारदास या कुमारधातुसेन सिंहल का राजा नौ वर्ष राज्य करके कालिदास की चिता पर आत्मघात करके मर गया। महावंसो[५] और काव्यशेखर में उसे मोग्गल (मौद्गल) वंश का न मान कर मौर्यवंशी माना है। महावंसो के अनुसार उसकी मृत्यु सन् ५२४ ई० में हुई। धर्माराम उसकी विद्यमानता सन् ५१३ ई० में मानते हैं[६] । जानकीहरण की टीका मात्र ही मिलती है, वह भी सिंहल में; कवि कुमारदास और राजा कुमारदास एक ही हैं।

कहते हैं कि यह कालिदास का समसामयिक था। कालिदास के कानों तक जानकीहरण का यश पहुँचा और उसने इस काव्य को बहुत सराहा। जब कुमारदास ने यह सुना तो सम्मानपूर्वक कवि को अपने यहाँ बुलाकर रक्खा। एक नायिका के यहाँ कालिदास आया जाया करते थे। उसने कवि के लिये अपने द्वार पर यह समस्या लिख दी कि—

कमलात् कमलोत्पत्तिः श्रूयते न तु दृश्यते।

(कमल से कमल का होना सुना जाता है पर देखा नहीं)

---

(४) कृतज्ञ इति मातुलद्वितययत्नसानाथ्यतो
महार्थमसुरद्विषो व्यरचयन्महार्थं कविः।
कुमारपरिचारकः सकलहार्दसिद्धिः सुधीः
श्रुतो जगति जानकीहरणकाव्यमेतन्महत्॥

(५) सिंहल का बौद्ध ऐतिहासिक पुराण।

(६) कुमारदास के समय की नीचे की अवधि ईसवी सातवीं सदी है। कालिदास और कुमारदास की समसामयिकता सिंहल के पुराणों पर ही अवलंबित है। राजशेखर का श्लोक तो यही बतलाता है कि रघुवंश के बने पीछे जानकीहरण बना, जो समयांतर में भी संभव है।

कालिदास चुपचाप उसके नीचे लिख आए—

बाले तव मुखाम्भोजात् कथमिन्दीवरद्वयम् ?

(हे बाले, तेरे मुखकमल से भला ये दो (नेत्र--) कमल कैसे उग आए हैं ?)

कुछ समय पीछे, मारवाड़ की ख्यातों की बोलचाल में, कालिदास पर 'चूक' हुई; उसी रमणी के कारण वे छल से मारे गए। मित्रवियोग से विह्वल होकर कुमारदास ने भी उसी चिता पर पछाड़ खा कर देहावसान कर दिया।

सन् १६०६ ई० में कलकत्ते के महामहोपाध्याय डाकृर सतीशचंद्र विद्याभूषण आचार्य सिंहल गए थे। वहाँ उन्होंने सुना कि दक्षिण प्रांत के माटर सूबे में एक स्थान, जहाँ किरिंदी नदी भारत-महासागर में मिलती है, कालिदास का समाधिस्थान कहा जाता है। पड़ोस में तिष्याराम के मठ में रहनेवाले भिक्खुओं ने भी ऐसा ही कहा और दूसरे मठों के भिक्खुओं ने भी इस प्रवाद की पुष्टि की। लगभग ५०० वर्ष पुराने सिंहली ग्रंथ पराक्रमबाहुचरित में भी इसका उल्लेख है।

यह कहा जाता है कि कुमारदास ने कालिदास की बोली में एक पद्य कहा था। यह कालिदास के प्रति प्रेम दिखाने के लिये किया और उसमें एक कूट पहेली भी धरी कि कवि उसे बूझे। वह यह है—

मूल

सिय ताँवरा सिय ताँवरा सिय सेवेनी।
सियस पूरा निदि नो लवा उन सेवेनी॥

संस्कृत शब्दांतर

शतदल तामरसं स्वादु तामरसं (तस्य) स्वादं सेवमाना
स्वीयमक्षि पूरयित्वा निद्रां न लभमाना उद्वेगं सेवते॥

हिंदी अर्थ

सौ दल का कमल, स्वादयुक्त कमल, [उसके] स्वाद का सेवन

करती हुई (स्वाद लेती हुई) अपनी आँखें भरकर नींद न पाती हुई घबराहट को पाती है ॥

मूल और संस्कृत शब्दांतर हमने डाकृर सतीशचंद्र का दिया है। भाषानुवाद शब्दानुसारी हमारा अपना है। भाव यह है कि सायं-काल को भौंरा शतदल स्वादु कमल में घुसा। उसके रस को पीकर मस्त हो गया और कमल बंद होने पर उसमें कैद हो गया। रस और रज से आँखें भर गईं। आँख भरकर नींद न आई, अपनी दशा की चिंता में व्यग्र रहा। इसका उत्तर कालिदास ने अपनी ही भाषा में यह दिया—

मूल

बन बँवरा मल नोतला रोणट बनी
मल देदरा पण गलवा जिय सुबेनी ॥

संस्कृत शब्दांतर

वनभ्रमरः मालां (पुष्पं) न उत्तोल्य रजोऽरर्थं (यद्वा रण इति शब्दं कुर्वन्) प्राविशत् ।

मालायां (पुष्पे) विदीर्णायां प्राणान् गालयित्वा गतवती सुखेन ॥

हिंदी अर्थ

वन का भौंरा, माला को (फूल को) न उतोल कर रज के लिये (या रुण रुण करता हुआ) घुसा, माला (पुष्प) के फट जाने पर प्राण गलाकर (बचा कर) गई सुख से।

कालिदास ने पहेली बूझ ली। कुमारदास के छंद में यह नहीं कहा था कि कौन घुसा। कालिदास कहते हैं कि वनभौंरा पराग के लिये, या रुन रुन करता हुआ, माला (पुष्प) को बिना हिलाए डुलाए घुस गया था। सबेरे माला के खुल जाने पर प्राण बचाकर सुख से निकल गया।

आजकल नई प्रादेशिकता की धुन बढ़ रही है। बंगाली कालि-दास को नदिया में खैंच कर ले जाना चाहते हैं जैसे कि पटने में जन्म

होने के कारण गुरु गोविंदसिंह को बंगाली कहा करते थे। मैथिल तो सदा से पंडितमात्र को मैथिल कहते आए हैं। इन पदों की भाषा पर भी बंगाली कहते हैं कि यह पुरानी बंगला है, मैथिल कहते हैं पुरानी तिरहुतिया है, अनुनासिक बहुलता से गुजराती इसे गुजराती कहते हैं। डाक्टर सतीश विद्वानों से पूछते हैं[७] कहो इसे क्या कहा जाय ?' सिंहली इसे पुरानी सिंहाली भाषा कहते हैं।

पहले तो इन प्रश्नोत्तर की गाथाओं की वास्तविकता में दंतकथा को छोड़कर कोई प्रमाण नहीं। दूसरे इनका शुद्ध पाठ यही है इसमें बड़ा संदेह है। सतीश बाबू ने इन्हें कर्णपरंपरा से सुने हुए पाठ से कलमबंद किया या किसी पुरानी पोथी से उतारा, यह पता नहीं चलता। जैसे पहली गाथा में वे 'सिय' लिखते हैं, प्राकृत में शत का 'सय' होना चाहिए। भ्रमर का भँवरा (हिंदी) न करके वे बंवरा बनाते हैं। यह 'भ' का 'व' सिंहल में हुआ या सतीश बाबू की कलम में, यह जानना चाहिए। तीसरे यदि कालिदास की मृत्यु और कुमारदास के आत्मघात की मिति वही ठीक हो तो उस समय अपभ्रंश भाषा ही न जम चली थी, पुरानी बंगला और पुरानी मैथिली का जन्म ही कहाँ ? उस समय तो अर्धमागधी से प्राकृत के अपभ्रंश बन रहे होंगे। उस समय प्रादेशिकता की छाँट भाषा में कहाँ पहुँची होगी ? चौथे इन गाथाओं की भाषा चिंत्य है, कम से कम संस्कृत छाया जो बनाई गई है वह बहुत विचारणीय है। 'रोणट = रोणंतो = रुणंत = रुण रुण करता' ही ठीक है 'रेणोरर्थे' नहीं। 'बँवरा (भ्रमर) पुंल्लिंग के साथ 'गिय' (गतः) पुंल्लिंग चाहिए, उसका संस्कृत 'गतवती' क्यों किया है जो कि स्त्रीलिंग है ? ऐसे ही एक 'सेवेनी' तो तिङंत (सेवते) लिया गया है, दूसरा 'सेवेनी' (सेवमाना) धातुज वर्तमान विशेषण माना गया है। 'भँवरा' पुंल्लिंग है, 'गिय' पुंल्लिंग है, तो 'सेवेनी' का रूप संभवतः सेवंतो, सेअंतो, सेवेनो या सेएनो होना चाहिए। तब भ्रमर में स्त्रीत्व का जो आरोप कविता में नया ही होता है

---

(७) पूना की पहली ओरिएंटल कांग्रेस में उन्होंने यह प्रश्न भेजा था।

वह करने की आवश्यकता न होती। 'मल' जो मूल में है उसे माला मान कर क्लिष्ट कल्पना से पुष्प बनाने की अपेक्षा 'कमल' क्यों न मानें? 'लबा' को लभमान (प्राकृत लभंतो) न मान कर 'लबा = लभ्य = लभिय = लब्ध्वा = पाकर' समझना[८] या 'लब्धवान् = लब्धः' मानना अधिक अच्छा होता।

जो हो, भाषा तथा प्रवाद की वास्तविकता सिद्ध होने पर भी कालिदास को बंगाली, मैथिल या गुजराती बनानेवालों का काम इन गाथाओं से नहीं सरैगा।

---

(८) इन्हीं दो गाथाओं में तीन प्रमाण इसके लिये मिल जाते हैं—

(क) पूरा = पूर्य = पूरिय = पूरयित्वा

(ख) नेााला = न उत्तोल्य

(ग) गलवा = गलय्य = गालय्य = गालयित्वा।

१४—पन-चे-यूचे ।

[लेखक—बाबू जगन्मोहन वर्मा, बनारस ।]

चीनी यात्रियों ने अपने यात्रा-विवरण में 'पन-चे-यूचे' वा 'पन-चे-यूशे' पद का व्यवहार किया है। हमारे युरोपीय अनुवादकों ने इसके आशय का मनमाना अनुवाद किया है और उसके विषय में अनेक कल्पनाएँ कर डाली हैं। बील ने कुची (Kiuchi) के वर्णन में लिखा है कि "इन मूर्तियों के सामने पंचवार्षिक परिषद का स्थान बना है। प्रति वर्ष शारदीय विषुवत्[1] के समय दस दिन तक सब देशों के भिक्षु इस स्थान पर एकत्र होते हैं। राजा और प्रजा सब छोटे बड़े उस समय अपना काम बंद करते, धर्मचर्चा सुनते और शांति से दिन बिताते हैं"।[2]

यहाँ पंचवार्षिक परिषद् के लिये quinquennial assembly पद लिख कर बील नोट में यह लिखते हैं कि called Panchavarsha or Panchavarshika and instituted by Asoka अर्थात् इसे पंचवर्ष वा पंचवार्षिक कहते हैं और अशोक ने इसको चलाया है। पर हमें अशोक के अभिलेखों में कहीं भी ऐसे कृत्य का उल्लेख नहीं मिलता जिसका नाम पंचवर्ष वा पंचवार्षिक परिषद हो और जो प्रति वर्ष होता हो। इस पर वाटर्स ने भी कुछ विशेष नहीं लिखा है। हाँ, उनके अनुवाद में कुछ अंतर है जो बील की अपेक्षा मूल के अधिक अनुकूल है, पर 'पन-चे-यूशे' का अर्थ वे भी समझ न सके हैं। उनका लिखना यह है "ये मूर्तियाँ उस स्थान पर हैं जहाँ पंचवार्षिक महाबुद्ध संघ

(१) ता० २१ सितंबर के आस पास जब रात दिन समान होते हैं। ता० २१ मार्च के लग भग बसंत विषुवत् होता है।

(२) बील, हियनसांग, खंड १ पृष्ठ २१।

होता था जिसमें प्रति वर्ष शरद्-ऋतु का यती और गृही का धर्म-सम्मेलन होता था। यह लगभग दस दिन तक रहता था और देश के चारों ओर के भिक्षु वहाँ आते थे। इस धर्मसम्मेलन में राजा और उसकी प्रजा सब काम बंद कर देते, व्रत करते और धर्मचर्चा सुनते थे"[३]। यह भी व्याख्यामात्र है, मूल का यथार्थ अनुवाद इस प्रकार है—"ये मूर्तियाँ उस स्थान का पता देती हैं जहाँ 'पन-चे-यूशे' होता था। यह प्रति वर्ष विषुवत् के समय दस दिन तक होता था और देश भर के भिक्षु एकत्र होते थे। 'पन-चे-यूशे' के समय राजा और प्रजा सब काम बंद कर देते, उपवसथ करते, धर्मचर्चा सुनते और शांति से दिन बिताते थे।" पर 'पन-चे-यूशे' क्या है और इसको पंचवार्षिक सभा (quinquennial assembly) हमारे युरोपीय अनुवादक ने क्यों समझा यह हमारी समझ में नहीं आता। यही शब्द बील ने इसी खंड में एक जगह और भी प्रयोग किया है। वह यह है—"इस जनपद का राजा सदा मोहा (पन-चे) यूशे करता है। अपनी सारी की सारी संपत्ति को, स्त्री पुत्र से लेकर अपने राज्यकोश तक और यहाँ लों कि अपने शरीर को भी, दान कर देता है। फिर उसके अमात्य और अन्य राजकर्मचारी भिक्षुओं को मूल्य देकर सब संपत्ति को लौटा लेते हैं। इन बातों में इनका बहुत काल लगता है"[४]। यहाँ पर फिर नोट में वे लिखते हैं कि "जान पड़ता है कि मोक्षपरिषद् प्रति पाँचवें वर्ष भिक्षुओं के हितार्थ होती थी। उस समय धर्मग्रंथों का पारायण होता था और भिक्षुओं को दानादि मिलता था। यह मेला किसी अच्छे पर्वत पर होता था। इसे पंचवार्षिक परिषद् कहते थे।"

आश्चर्य तो यह है कि यह देखने पर भी कि यह सभा प्रति-वर्ष वा यथाभक्ति होती थी आप यह कहते हो जाते हैं कि उसे पंच-वार्षिक परिषद कहते थे। आप स्वयं इसी प्रकार के एक और परिषद

(३) वाटर्स, अध्याय ३, पृष्ठ ६३.

(४) हियनसांग, भाग १, अध्याय १, पृष्ठ ५२.

का उल्लेख ग्यारहवें खंड में शिलादित्य के विषय में इन शब्दों में करते हैं—Every year he convoked an assembly called Moksh Mahaparishad[१] अर्थात् वह प्रति वर्ष मोक्ष महापरिषद् नामक परिषद आमंत्रित करता था। यहाँ पर भी उसके प्रति वर्ष होने का ही पता चलता है। रही अशोक के अभिलेख की बात, वहाँ तीसरे शिलालेख में केवल यह वाक्य है कि "सवता विजितसि मम युता लाजुके पादेसिके पंचसु पंचसु वसेसु अनुसयानं निखमंतु एतायेवा अथाये इमाये धंमनुसथिया यथा अंनाये पि कंमाये। साधु मातापितिसु सुसुसा मितसंथुतनातिक्यानं चा बंभनसमनानं च। साधु दाने पानानं अनालंभे साधु अपवियाता अपभंडता साधु"। अर्थात् "सर्वत्र मेरे विजित (देशों) में मेरे युक्त और राजुक और प्रादेशिक पाँचवें पाँचवें वर्ष अनुसंयान (दौरे) पर निकला करें। इस काम के लिये भी जैसे अन्य और कामों के लिये निकला करते हैं। अच्छी है माता पिता की शुश्रूषा, मित्र संस्तुत और जातिवालों की और ब्राह्मण और श्रमणों की शुश्रूषा। अच्छा है दान। प्राणियों का न मारना अच्छा है। अल्प व्यय करना, अल्प भांड रखना अच्छा है।" यह धर्मानुसंयान के लिये आदेश है, परिषद के लिये नहीं। यह पाँचवें वर्ष होता था, प्रति वर्ष नहीं।

अब विचारणीय यह है कि 'मोहा पन-चे-यूशे' था क्या? इसमें संदेह नहीं कि 'पन-चे' देख कर ही युरोपीय विद्वानों के ध्यान में यह बात जमी कि इसका प्रथम शब्द पंच अवश्य है। पर यह ध्यान नहीं आया कि अंतिम शब्द वार्षिक अथवा परिषद नहीं है और न वह पाँचवें वर्ष ही होता था। यद्यपि वर्णन के देखने से जान पड़ता है कि वह एक प्रकार के दान के लिये भिक्षु संघ का आमंत्रण था, पर जो बात एक बार जम गई वह पलट कैसे सकती थी। 'यूशे' विसर्ग का रूपांतर है। विसर्ग दान को कहते हैं। बौद्धों में 'पंच विसर्ग' वा 'पंच

(१) बील, हियनसांग, भाग २, पृष्ठ २६१।

महापरित्याग' अत्यंत पुण्य कर्म माना जाता था। अभिधानदीपिका,[१] श्लोक ४२१, में लिखा है—

पंच महापरिच्चागा वुत्तो सेट्ठ धनस्स च ।
वसेन पुत्रदारानं, रज्जस्संगानमेव च ॥

अर्थात् "प्रति वर्ष श्रेष्ठ धन का दान, पुत्र का दान, स्त्री का दान, राज्य का दान और अपने शरीर का दान, इसे पंचमहापरित्याग कहते हैं"। इसी पंच विसर्ग को यात्रियों ने 'पन-चे-यूशो' लिखा है जिसे न समझ कर अनुवादक मनमानी कल्पना कर भ्रम में पड़े हैं तथा औरों के भ्रम के कारण हुए हैं।

यह पंचविसर्ग वा पंचमहापरित्याग प्राचीन सर्ववेदस् वा सर्वस्वदक्षिणा नामक यज्ञ का ही रूपांतर था जिसका उल्लेख ब्राह्मणों और उपनिषदों में प्रायः मिलता है। उसी में कुछ लौट फेर करके बौद्धों ने उसे एक नया रूप दे दिया था और उसका प्रचार भारतवर्ष तथा विदेश के बौद्ध राजाओं में ह्वियनसांग के समय तक था।

---

(१) मोग्गल्लान थेर रचित, लंका के कोलंबो नगर से प्रकाशित।

१५—मआ सिरुल उमरा।

[लेखक—मुंशी देवीप्रसाद, जोधपुर।]

जैसे मुसलमान बादशाहों की बहुत सी तवारीखों में से तारीख फरिश्ता से हिंदुस्तान के सब बादशाहों का हाल अकबर बादशाह तक मालूम होता है वैसे ही सब हिंदू मुसलमान बादशाही अमीरों का हाल ऊपर लिखी पुस्तक से जानने में आता है और इस विषय की यह एक ही किताब अब तक मेरे देखने में आई है। एशियाटिक सोसाइटी बंगाल ने भी इसी उपयोगिता से इसे पसंद करके छापा है।

इसके ३ खंड हैं जिनकी तफसील यह है—

खंड	पृष्ठ	नाम	मुसलमान	हिंदू
१	८३५	१४८	१४०	८
२	८८२	२८२	२१२	७०
३	८८०	२५५	२४४	११
जोड़	२६९७	६८५	५९६	९०

यह ऐसी उपयोगी तवारीख एक उदार नव्वाब की बनाई हुई है जिनका नाम शाह नवाज़खाँ और खिताब सम्सामुद्दौला था जो सन् ११११ हिजरी (संवत् १७५६) में लाहोर में जन्मे थे और निज़ाम हैदराबाद के वज़ीर आज़िम (प्रधान मंत्री) हो कर ३ रमज़ान सन् ११७१ (बैसाख सुदी ४ सं० १८१५) को लच्छना नाम एक हिंदू के हाथ से मारे गए।

इस किताब में अकबर बादशाह के सन् एक जलूस (सन् हिजरी ९६३, संवत् १६१२) से लेकर मोहम्मदशाह बादशाह तक प्रायः २०० बरसों में होनेवाले ६८५ बड़े बड़े अमीरों का हाल बड़ी सावधानी

और जाँच पड़ताल से लिखा गया है जिनमें ६० हिंदुओं के नाम ये हैं—

पहली जिल्द

संख्या	मूल पुस्तक की क्रम संख्या	नाम	पृष्ठ
१	६२	उदाजीराम दक्खनी ब्राह्मण	१४२
२	१३०	भेरजी ज़मींदार बगलाना (राठौड़)	४१२
३	१३५	पृथ्वीराज राठौड़	४२६
४	१६८	जगमाल कछवाहा राजा भारामल का भाई	५१०
५	१७१	जगन्नाथ कछवाहा राजा भारामल का बेटा	५१४
६	१७२	जादूराव कानसटिया जादव	५२१
७	१७४	जुगराज विक्रमाजीत बुंदेला राजा जुझारसिंह का बेटा	५२६
८	१८१	चूड़ामन जाट	५४०

दूसरी जिल्द

संख्या	मूल पुस्तक की क्रम संख्या	नाम	पृष्ठ
१	२२	धिराज राजा जैसिंह सवाई	८१
२	३१	रूपसी कछवाहा	१०६
३	३२	राजा भारामल	१११
४	३३	राय सुरजन हाडा	११३
५	३४	राय लूनकरण कछवाहा	११६
६	३५	राजा बीरबर	११८
७	३६	राजा टोडरमल	१२३
८	३७	राजा भगवंतदास	१२६
९	३८	राजा मधुकरसाह बुंदेला	१३१
१०	३९	राजा रामचंदर बघेला	१३४
११	४०	राजा रामचंद चौहान	१३५
१२	४१	राजा विकमाजीत	१३६
१३	४२	राय भोज हाडा	१४१

तीसरी जिल्द

१६—अनहिलवाड़े के पहले के गुजरात के सोलंकी।

[लेखक—रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, अजमेर।]

(१)

गुजरात में सोलंकियों का स्वतंत्र और प्रतापी राज्य मूलराज ने अनहिलवाड़े में स्थापित किया, किंतु उसके पहले भी उक्त प्रांत के लाट आदि प्रदेशों पर सोलंकियों की छोटी छोटी शाखाओं का अधिकार रहना पाया जाता है। इस लेख में उन्हीं शाखाओं का वृत्तांत लिखा जाता है।

खेड़ा[1] से एक दानपत्र[2] सोलंकी राजा विजयराज का मिला है। इस राजा को विजयवर्मराज भी कहते थे। दानपत्र का आशय यह है कि "सोलंकी वंशी जयसिंहराज का पुत्र बुद्धवर्मा हुआ, जिसके बिरुद 'वल्लभ' और 'रणविक्रांत'[3] थे। उसके पुत्र राजा विजयराज ने [कलचुरि[4]] संवत् ३६४ (वि० सं० ७०० = ई० सं० ६४३) वैशाख शुदि १५ के दिन जंबूसर[5] के ब्राह्मणों को काशाकूल[6] विषय

(१) बंबई हाते में उक्त नाम के ज़िले का मुख्य शहर।

(२) इंडि० एंटि० जिल्द ७, पृ० २४८-४९.

(३) युद्ध में पराक्रम बतलानेवाला।

(४) गुजरात के लाट प्रदेश पर पहले कलचुरियों (हैहयवंशियों) का राज्य रहने से वहाँ पर उनका चलाया हुआ कलचुरि संवत् जारी था जिससे उनके पीछे वहाँ पर राज्य करनेवाले सोलंकी तथा गुर्जर (गूजर)-वंशी राजाओं के कितने एक ताम्रपत्रों में वही संवत् मिलता है।

(५) बंबई हाते के भड़ोच ज़िले में।

(६) शायद यह तापी नदी के उत्तरी तट के निकट का प्रदेश हो।

(ज़िले) के अंतर्गत संधीयर[७] गांव के पूर्व का परियर[८] गाँव प्रदान किया, जिस दिन कि उसका निवास विजयपुर[९] में था"।

इन राजाओं के नाम तथा विरुदों से अनुमान किया जाता है कि ये बादामी के सोलंकियों में से थे, परंतु उक्त ताम्रपत्र का जयसिंह बादामी के कौन से राजा से संबंध रखता है यह स्पष्ट न होने से हम उसको बादामी के सोलंकियों के वंशवृत्त में निश्चयपूर्वक स्थान नहीं दे सकते। तथापि समय की ओर दृष्टि देते हुए यह कह सकते हैं कि संभव है कि वह दक्षिण में सोलंकियों के राज्य की स्थापना करनेवाले जयसिंह से भिन्न हो। बादामी के सोलंकियों का अपने पुत्रादिकों को समय समय पर जागीर देते रहना पाया जाता है और उपर्युक्त ताम्रपत्र बादामी के प्रसिद्ध राजा पुलकेशी दूसरे के समय का है कि जिसने लाट आदि देश अपने अधीन किए थे[१०] तथा जिसके पूर्व मंगलीश ने लाट पर राज्यकरनेवाले कलचुरियों की राज्यलक्ष्मी छीन ली थी[११], अतएव संभव है कि मंगलीश अथवा पुलकेशी दूसरे ने अपने किसी वंशधर को लाट देश में जागीर दी हो। विजयराज के पीछे उक्त शाखा का कुछ पता नहीं चलता।

जयसिंहराज
|
बुद्ध वर्मा
|
विजयराज
(वि० सं० ७००)

---

(७) बंबई हाते के सूरत ज़िले के ओरपाड़ तअल्लुके में है, जिसको इस समय संधिएर कहते हैं।

(८) संधिएर से कुछ मील पूर्व में है और इस समय परिया नाम से प्रसिद्ध है।

(९) इस नाम के गुजरात में कई स्थान हैं अतएव इसका ठीक निश्चय न हो सका।

(१०) देखो सोलंकियों का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ३७-३८।

(११) देखो, सोलं० इति०, प्रथम भाग, पृ० ३०-३१.

(२)

बादामी के प्रसिद्ध सोलंकी राजा पुलकेशी दूसरे के चौथे पुत्र जयसिंह वर्म्मन् को, जिसे धराश्रय[1] भी कहते थे, लाटदेश जागीर में मिला था[2]। उसके तीन पुत्र शीलादित्य, मंगलराज और पुलकेशी थे। शीलादित्य ने श्र्याश्रय[3] बिरुद धारण किया था। उसके दो दान-पत्र मिले हैं जिनमें से एक[4] कलचुरि संवत् ४२१ (वि० सं० ७२७= ई० स० ६७०) माघ शु० १३ का नवसारी से दिया हुआ और दूसरा[5] कलचुरि संवत् ४४३ (वि० सं० ७४९=ई० स० ६९२) श्रावण शु० १५ का कार्मणेय[6] के पास के कुसुमेश्वर के स्कंधावार[7] से दिया हुआ है। इन दोनों में उसको युवराज लिखा है, जिससे निश्चित है कि उस समय तक जयसिंह वर्म्मा विद्यमान था, और शीलादित्य अपने पिता के सामने प्रांतों का शासक रहा हो। मंगलराज के राज्य-समय का एक दानपत्र[8] शक संवत् ६५३ (वि० सं० ७८८=ई० स० ७३१) का मिला है, जिसमें उसके बिरुद विनयादित्य, युद्धमल्ल और जयाश्रय दिए हैं। उसमें शीलादित्य का नाम न होने से अनुमान होता है कि वह कुँवरपदे में ही मर गया हो, और जयसिंह के पीछे मंगलराज लाटदेश का राजा हुआ हो। उस (मंगलराज) का उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई पुलकेशी हुआ जिसने अवनिजनाश्रय[9] बिरुद धारण किया। उसके राजत्व-काल का

---

(१) धराश्रय=पृथ्वी का आश्रय।

(२) देखो सोलं० इति० भाग १, पृ० ४१।

(३) श्र्याश्रय=लक्ष्मी का आश्रय।

(४) बंब० ए० सो० ज०, जि० १६, पृ० २—३।

(५) विएना ओरिऐंटल कांग्रेस का कार्यविवरण, आर्यन् सेक्शन, पृ० २२५—२६।

(६) कार्मणेय=कामलेज, बंबई हाते के सूरत ज़िले में।

(७) स्कंधावार=सैन्य का पड़ाव, कैंप।

(८) इं० ऐं०, जि० १३ पृ० ७५।

(९) अवनिजनाश्रय=पृथ्वी पर के लोगों का आश्रय (आश्रयस्थान)

एक ताम्रपत्र[१०] कलचुरि संवत् ४९० (वि० सं० ७९६ = ई० स० ७३९) का मिला है जिसमें लिखा है कि "ताजिकों"[११] (अरबों) ने तलवार के बल से सैंधव,[१२] कच्छेल्ल,[१३] सौराष्ट्र,[१४] चावोटक,[१५] मौर्य,[१६] गुर्जर[१७] आदि राज्यों को नष्ट कर दक्षिण के समस्त राजाओं को जीतने की इच्छा से दक्षिण में प्रवेश करते हुए प्रथम नवसारिका[१८] पर आक्रमण किया। उस समय उसने घोर संग्राम कर ताजिकों (अरबों) को विजय किया, जिसपर शौर्य के अनुरागी राजा वल्लभ[१९] ने उसको 'दक्षिणापथसाधार'[२०],

(१०) विएना ओरिएंटल कांग्रेस का कार्यविवरण, आर्यन् सेक्शन, पृ० २३० ।

(११) यह शब्द अरबों के लिये लिखा गया है। फलित ज्योतिष का एक अंग ताजिक या ताजिकशास्त्र नाम से प्रसिद्ध है। उसमें भी ताजिक शब्द अरबों का ही सूचक है क्योंकि वह अंग उन्हींके ज्योतिष शास्त्र से लिया गया माना जाता है।

(१२) सैंधव = सिंध ।

(१३) कच्छेल्ल = कच्छ ।

(१४) सौराष्ट्र = सोरठ, दक्षिणी काठियावाड़ ।

(१५) चावोटक = चापोत्कट, चावड़े ।

(१६) मौर्य = मोरी । शायद ये राजपूताना के मोरी हों । कोटा के पास कणसवा के शिवमंदिर के वि० सं० ७९५ (ई० स० ७३८) के लेख में मौर्यवंशी राजा धवल का नाम मिलता है। उस समय के पीछे भी राजपूताने में मौर्यों का अधिकार रहना संभव है।

(१७) गुर्जर = गुजरात (भीनमाल का राज्य)। चीनी यात्री हुएन्त्संग ने गुर्जर राज्य की राजधानी भीनमाल होना लिखा है जो अब जोधपुर राज्य के अंतर्गत है।

(१८) नवसारिका = नवसारी, गुजरात में ।

(१९) बादामी का सोलंकी राजा विजयादित्य या विक्रमादित्य दूसरा ।

(२०) दक्षिणापथसाधार = दक्षिण का स्तंभ ।

'चलुक्किकुलालङ्कार[२१]', 'पृथ्वीवल्लभ' और 'अनिवर्त्तक निवर्त्तयितृ[२२]' ये चार विरुद प्रदान किए[२३]।

अरबों की यह चढ़ाई ख़लीफ़ा हेशाम के समय सिंध के हाकिम जुनैद के सैन्य की होनी चाहिए, क्योंकि ख़लीफ़ा हेशाम का समय हि० सन् १०५ से १२५ (वि० सं० ७८० से ७९९, ई० स० ७२४ से ७४३) तक का है और पुलकेशी को वि० सं० ७८८ और ७९६ (ई० स० ७३१ और ७३९) के बीच राज्य मिला था। 'फुतूहुलबुल्दान[२४]' नामक अरबी तवारीख़ में लिखा है कि जुनैद ने अपना सैन्य मरमाड़,[२५] मंडल,[२६] दामलज,[२७] बरूस,[२८] उजैन,[२९] मालिबा[३०], बहरिमद,(?) अलवेलमान[३१], और जज़्र[३२] पर भेजा था[३३]।

---

(२१) चलुक्किकुलालंकार = सोलंकी वंश का भूषण।

(२२) अनिवर्त्तकनिवर्त्तयितृ = न हारने (हटने) वालों को हराने (हटाने) वाला।

(२३) तरलतरतारतरवारिदारितोदितसैन्धवकच्छेल्लसौराष्ट्रचावोटकमौर्यगुर्जरादि-राज्ये निःशेषदाक्षिणात्यक्षितिपजिगीषया दक्षिणापथप्रवेश............ प्रथममेव नवसारिकाविषयप्रसाधनायागते त्वरिततुरगखरमुखखुरोत्खाताधरणिधूलिधूसरितदिगन्तरे..................प्रहतपटुपटहरवप्रवृत्त-कबंधबद्धरासमंडलीके समरशिरसि विजिते ताजिकानीके शौर्यानुरागिणा श्रीवल्लभनरेंद्रेण प्रसादीकृतापरनाम चतुष्टयस्तद्यथा दक्षिणापथसाधार-चलुक्किकुलालंकारपृथ्वीवल्लभानिवर्त्तक निवर्त्तयित्रवनिजनाश्रयश्री-पुलकेशिराजस्सर्वानेवात्मीयान्...बंबई गज़े० १।१।१०९)।

(२४) फुतूहुल् बुल्दान = अहमद इब्न याहिया ने ख़लीफ़ा अलमुतवक्किल के समय ई० स० ८५० के आस पास यह तवारीख़ लिखी थी।

(२५) मरमाड़ = मारवाड़।

(२६) मंडल = काठियावाड़ में (ओखामंडल)।

(२७) दामलज = शायद कामलेज हो (बंबई हाते के सूरत ज़िले में)।

(२८) बरूस = भड़ौच (बंबई हाते में नर्मदा के तट पर)।

(२९) उजैन = उज्जैन।

(३०) मालिबा = मालवा।

(३१) अलवेलमान = भीनमाल।

(३२) जज़्र = गुर्जर देश।

(३३) इलियट, हिस्टरी आफ इंडिया, जि० १, पृ० ४४१-४२।

पुलकेशी के अंतिम समय अथवा देहांत के बाद राठौड़ों ने लाट देश भी सोलंकियों से छीन लिया, जिसके साथ इस शाखा की समाप्ति हुई। इन राजाओं की राजधानी नवसारी थी।

(३)

जूनागढ़ (काठियावाड़ में) राज्य के ऊना नामक गाँव से सोलंकियों के दो ताम्रपत्र मिले हैं, जिनसे सोरठ पर राज्य करनेवाली सोलंकियों की एक शाखा का नीचे लिखे अनुसार वृत्तांत मिलता है।

सोलंकी वंश में कल्ल और महल्ल नाम के दो भाई बड़े राजा हुए, जिनका सौभ्रात्र राम लक्ष्मण के समान था। कल्ल का पुत्र राजेंद्र[१] हुआ जो पराक्रमी और बुद्धिमान् था। उसके बेटे बाहुक धवल ने अपने बाहु-बल से धर्म[२] नामक राजा को नष्ट किया, राजाधिराज परमेश्वरपदधारी राजाओं को जीता, और कर्णाटक के सैन्य[३] को हराया। उसका पुत्र अवनिवर्म्मा हुआ, जिसके बेटे बलवर्मा ने विषढ़ को जीता और जज्जप आदि राजाओं को मार कर पृथ्वी पर से हूण वंश को मिटा दिया। उसने

(१) इस नाम की शुद्धता में कुछ शंका है। मूल ताम्रपत्र बहुत ही अशुद्ध खुदे हुए हैं।

(२) धर्म = यह प्रसिद्ध पालवंश का धर्मपाल हो सकता है जो कन्नौज के पड़िहारों से लड़ा करता था। इसीसे उनके सामंत बाहुक धवल का उससे लड़ना संभव है।

(३) कर्णाटक का सैन्य = दक्षिण के राठौड़ों का सैन्य। उस समय कर्णाटक देश पर राठौड़ों का राज्य था, जो कन्नौज के पड़िहारों से, जिनका राज्य पहले मारवाड़ पर था, लड़ते रहे थे। ये सोलंकी, पड़िहारों के सामंत होने से, उनसे लड़े होंगे।

वलभी [4] संवत् ५७४ (वि० सं० ९५०, ई० स० ८९४) माघ शु० ६ को अपने बाहुबल से उपार्जन किए हुए ८४ गाँव वाले नक्षिसपुर [5] प्रदेश में से जयपुर गाँव तरुणादित्य नामक सूर्य्यमंदिर के अर्पण किया। वह कन्नौज के पड़िहार राजा भोजदेव [6] के पुत्र महेंद्रायुध (महेंद्रपाल) देव का सामंत [7] और सौराष्ट्र देश के एक हिस्से का स्वामी था। उसके पुत्र अवनिवर्मा [8] दूसरे ने जिसका दूसरा नाम योग [9] था यक्षदास आदि राजाओं के देशों पर आक्रमण कर

---

(४) काठियावाड़ से गुप्तों का अधिकार मिट जाने बाद वहाँ पर वलभी के राज्य का उदय हुआ। उस समय वहां पर चलनेवाला गुप्त संवत् ही वलभी संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ई० स० की आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मुसलमानों ने वलभी राज्य को नष्ट किया जिसके पीछे भी कुछ समय तक वलभी संवत् वहां पर प्रचलित रहा। इसीसे पिछले ताम्रपत्रादि में भी कहीं कहीं उसका उल्लेख मिलता है (वलभी संवत् के लिये देखो भारतीय प्राचीन लिपिमाला, द्वितीय संस्करण, पृ० १७५)

(५) नक्षिसपुर = सोरठ (दक्षिणी काठियावाड़ में)।

(६) भोजदेव को मिहिर भी कहते थे और वह महाराज रामभद्र का पुत्र, नागभट्ट का पौत्र और वत्सराज का प्रपौत्र था।

(७) परमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीभोजदेवपादानुध्यातपरमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीमहेन्द्रायुधदेवपादप्रसादावाप्तसमधिगतपञ्चमहाशब्दमहासामंतश्रीचालुक्यान्वयप्रसूतश्रीअवनिवर्मसुतश्रीबलवर्मा...(बलवर्मा का दानपत्र, एपि० इं०, जि० ९, पृ० १-१०)।

(८) बिल्हारी के शिलालेख में (देखो सोलं० इति०, प्रथम भाग, पृ० १५-१६) कलचुरि राजा के यूरवर्ष (युवराजदेव प्रथम) की रानी नोहला को सोलंकी अवनिवर्मा की पुत्री लिखा है। वह अवनिवर्मा उपर्युक्त अवनिवर्मा (दूसरे) से भिन्न था क्योंकि उक्त लेख में उसके पिता का नाम सधन्व और दादा का नाम सिंहवर्मा लिखा है।

(९) पूरा नाम शायद योगवर्म्मा हो।

उनकी सेनाओं को परास्त किया और राजा धरणीवराह[१०] को भगाया। वह भी कन्नौज के राजा महेंद्रपाल का सामंत था। उसने वि० सं० ९५६ (ई० स० ९००) माघ शुदि ६ को अंबुलक[११] गांव उपर्युक्त सूर्यमंदिर के भेंट किया।
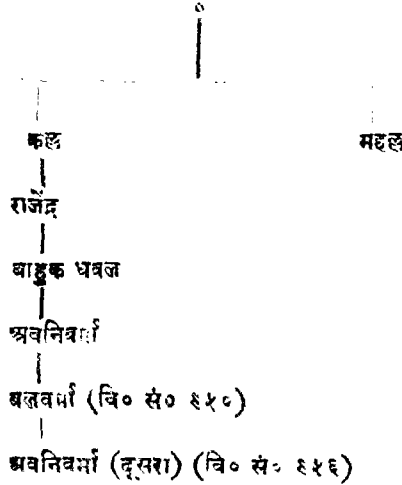
अनहिलवाड़े में चावड़ों के पीछे सोलंकियों का प्रबल स्वतंत्र राज्य स्थापित करनेवाले मूलराज के पूर्वजों का कुछ पता नहीं चलता। मूलराज ने अपने वि० सं० १०४३ (ई० स० ९८७) माघ वदि अमावास्या के दानपत्र में अपने को महाराजाधिराज श्रीराज का पुत्र लिखा है (इं० एँ० जिल्द ६, पृ० १९१)। प्रबंधचिंतामणि, कुमारपालप्रबंध आदि के अनुसार छत्तीस लाख गाँववाले कान्य-

१० धरणीवराह काठियावाड़ का चाप (चापोत्कट = चावड़ा) वंशी मांडलिक और कन्नौज के प्रतीहार राजा महिपालदेव का सामंत था। इसके समय का एक दानपत्र हड्डाला गांव (काठियावाड़) से मिला है जो शक संवत् ८३६ (वि० सं० ९७१ = ई० स० ९१४) का है। इंडियन एंटिक्वेरी (जिल्द १२, पृ० १९०-९५) में डाक्टर बूलर ने इसका समय शक संवत् ८३९ (वि० सं० ९७४ ई० स० ९१७-८) माना है और महीपालदेव को बिना किसी प्रमाण के गिरनार-जूनागढ़ के चूड़ासमा या आभीर राणकों में से कोई माना है।

११ अंबुलक = उपर्युक्त जयपुर गांव से उत्तर में।

कुब्ज देश के कल्याणकटक नगर के राजा भूदेव (भूयगड़देव) के वंशज मुंजालदेव के तीन पुत्र राज, बीज और दंडक सोमनाथ की यात्रा से लौटते थे तब चावड़ावंश के अंतिम राजा भूयड़देव (सामंतसिंह) ने राज की अश्वविद्या की चातुरी देख और उसे उच्च कुल का अनुमान कर अपनी बहिन लीलादेवी का विवाह उससे कर दिया। लीलादेवी की अकाल मृत्यु होने पर उसका पेट चीर कर बालक निकाला गया। इसका जन्म मूल नक्षत्र में और अप्राकृतिक रीति पर होने से वह मूलराज कहलाया। पीछे इसने मामा को मार कर अपने को राजा बनाया। कन्नौज में सोलंकियों के राज्य होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता, दक्षिण के कल्याण नगर पर बहुत पहले सोलंकियों का राज्य था जिसकी शाखाओं का ही लाट, सोरठ प्रभृति पर राज्य होना दिखाया जा चुका है। ये सोलंकी कन्नौज के पड़िहारों के सामंत थे। अतएव संभव है कि मूलराज का पिता राज (राजि) और उसका पूर्वज भूयगड़देव सोलंकियों की इसी सोरठ वाली शाखा के वंशधर हों जिसका वर्णन अभी किया जा चुका है। इससे उसका कान्यकुब्ज देश के अंतर्गत होना तथा (किसी काल में) कल्याणकटक के राजवंश से उद्भूत होना संभव है। भूदेव अवनिवर्मा का पर्याय भी हो सकता है।

—:०:—

(४)

कल्याण के सोलंकी राजा तैलप के वृत्तांत में सोलंकी बारप (बारप्प) का कुछ हाल आता है[1]। उसके वंश का जो कुछ हाल मिलता है वह इस तरह है—

सोलंकी वंश में निंबार्क[2] का पुत्र बारप हुआ जिसने लाट देश प्राप्त किया। प्रबंधचिंतामणि[3] में लिखा है कि सोलंकी

(१) देखो, सोलं० इति०, प्रथम भाग, पृ० १०४।

(२) बारप के पौत्र कीर्त्तिराज के ताम्रपत्र में निंबार्क से वंशावली दी है।

(३) प्रबंधचिंतामणि की समाप्ति वि० सं० १३६१ (ई० स० १३०४) फाल्गुन शुदि १५ को हुई थी।

राजा मूलराज पर सपादलक्षीय (सांभर के चौहान) राजा (विग्रहराज दूसरे) ने चढ़ाई की, उसी अवसर पर तैलंगण देश के राजा तैलप के सेनापति बारप ने भी उस (मूलराज) पर चढ़ाई की जिसमें वह मारा गया और उसके १०००० घोड़े[४] तथा १८ हाथी मूलराज के हाथ लगे[५]। द्वयाश्रय काव्य में लाटेश्वर (लाट के राजा) द्वारप (बारप) का मूलराज के पुत्र चामुंडराज के हाथ से मारा जाना लिखा है[६]। कीर्त्तिकौमुदी[७] में लिखा है कि मूलराज ने लाटेश्वर के सेनापति बारप को मार कर उसके हाथी छीन लिए[८]। सोलंकी तैलप ने राठौड़ों का राज्य छीना, उस समय उनके अधीन का लाट देश भी उसके अधीन हुआ था, वह उसने अपने सेनापति तैलप को दिया हो यह संभव है। ऐसी दशा में उसको तैलप का सेनापति, लाट का राजा, अथवा लाट के राजा का सेनापति लिखने में कोई विरोध नहीं आता, परंतु सुकृतसंकीर्त्तन[९] में लिखा है कि 'मूलराज ने कान्यकुब्ज (कन्नौज) के राजा के सेनापति बारप को जीत कर उसके हाथी छीन लिए'[१०]। इससे संशय उत्पन्न होता है, कि वह तैलप का सेनापति था या कन्नौज के राजा का? हमारी

(४) यह संख्या अतिशयोक्ति के साथ लिखी जान पड़ती है।

(५) बंबई की छपी हुई प्रबंधचिंतामणि, पृ० ४०--४३।

(६) द्वयाश्रय काव्य में बारप पर मूलराज की चढ़ाई का हाल बड़े विस्तार से लिखा है (सर्ग ६ श्लो० ३६ से ६५ तक) परंतु वह अधिकतर कविकल्पना मात्र ही है।

(७) गुजरात के सोलंकियों के पुरोहित सोमेश्वर ने वि० सं० १२८७ (ई० स० १२३०) के आसपास कीर्त्तिकौमुदी रची थी।

(८) लाटेश्वरस्य सेनान्यमसामान्यपराक्रमः। दुर्वारं बारपं हत्वा हास्तिकं यः समाग्रहीत्। (कीर्त्तिकौमुदी, सर्ग २, श्लोक ३)।

(९) अरिसिंह ने ई० स० १३०० (वि० सं० १२४३) से कुछ वर्ष पूर्व सुकृतसंकीर्त्तन की रचना की थी।

(१०) विजित्य यः संयति कन्यकुब्ज महीभुजो बारपदंडनाथम्।
अहार हस्तिप्रकरं कराग्रसूत्कारसंदीपितपौरुषाग्निम्॥
(सुकृतसंकीर्त्तन, सर्ग २ श्लोक ५)।

राय में उसका तैलप का सेनापति होना अधिक संभव है[११]। बारप का पुत्र गोग्गिराज हुआ, जिसकी पुत्री नायल देवी का विवाह देव-गिरि (दौलताबाद) के यादव राजा वेसुक (वेसुगी) से हुआ था[१२]। उसका पुत्र कीर्त्तिराज हुआ जिसके समय का एक दानपत्र[१३]

---

(११) बारप को तैलप का सेनापति मानने का कारण यह है कि प्रथम तो बारप (बारप्प) नाम ही दक्षिण का है फिर उसी को लाटदेश का राज्य मिला था ऐसा उसके वंशज त्रिलोचनपाल के ताम्रपत्र में लिखा है (बारप्पराज इति विश्रुतनामधेयो राजा बभूव भुवि नाशितलोक-शोकः ॥८॥ श्रीलाटदेशमधिगम्य कृतानि येन सत्यानि नीतिवचनानि मुदे जनानाम्। इं० ऐं०, जि० १२, पृ० २०१)। तैलप ने राठोड़ों का राज्य छीना उस समय उक्त राज्य का दूर का उत्तरी हिस्सा (लाट) उसने अपने सेनापति को, जो सोलंकी ही था, दिया हो यह संभव है। कन्नौज के पड़िहार राजा महीपाल को, जो भोजदेव (मिहिर) का पौत्र और महेंद्रपाल का पुत्र था, दक्षिण के राठौड़ राजा इंद्रराज (तीसरे) ने श० सं० ८३८ (वि० सं० ९७३, ई० स० ९१६) के आस पास हराया। उस समय से ही कन्नौज का महाराज्य कमजोर होने लगा और वि० सं० १०१७ (ई० स० ९६०) में सोलंकी मूलराज ने अनहिलवाड़े में सोलंकियों का स्वतंत्र राज्य कायम किया। उस समय से अथवा उसके पूर्व कन्नौज के राजाओं का गुजरात आदि अपने राज्य के दक्षिणी हिस्सों पर से अधिकार उठ जाना संभव है। ऐसी दशा में बारप को तैलप की तरफ से लाट देश मिलना अधिक संभव है परंतु जब तक नवीन शोध से हमारे इस अनुमान की पुष्टि न हो तब तक हम उसको संशयरहित नहीं मान सकते।

(१२) देवगिरि के यादव राजा सेऊणचंद्र (दूसरे) के समय के श० सं० ९९१ (वि० सं० ११२६ = ई० स० १०६९) के ताम्रपत्र में उसके पूर्वज वेसुक की रानी नायल देवी का सोलंकी मंडलेश्वर गोगि की पुत्री होना लिखा है। वह गोगि बारप का पुत्र गोगिराज होना चाहिए (चालुक्यान्वयमण्डलीकतिलकाच्छ्रीगोगिराजाकरादुत्पन्ना दुहिता-त्रपाद्‌गुणवती धाम्ना कुलद्योतिता। क्षीरत्नं वत वेधसा प्रकटितं सामन्त-रत्नायसा श्रीनायलदेविनाम सुभगा श्रीपट्टराज्ञी सदा) (इं० ऐं०, जि० १२, पृ० १२०।

(१३) डाकर कीलहार्न संगृहीत इंस्क्रिपशंस आफ़ नार्दर्न इंडिया, नं० ३२४, पृ० ५०।

श० सं० ९४० (वि० सं० १०७५, ई० स० १०१८) का मिला है। उसका बेटा वत्सराज और उसका त्रिलोचनपाल हुआ जिसका एक ताम्रपत्र[१४] श० सं० ९७२ (वि० सं० ११०७, ई० स० १०५१) पौष अमांत कृष्णा अमावास्या का मिला है। उसके पीछे का कुछ भी हाल नहीं मिलता। ये सोलंकी बादामी के सोलंकियों के वंशज होने चाहिएँ।

निंबार्क
|
बारप
|
गोग्गिराज
|
कीर्त्तिराज (वि० सं० १०७५)
|
वत्सराज
|
त्रिलोचनपाल (वि० सं० ११०७)

---

(१४) ई० एँ०, जि० १२, पृ० २०१-२०३।

१७–प्राचीन पारस का संक्षिप्त इतिहास।

[लेखक—पंडित रामचंद्र शुक्ल, बनारस]

अत्यंत प्राचीन काल से पारस देश आर्यों की एक शाखा का वासस्थान था जिसका भारतीय आर्यों से घनिष्ठ संबंध था। अत्यंत प्राचीन वैदिक युग में तो पारस से लेकर गंगा सरयू के किनारे तक की सारी भूमि आर्यभूमि थी जो अनेक प्रदेशों में विभक्त थी। इन प्रदेशों में भी कुछ के साथ आर्य शब्द लगा था। जिस प्रकार यहाँ आर्यावर्त एक प्रदेश था उसी प्रकार प्राचीन पारस में भी आधुनिक अफ़गानिस्तान से लगा हुआ पूर्वीय प्रदेश 'अरियान' वा 'ऐर्यान' (यूनानी-एरियाना) कहलाता था जिससे ईरान शब्द बना। ईरान शब्द आर्यावास के अर्थ में सारे देश के लिये प्रयुक्त होता था। ससानवंशी सम्राटों ने भी अपने को 'ईरान के शाहंशाह' कहा है। पदाधिकारियों के नामों के साथ भी 'ईरान' शब्द मिलता है—जैसे, "ईरान-स्पाहपत" (ईरान के सिपाहपति या सेनापति), "ईरान अंबारकपत" (ईरान के भंडारी) इत्यादि। प्राचीन पारसी अपने नामों के साथ 'आर्य' शब्द बड़े गौरव के साथ लगाते थे। प्राचीन सम्राट् दार-यवहु (दारा) ने अपने को अरियपुत्र लिखा है। सरदारों के नामों में भी आर्य शब्द मिलता है जैसे, अरियराम्न, अरियोवर्जनिस इत्यादि।

प्राचीन पारस जिन कई प्रदेशों में बँटा था उनमें फारस की खाड़ी के पूरबी तट पर पड़नेवाला पार्स वा पारस्य प्रदेश भी था जिसके नाम पर आगे चलकर सारे देश का नाम पड़ा। इसकी प्राचीन राजधानी पारस्यपुर (यूनानी—पर्सिपोलिस) थी जहाँ पर आगे चलकर 'इश्तख़' बसाया गया। वैदिक काल में 'पारस' नाम

प्रसिद्ध नहीं हुआ था। यह नाम हखामनीय वंश के सम्राटों के समय से, जो पारस्य प्रदेश के थे, सारे देश के लिये व्यवहृत होने लगा। यही कारण है जिससे वेद और रामायण में इस शब्द का पता नहीं लगता। पर महाभारत, रघुवंश, कथासरित्सागर आदि में पारस्य और पारसीकों का उल्लेख बराबर मिलता है।

अत्यंत प्राचीन युग के पारसियों और वैदिक आर्यों में उपासना, कर्मकांड आदि में कोई भेद नहीं था। वे अग्नि, सूर्य, वायु आदि की उपासना और अग्निहोत्र करते थे। मिथ्र (मित्र = सूर्य), वयु (वायु), होम (सोम), अरमइति (अमति), अइर्यमन् (अर्यमन्), नइर्य-संह (नराशंस) आदि उनके भी देवता थे। वे भी बड़े बड़े यश्न (यज्ञ) करते, सोमपान करते और अथ्रवन् (अथर्वन्) नामक याजक काठ से काठ रगड़ कर अग्नि उत्पन्न करते थे। उनकी भाषा भी उसी एक मूल आर्यभाषा से उत्पन्न थी जिससे वैदिक और लौकिक संस्कृत निकली हैं। प्राचीन पारसी और संस्कृत में कोई विशेष भेद नहीं जान पड़ता। अवस्ता में भारतीय प्रदेशों और नदियों के नाम भी हैं। जैसे, हप्तहिंदु (सप्तसिंधु = पंजाब), हरख्वेती (सरस्वती), हरयू (सरयू) इत्यादि।

वेदों से पता लगता है कि कुछ देवताओं को असुर-संज्ञा भी दी जाती थी। वरुण के लिये इस संज्ञा का प्रयोग कई बार हुआ है। सायणाचार्य ने भाष्य में 'असुर' शब्द का अर्थ किया है "असुरः सर्वेषां प्राणदः"। इंद्र के लिये भी इस संज्ञा का प्रयोग दो एक जगह मिलता है, पर यह भी लिखा है कि यह पद प्रदान किया हुआ है। इससे जान पड़ता है कि यह एक विशिष्ट संज्ञा हो गई थी। वेदों को देखने से उनमें क्रमशः वरुण पीछे पड़ते गए हैं और इंद्र को प्रधानता प्राप्त होती गई है। साथ ही साथ असुर शब्द भी कम होता गया है। पीछे तो असुर शब्द राक्षस दैत्य के अर्थ में ही मिलता है। इससे जान पड़ता है कि देवोपासक और असुरोपासक ये दो पक्ष आर्यों के बीच हो गए थे।

पारस की ओर जरथुस्त्र (आधु० फा० जरतुश्त) नामक एक ऋषि या ऋत्विक् (ज़ोता, सं० होता) हुए जो असुरोपासकों के पक्ष के थे। इन्होंने अपनी शाखा ही अलग कर ली और "ज़ंद अवस्ता" के नाम से उसे चलाया। यही ज़ंद अवस्ता पारसियों का धर्मग्रंथ हुआ। इसमें 'देव' शब्द दैत्य के अर्थ में आया है। इंद्र वा वृत्रहन् (ज़ंद, वेरेथ्रघ्न) दैत्यों का राजा कहा गया है। शओर्व (शर्व) और नाहंइत्य (नासत्य) भी दैत्य कहे गए हैं। अंघ्र (अंगिरस्?) नामक अग्नियाजकों की प्रशंसा की गई है और सोमपान की निंदा। उपास्य अहुर मज़्द (सर्वज्ञ असुर) है जो धर्म और सत्य स्वरूप है। अहमन (अर्यमन्) अधर्म और पाप का अधिष्ठाता है। इस प्रकार जरथुस्त्र ने धर्म और अधर्म की द्वंद्व शक्तियों की सूक्ष्म कल्पना की और शुद्धाचार का उपदेश दिया। जरथुस्त्र के प्रभाव से पारस में कुछ काल तक के लिये एक अहुर्मज़्द की उपासना स्थापित हुई और बहुत से देवताओं की उपासना और कर्मकांड कम हुआ। पर जनता का संतोष इस सूक्ष्म विचार वाले धर्म से पूरा पूरा नहीं हुआ। ससानों के समय में जब मग याजकों और पुरोहितों का प्रभाव बढ़ा तब बहुत से स्थूल देवताओं की उपासना फिर ज्यों की त्यों जारी हो गई और कर्मकांड की जटिलता फिर वही हो गई। ये पिछली पद्धतियाँ भी 'ज़ंद अवस्ता' में ही मिल गईं।

ज़ंद अवस्ता में भी वेद के समान गाथा (गाथ) और मंत्र (मंथ्र) हैं। इसके कई विभाग हैं जिनमें 'गाथ' सबसे प्राचीन और जरथुस्त्र के मुँह से निकला हुआ माना जाता है। एक भाग का नाम 'यश्न' है जो वैदिक 'यज्ञ' शब्द का रूपांतर मात्र है। विस्पर्द, यश्त (वैदिक–इष्टि), वंदिदाद् आदि इसके और विभाग हैं। वंदिदाद् में जरथुस्त्र और अहुरमज्द का धर्मसंबंध में संवाद है। 'अवस्ता' की भाषा, विशेषत: गाथ की, पढ़ने में एक प्रकार की अपभ्रंश वैदिक संस्कृत सी ही प्रतीत होती है। कुछ मंत्र तो वेदमंत्रों से बिल्कुल मिलते जुलते हैं। डाक्टर हॉग ने यह समानता उदाहरणों से बताई है और

डाक्टर मिल्स ने कई गाथाओं का वैदिक संस्कृत में ज्यों का त्यों रूपांतर किया है। जरथुस्त्र ऋषि कब हुए थे इसका निश्चय नहीं हो सका है। पर इसमें संदेह नहीं कि वे अत्यंत प्राचीन काल में हुए थे। ससानों के समय में पहलवी भाषा में जो 'अवस्ता' पर भाष्य स्वरूप अनेक ग्रंथ बने उनमें से एक में व्यास हिंदी का पारस में जाना लिखा है। संभव है वेदव्यास और जरथुस्त्र समकालीन हों।

इतिहास।

अरबों (मुसलमानों) के हाथ में ईरान का राज्य आने के पहले पारसियों के इतिहास के अनुसार इतने राजवंशों ने क्रम से ईरान पर राज्य किया— १ महाबदि वंश, २ पेशदादी वंश, ३ कयानी वंश, ४ प्रथम मीदी वंश, ५ असुर (असीरियन) वंश, ६ द्वितीय मीदी वंश, ७ हखमानी वंश, ८ पार्थिअन् या अस्कानी वंश, और ९ ससान वंश। महाबद और गेओमर्द के वंश का वर्णन पौराणिक है, वे देवों से लड़ा करते थे। गेओमर्द के पौत्र हुशंग ने खेती, सिंचाई, शस्त्ररचना आदि चलाई और पेशदाद (नियामक) की उपाधि पाई। इसी से वंश का नाम पड़ा। इसके पुत्र तेहेमुर ने कई नगर बसाए, सभ्यता फैलाई और देवबंद (देवघ्न) की उपाधि पाई। इसी वंश में जमशेद हुआ जिसके सुराज और न्याय की बहुत प्रसिद्धि है। संवत्सर को इसने ठीक किया और वसंत विषुवत् पर नव वर्ष का उत्सव चलाया जो जमशेदी नौरोज़ के नाम से पारसियों में प्रचलित है। पर्सेपोलिस विस्तास्प के पुत्र दारा प्रथम ने बसाया, किंतु पहले उसे जमशेद का बसाया मानते थे। इसका पुत्र फरेदूं बड़ा वीर था जिसने कव नामी योधा की सहायता से राज्यापहारी ज़ोहक को भगाया। कयानी वंश में ज़ाल, रुस्तम आदि वीर हुए जो तुरानियों से लड़ कर फिरदौसी के शाहनामे में अपना यश अमर कर गए हैं। इसी वंश में १३०० ई० पू० के लगभग गुश्तास्प हुआ जिसके समय में जरदुश्त का उदय हुआ।

पहले कहा जा चुका है कि प्राचीन पारस कई प्रदेशों में विभक्त

था। कास्पियन समुद्र के दक्षिण-पश्चिम का प्रदेश मीडिया कहलाता था जो ऐतरेय ब्राह्मण आदि प्राचीन ग्रंथों का 'उत्तर मद्र' हो सकता है। जरथुस्त्र ने यहाँ अपनी शाखा का उपदेश किया। पारस के सब से प्राचीन राज्य की स्थापना का पता इसी प्रदेश में चलता है। पहले यह प्रदेश अनार्य असुर जाति के अधिकार में था जिनका देश (वर्तमान असीरिया) यहाँ से पश्चिम में था। यह जाति आर्यों से सर्वथा भिन्न शेम की संतान (Semitic शेमेटिक) थी जिसके अंतर्गत यहूदी और अरबवाले हैं। यूनानी इतिहासकारों के अनुसार मीडिया के आर्यों ने ईसा से हजारों वर्ष पहले अपने देश से असुरों को निकाल दिया और बहुत दिनों तक बिना राजा के रहे। अंत में देवक ने बाबुल (जो असुर देश के दक्षिण पड़ता था) को जीत कर एक नया राज्य स्थापित किया। पहला राजा यही देवक (यूनानी–Deiokes देइओकेस) हुआ। राजधानी थी हगमतान (यूनानी–Ecbatana एग्बटाना आधुनिक हमदान)। आजकल के ऐराक़ और ख़ुर्दिस्तान तक ही बहुत दिनों तक इस राज्य का विस्तार रहा और असुरों के आक्रमण बराबर होते रहे। दूसरे बादशाह फ्रावर्तिश् (यूनानी Phraortes फ्रेओअर्टिस्) ने पारस्य प्रदेश को भी राज्य में मिलाया। वह असुरों की राजधानी निनवह की चढ़ाई में मारा गया। उसके उत्तराधिकारी उवक्षत्र (यूनानी Cyaxares सियग्ज़रिस्) ने बहुत कुछ राज्य बढ़ाया। ईसा से ६०७ वर्ष पहले उसने असुर राजधानी निनवह का विध्वंस किया। इस चढ़ाई में बाबुलवालों ने मद्रों का साथ दिया। बाबुल के खाल्दीय (चैल्डियन) बादशाह ने अपने पुत्र नबुकद्नज़र (Nebuchadnezzar) का विवाह माद के बादशाह की लड़की अमिति (यूनानी Amyite अमियाइटी) से किया। उवक्षत्र ने यूनानी लीडिया राज्य पर चढ़ाई की जो एशिया कोचक में भूमध्यसागर के तट पर पड़ता था। उसी समय एक भारी ग्रहण लगा जिससे राज्य का अशुभ समझ लीडियावालों ने चटपट संधि कर ली। गणना के अनुसार यह ग्रहण २८ मई ५८५ ईसवी पूर्व में पड़ा था। उवक्षत्र

के उपरांत उसका पुत्र इष्टुवेगु (यूनानी Astyages अस्टियाजिस) राजा हुआ जिसके हाथ से राज्य हखामनि (यूनानी Achamene अकामेनि) वंश में गया ।

हखामनि वंश ।

यह वंश पारस्य प्रदेश का था । इसका मूल पुरुष हखामनि कहा जाता है । हखामनि का पुत्र चयस्पि (यूना० Teispes टियस्पिस् ईसा से ७३० वर्ष पहले), चयस्पि का पुत्र कंबुजिय (यूना० Cambyses) और उसके वंश में कंबुजिय का पुत्र महा-प्रतापी कुरु (या कूरु; कर्त्तृकारक रूप "कुरुश" यूनानी Cyrus साइरस) हुआ जिसने ईसा से ५५० वर्ष पहले मद्रराज इष्टुवेगु से साम्राज्य लिया । हखामनि वंशवाले पहले पारस्य प्रदेश के अंतर्गत अंशन नामक स्थान के राजा थे । बाबुल के खँडहरों में जो कुरु का लेख मिला है उसमें उसने अपने को 'अंशन का राजा' कहा है, समग्र पारस प्रदेश का नहीं । इष्टुवेगु को जीतने के उपरांत वह बड़े राज्य का अधिकारी हुआ । इसका समर्थन एक और प्राचीन लेख से इस प्रकार होता है "अंशन के राजा कुरु के विरुद्ध गया ······ इष्टुवेगु । ··· उसकी फौज बागी हुई । उन्होंने उसका हाथ पकड़ा और कुरु को दे दिया" । ५५० ई० पू० कुरु ने हग-मतान नगर पर अधिकार किया और यों वह एक विशाल साम्राज्य का अधिकारी हुआ । यह बड़ा प्रतापी राजा हुआ । लीडिया पर अधि-कार करके यह उसके यूनानी राजा क्रोसस को जीता जलाने चला था, पर कुछ सोचकर रुक गया । इसके सेनापति हरपगस (यूना० हरपेगस) ने कई यूनानी नगरों को लिया । बाबुल पर चढ़ाई करते ही उसके बादशाह नबोनिद ने अधीनता स्वीकार की । दारयवहु प्रथम (दारा) के शिलालेख से पता चलता है कि कुरु का साम्राज्य ख़ारज़म (ख़ीवा), सगदान (समरकंद, बुखारा), बाल्हीक (पुरा ० फा ० बक्तर) तथा आजकल के अफगानिस्तान के एक बड़े भाग तक था । हिंदुस्तान के गांधार प्रदेश तक भी उसका

अधिकार पहुँचा था, जैसा कि सिकंदर के कुछ यूनानी साथियों ने लिखा है। यह संदिग्ध है। वंक्षु नद (आक्सस्) के किनारे बर्बर जातिओं के हाथ से ईसा से ५२९ वर्ष पूर्व कुरु मारा गया और इसकी हड्डियाँ पसर्गद नगर में बड़ी धूम के साथ गाड़ी गई। अब तक मुर्गाब के मैदान में उसके विशाल समाधिस्थल का खँडहर पड़ा है जिसके किसी किसी खंभे पर "अदम् कुरु हखामनि" (मैं कुरु हखामनि हूँ) अब तक खुदा दिखाई देता है।

कुरु के दो पुत्र थे—बरदिय (यूना० Smerdis स्मर्दिस्) और कंबुजिय। बरदिय मारा गया और कंबुजिय सिंहासन पर बैठा। इसने मिस्र देश को जीता और मंदिरों में जा कर वहाँ के देवताओं का अपमान किया। यह क्रूर और अन्यायी था। गोमात नामक एक मग-याजक (ब्राह्मण) ने अपने को बरदिय प्रसिद्ध करके सिंहासन लेना चाहा। कंबुजिय उसके पीछे शाम देश तक चढ़ गया पर मार्ग में उसने आत्मघात कर लिया। गोमात कुछ दिनों तक राज्य भोगता रहा। पर पीछे सात सरदारों ने, जिनमें राजवंशीय भी थे, उसे उतार कर राजवंश की दूसरी शाखा से विश्तास्प के पुत्र दारयवहु (कर्त्तकारक का रूप—दारयवहुश, दारा प्रथम) को लेकर ईसा से ५२१ वर्ष पहले पारस के सिंहासन पर बैठाया। यह दारयवहु (प्रथम) भी बड़ा प्रतापी हुआ। इसके कई शिलालेख कई स्थानों में मिले हैं जिनसे इसके शासनकाल का बहुत कुछ वृत्तांत मालूम होता है। उस समय प्रदेशों के शासक 'क्षत्रपावन्' कहलाते थे। दारयवहु का बिहिस्तून (बैसितून) का शिलालेख सबसे प्रसिद्ध है जिसकी कुछ पंक्तियाँ उस समय की पारसी भाषा का नमूना दिखाने के लिये नीचे दी जाती हैं—

अदम दारयवहुश क्षायथिय वज़र्क क्षायथिय क्षायथियानाम् क्षायथिय दह्यौनाम् विस्पज़नानाम् क्षायथिय अह्याया वज़र्काया दुरिआपिय विश्तास्पह्या पुत्र हखामनिशिय पार्स पार्सह्या पुत्र अरिय अरियपुत्र ..."

अर्थात् मैं दारयवहु राजा, बड़ा राजा, राजाओं का राजा, सारे आबाद देशों का राजा, इस बड़ी पृथ्वी का रक्षक, विश्तास्प हखामनि का पुत्र पारसी, पारसी का पुत्र, आर्य, आर्य का पुत्र..." ।

इस विहिस्तूनवाले शिलालेख में हिंदुस्तान का नाम नहीं आया है, पर पर्सेपोलिस् के लेख में है । उससे जान पड़ता है कि थोड़ा सा सिंधु के आस पास का प्रदेश ही उसके हाथ में आया था । इस बात का समर्थन इतिहास के आदि यूनानी आचार्य हेरोडोटस् के इस लेख से भी होता है कि उसने सिंधु नद की छान बीन के लिये अपने नौबलाधिकृत को पक्त (पश्तू, पठान) लोगों के प्रदेश से होकर भेजा था । दारयवहु ने यूनान (ग्रीस) पर चढ़ाई की थी और वह आज कल के रूस से होता हुआ बहुत दूर निकल गया था । मराथन की लड़ाई में एथेंस (यूनान का एक नगर) वालों ने मर्दोनिय नामक सेनापति के अधीन पारसी सेना को हटाया था । ईसा से ४८५ वर्ष पूर्व दारयवहु (प्रथम) की मृत्यु हुई ।

[शेष आगे]

१८–विविध विषय।

[लेखक—पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बी० ए०, अजमेर]

(१) तुतातित = कुमारिल।

पीटर्सन् की किसी रिपोर्ट में एक श्लोक उद्धृत है जिसमें "तौतातितं मतं" का उल्लेख है। मङ्ख कवि (ई० स० बारहवीं सदी का पूर्वार्द्ध) के श्रीकंठचरित में तुतातित पद कुमारिल के लिये आया है[१]। टीकाकार जोनराज ने उसका अर्थ कुमारिल किया है और कहा है कि बड़ों का नाम ज्यों का त्यों नहीं लेना चाहिए[२]। इसलिये प्रसिद्ध मीमांसक आचार्य के लिये कुमारिल की जगह तुतातित कहा गया। कोई पूछे कि यदि बड़ों का नाम लेना ही न चाहिए तो तुमने क्यों लिया? तो टीकाकार कहता है कि व्याख्यान में तो लेना ही उचित है नहीं तो व्याख्यान ही न हो सकेगा[३]।

दार्शनिक ग्रंथों में कई जगह "इति तौताः" लिखा हुआ मिलता है जिसका अभिप्राय, संदर्भ से जान पड़ता है कि, कुमारिल के मतानुयायियों से ही है। आफ्रेक्ट के आक्सफर्ड के संस्कृत पुस्तकों के सूचीपत्र, 'कैटलागस कोडिकम संस्कृतिकोरम', के पृष्ठ २४६ पर सर्वदर्शनसंग्रह के वर्णन में 'तौतातिताः (अर्थात् कौमारिलाः)'

---

(१) दृढोऽपि तर्ककार्कश्ये प्रगल्भः कविकर्मणि।
यः श्रीतुतातितस्येव पुनर्जन्मान्तरग्रहः॥
तं श्रीत्रैलोक्यमालोक्य...... (श्रीकंठचरित, २५। ६५-६६)

(२) यह नाम न लेने की वही रीति है जिससे हिंदुस्तान में, आजकल भी, देवकीनंदन नामक पुरुष की स्त्री देवकीनंदन के मंदिर को 'चंपे के चाचा' का मंदिर कह देती है और रामचंद्र की स्त्री चंद्रमा को 'नंदा' या 'रातवाला' कहती है।

(३) तुतातितः कुमारिलः। स हि तार्किकः कविश्चासीत्। महतां सम्यङ् नामग्रहणमयुक्तमिति तुतातितशब्दः प्रयुक्तः। विवरणावसरे युक्तः। अन्यथा विवरणत्वाभावप्रसङ्गात् (?)

लिखा है। उसकी पादटीका में संक्षेप शंकरदिग्विजय में से दशम अध्याय के ये दो श्लोक उद्धृत किए हैं—

वाणी काणभुजी न चैव गणिता लीना क्वचित् कापिली
शैवं चाशिवभावमेति भजते गर्ह्यपदं चार्हतम्।
दौर्गं दुर्गतिमश्नुते भुवि जनः पुष्णाति को वैष्णवं
निष्णातेषु यतीशसूक्तिषु कथाकेलीकृतासूक्तिषु ॥ ११८ ॥

तथागतकथा गता तदनुयायि नैयायिकं
वचोऽजनि न चोदितो वदति जातु तौतातितः ॥
विदग्धति न दग्धधीर्विदितचापलं कापिलं
विनिर्दयविनिर्दलद्भ्रिमतिसंकरे शंकरे ॥ ११९ ॥

आफ्रेक्ट ने लिखा है कि 'किं वृत्तांतैः परगृहगतैः' इत्यादि श्लोक, जो शार्ङ्गधरपद्धति और सुभाषितावलि में मातंग-दिवाकर के नाम से दिया है, सदुक्तिकर्णामृत में 'तुतातित' का कहा गया है।

---

(२) अधिक संतति होने पर स्त्री का पुनर्विवाह!

भास्करमिश्र सोमयाजी का बनाया हुआ एक 'आपस्तंबध्वनितार्थ-कारिका' नामक निबंध है। ग्रंथकार के पिता का नाम 'वादिमुद्गर-कुठार-कुमारस्वामि-सूरि' है और ग्रंथकार की उपाधि 'त्रिकांडमंडन' होने से ग्रंथ भी त्रिकांडमंडन कहलाता है। इसमें सोमयाग के विषय में कई श्रौतसूत्रों के वचनों का पूर्वापर विचार करके आपस्तंब सूत्रानुसार मीमांसा की है। कई धर्मशास्त्र-निबंधों में इसकी कारिकाएँ उद्धृत हैं इससे ग्रंथ पुराना है। कहते हैं कि भास्करमिश्र हेमाद्रि से लगभग २०० वर्ष पहले हुआ[1]। इसकी एक टीका विवरण नाम की है, परंतु उसके कर्ता और समय का पता नहीं।

त्रिकांडमंडन में एक जगह लिखा है कि हिमालय में बकरा

---

(१) रा० गो० भंडारकर, रिपोर्ट, सन् १८८३-४, पृ० २७-२८।

बोझा ढोने के काम में आता है[1]। उसकी टीका में एक और जगह एक बड़ी अद्भुत बात लिखी है। लिखा है कि यदि किसी स्त्री के बीस संतान हो जाँय तो अपने कुल के भले के लिये उसका पुनर्विवाह कर देना चाहिए, ऐसी स्मृति है[2]। ऐसा किस स्मृति में है ?

---

(३) चारण।

ब्राह्मणों के पीछे राजपूतों की कीर्ति बखाननेवाले भाट और चारण हुए, जैसा कि एक छंद में कहा है —

'ब्राह्मण के मुख की कविता कछु भाट लई कछु चारण लीन्ही।'

यह जानना आवश्यक है कि चारणों की प्रधानता कब से हुई। कोई शिलालेख या ताम्रपत्र संस्कृत में, या पुराना, अब तक नहीं मिला है जिसमें चारणों या भाटों को भूमिदान का उल्लेख हो।

'सुभाषितहारावलि' नामक एक सुभाषित श्लोकों का संग्रह हरि कवि का किया हुआ है (पीटर्सन, दूसरी रिपोर्ट, पृष्ठ ५७-६४)। उसमें मुरारि कवि के नाम से यह श्लोक दिया हुआ है —

चर्चाभिश्चारणानां क्षितिरमण ! परां प्राप्य संमोदलीलां
मा कीर्तेः सौविदल्लानवगणय कविप्रात(?)वाणीविलासान्[3]।
गीतं ख्यातं न नाम्ना किमपि रघुपतेरद्य यावत्प्रसादा-
द्वाल्मीकेरेव धात्रीं धवलयति यशोमुद्रया रामभद्रः[4] ॥

---

(१) छागोऽपि संभवत्येतद् वहत्येव हिमालये (बिल्हो० इंडि० संस्करण पृ० ६२)

(२) स्मर्यते विंशतिप्रसूतायाः पुनर्विवाहः।

यदा विंशतिधाऽपत्यं प्रसूयेताङ्गनाजनः।
पुनर्विवाहं तस्यास्तु कुर्यात्स्वकुलशान्तये ॥ इति

(वही, पृ० २०२)

(३) यह पाठ अशुद्ध है। 'कविप्रोतवाणीविलासान्' या 'कवीन् प्राप्तवाणीविलासान्' हो सकता है।

(४) बिल्हण के विक्रमांकदेवचरित में इसी भाव से मिलते हुए दो श्लोक हैं —

आशय—कोई राजा चारणों की कविता से प्रसन्न होकर संस्कृत कवियों का अनादर करने लगा। उसे कवि कहता है कि महीपाल! चारणों की चर्चाओं से बड़ा आनंद पा कर कवियों की रचनाओं का अनादर मत कीजिए, क्योंकि वे कीर्तिरूपी नायिका के रखवाले[1], या लाकर (राजाओं से) उसे मिलानेवाले हैं। देखिए, रामचंद्र का एक गीत या ख्यात नाम को भी नहीं है, वाल्मीकि ही की कृपा से आज तक रामभद्र अपने यश की छाप से पृथ्वी को अलंकृत कर रहे हैं। भाव यह है कि चारणों के (देशभाषा के) गीत और ख्यात अस्थायी हैं, कवियों के (संस्कृत) वाणीविलास सदा रहते हैं। राम का एक भी गीत या ख्यात नहीं मिलता। संसार में उनका जो यश है वह वाल्मीकि की कृपा ही का फल है।

इस श्लोक में चारण, गीत और ख्यात विशेष सांकेतिक या पारिभाषिक अर्थ में लिए गए हैं। चारण का अर्थ देवयोनि का (सिद्ध, गंधर्व आदि का सा) यश-गायक नहीं हो सकता क्योंकि उनका कवियों से मुकाबिला कैसा? गीत और ख्यात साधारण गान या यश के काव्य नहीं हो सकते, पारिभाषिक (technical) गीतों और ख्यातों से ही अभिप्राय है। चारणों के रचित काव्य दो ही तरह के होते हैं, कवितावद्ध 'गीत' और गद्यबद्ध 'ख्यात'। राजपूताना में अब तक इसी अर्थ में 'गीत' और 'ख्यात' पदों का व्यवहार है, जैसे, मोटा राजा उदयसिंह रा गीत, राठौड़ां री ख्यात। [गीत और ख्यात पदों को गीति और ख्याति (आख्याति) संज्ञा-शब्दों का अपभ्रंश मानने की

(अ) लंकापतेः संकुचितं यशो यद् यत्कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः।
स सर्व एवादिकवेः प्रभावो न कोपनीयाः कवयः क्षितीन्द्रैः ॥ (१।२७)

(इ) हे राजानस्त्यजत सुकविप्रेमबन्धे विरोधं
शुद्धा कीर्तिर्भवति भवतां नूनमेतत्प्रसादात्।
तुष्टैर्बद्धं तदलघु रघुस्वामिनः सच्चरित्रं
क्रुद्धैर्नीतस्त्रिभुवनजयी हास्यमार्गं दशास्यः ॥ (१८।१०७)

(१) मंख कवि ने एक नाग नामक विद्वान् को साहित्यविद्या का सौविदल्ल कहा है (श्रीकंठचरित २५।६४)

कोई ज़रूरत नहीं। ये कर्मवाच्य भूतकालिक धातुज विशेषण हैं जिनके आगे विशेष्य लुप्त हैं, जैसे चारणैः गीतं (यशः), चारणैः ख्यातं (वृत्तम)। मारवाड़ी में इसी अर्थ में कह्योड़ो (कहा हुआ) भी आता है, जैसे बापजी गणेशपुरीजी रो कह्योड़ो (पद, गीत वा दूहो)]

मुरारि कवि प्रसिद्ध अनर्घराघव नाटक का कर्ता है। उसका पिता भट्ट श्री वर्धमान, माता तंतुमती, गोत्र मौद्गल्य और उपनाम बाल-वाल्मीकि था। उसका समय आठवीं या नवीं शताब्दी ईसवी है। यदि यह श्लोक मुरारि का ही है तो उस समय भी चारणों के गीत और ख्यात प्रचलित थे, और उनकी संस्कृत के कवियों से प्रतिद्वंद्विता होने लग गई थी। इस श्लोक को मुरारिकृत मानने में संदेह करने के दो ही कारण हो सकते हैं, एक तो इतने प्राचीन काल में चारणों के गीत और ख्यातों का प्रचलित होना, और दूसरे यह कि सुभाषितावलियों में श्लोकों के साथ जो कवियों के नाम दिए होते हैं वे कहीं कहीं प्रामाणिक नहीं होते। कई श्लोक जो प्रसिद्ध कवियों के काव्यों में पाए जाते हैं वे भी 'कस्यापि' के साथ या किसी भिन्न कवि के नाम के साथ दिए हुए मिलते हैं।

---

(४) श्रीश्रीश्रीश्री।

बीकानेर के महाराज अनूपसिंहजी, आमेर (जयपुर) के सवाई जयसिंह जी की तरह, अद्भुत पुरुष हुए हैं। उन्होंने सन् १६६९ से १६९८ ई० तक राज्य किया। औरंगज़ेब की ओर से उन्होंने दक्षिण में राजगढ़ के राजा को परास्त किया, सन् १६८७ में गोलकुंडा विजय किया और मद्रास हाते के बिलारी ज़िले के अडोनी स्थान में बादशाह के काम पर ही रहकर देह त्याग किया। यों चिर काल तक दक्षिण में रह कर उन्होंने विद्वानों से मित्रता की और संस्कृत ग्रंथों का संग्रह किया।

बीकानेर के विशाल संस्कृत-पुस्तकालय में कई वैदिक पुस्तकों की पुष्पिका में लिखा हुआ है कि नासिक के अमुक विद्वान् ने यह पुस्तक महाराज अनूपसिंह जी की प्रीति से भेजी। इस प्रकार उन्होंने इस अमूल्य पुस्तकालय की स्थापना की। वे स्वयं भी संस्कृत के विद्वान्

थे। कई पुस्तकों पर लिखा हुआ है कि यह पुस्तक **महाराजकुमार** अनूपसिंह जी की है जिससे सिद्ध होता है कि कुमारपद में भी वे संस्कृत के प्रेमी और पढ़नेवाले थे।

जिन पुस्तकों पर उनका नाम 'महाराजकुमार' की उपाधि के सहित लिखा है उनमें कहीं कहीं उनके नाम के पहले 'श्री४' लिखा है जो एक नई बात है। हिंदी के एक पुराने दोहे के अनुसार (जिसका समय निश्चित नहीं है) श्री लिखने का यह क्रम है—

श्री लिखिए षट् गुरुन को स्वामि पंच रिपु चारि।
तीन मित्र द्वै भृत्य को एक पुत्र अरु नारि॥

इसका मूल वररुचि कृत पत्रकौमुदी का यह श्लोक कहा जाता है—

षट् गुरोः स्वामिनः पञ्च द्वे भृत्ये चतुरो रिपौ।
श्रीशब्दानां त्रयं मित्रे एकैकं पुत्रभार्ययोः॥

यद्यपि पत्रकौमुदी वैयाकरण वररुचि (कात्यायन) की बनाई नहीं हो सकती तो भी अनूपसिंह जी के समय से तो प्राचीन ही है। फिर होनहार राजा के नाम के पहले 'श्री४' क्यों? यह कई पुस्तकों में है। जैसे 'खण्डप्रशस्ति' की प्रति में—

॥ पु० [पुस्तक] महाराजकुँवार श्री४ अनूपसिंह जी रो छै॥

अब यह प्रश्न उठता है कि क्या राजपूताना में महाराजकुमार के नाम के पहले 'श्री ४' लिखने की रीति के प्रमाण और भी कहीं हैं? हैं तो क्या उस समय 'रिपु चारि' वाला संकेत प्रचलित न था? तो क्या स्वामी की 'श्री ५' में से महाराजकुमार को छोटा समझ कर एक कम करने से ही चार की संख्या स्थिर की गई थी? अथवा यह कौटिल्य के अर्थशास्त्र के इस सिद्धांत की गूँज है कि

'कर्कटकसधर्माणो जनकभक्षा राजपुत्राः'?

(राजपुत्र कैंकड़े की तरह पिता के खानेवाले होते हैं)। कौटिल्य ने राजपुत्रों की सम्हाल, उनसे बचने और उन्हें उपद्रव के लिये असमर्थ बनाए रखने के विषय में बहुत कुछ लिखा है।

---

(५) गोसाईं तुलसीदासजी के रामचरितमानस और संस्कृतकवियों में बिंबप्रतिबिंब-भाव ।

किष्किंधा कांड के वर्षा और शरद के वर्णन का श्रीमद्भागवत के वैसे ही वर्णन से जो साम्य है वह इंडियन प्रेस के संस्करण की भूमिका में संपादकों ने दिखलाया ही है । 'सम्मेलनपत्रिका' के एक पिछले अंक में किसी लेखक ने कुछ और भी सादृश्य दिखाए हैं । दो और यहाँ पर दिए जाते हैं—

(१)

सुरसरिधार नांउ मंदाकिनि ।
जो सब पातक-पोतक-डाकिनि ।। (अयोध्या कांड)

त्वत्तटघटितकुटीकः स नटीको भिक्षुरत्र पटुरेव ।
पातकपोतकडाकिनि मन्दाकिनि हे नमस्तुभ्यम ।।

(उद्भट)

यह श्लोक जगन्नाथ पंडितराज की कविता का सा जान पड़ता है, तब तो यह गुसाईं जी के पीछे का होना चाहिए किंतु है पुराना ।

(२)

पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी ।
परम प्रताप तेज बल रासी ।।
मत्त नाग तम कुंभ बिदारी ।
ससि केसरी गगन बन चारी ।।
बिथुरे नभ मुकताहल तारा ।
निसि सुंदरी केर श्रृंगारा ।। (लंका कांड)

मयूखनखरत्रुटत्तिमिरकुम्भिकुम्भस्थलो-
च्छलत्तरलतारकाप्रकरकीर्णमुक्तागणः ।
पुरंदरहरिद्दरीकुहरगर्भसुप्तोत्थित-
स्तुषारकरकेसरी गगनकाननं गाहते ।।

(प्रसन्नराघव नाटक ७ । ६०)

———

(६) खसों के हाथ में ध्रुवस्वामिनी

एक ही श्लोकमय काव्य को जिसका बीज किसी पुरानी कथा या घटना से लिया गया हो कथोत्थ मुक्तक कहते हैं। इसके उदाहरण में राजशेखर की काव्यमीमांसा[1] में यह श्लोक दिया है—

दत्वा रुद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीं
यस्मात् खण्डितसाहसो निववृते श्रीशर्मगुप्तो नृपः।
तस्मिन्नेव हिमालये गुरुगुहाकोणक्वणत्किन्नरे
गीयन्ते तव कार्तिकेयनगरस्त्रीणां गणैः कीर्तयः॥

कोई कवि किसी राजा की प्रशंसा में चाटु कह रहा है। जिस हिमालय में चाल रुक जाने पर अपनी देवी ध्रुवस्वामिनी को खसों के राजा को सौंप कर खंडितसाहस हो कर श्रीशर्म (?) गुप्त लौट आया, वहीं पर आपकी कीर्ति गाई जा रही है। यह तो उस अज्ञात राजा की बड़ाई हुई कि जहां पर श्रीशर्मगुप्त के से पराक्रमी राजा को खसों से हार, चौकड़ी भूल, अपनी रानी उनके हाथ में सौंप, चला आना पड़ा था वहीं आपकी कीर्ति गाई जा रही है। यह श्लोक वैसा ही है कि जैसा भास के नाटक में रावण को सूचना दी जाती है कि जिस अशोक वाटिका में सँवारने सिँगारने के चाववाली मंदोदरी महारानी भी पत्ते नहीं तोड़ती वहाँ वानर (हनुमान) ने तोड़ मरोड़ डाली है। एक में हिमालय की अतिशय दुर्जयता और दूसरे में अशोक वाटिका की रावण को अतिशय प्रियता दिखा कर पहले में राजा के प्रताप की और दूसरे में वानर के अपराध की अधिकता बताई है।

किंतु यह श्लोक जिस कथा से उत्थ (निकला) है वह ध्यान देने योग्य है। काव्यमीमांसा एक ही पुस्तक से छापी गई है। श्री-शर्मगुप्त कोई अशुद्ध पाठांतर हो तो पता नहीं। गुप्त महाराजाओं के वंश में एक प्रसिद्ध ध्रुवदेवी वा ध्रुवस्वामिनी हुई है जो चंद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य की स्त्री तथा कुमारगुप्त (प्रथम) की माता थी। और किसी ध्रुवस्वामिनी का उस वंश में पता नहीं चलता। न

(१) गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज़, नं० १।

कहीं पुराने या पिछले गुप्तों में शर्मगुप्त नाम मिलता है। यदि शर्म गुप्त चंद्रगुप्त के लिये लेखकप्रमाद हो तो बंध बैठ जाता है, नहीं तो कोई शर्मगुप्त और उसकी रानी ध्रुवस्वामिनी ये दो कल्पनाएं करनी पड़ेंगी। कथा सच्ची है, नहीं तो कथोत्थमुक्तक का उदाहरण यह कैसे दिया जाता? ध्रुवस्वामिनी का नाम प्रसिद्ध है, उसके पुत्र की मुद्रा भी मिली है। चंद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य बड़ा प्रतापी और विजेता हुआ। वह उत्तर की ओर खसों से हारा ही नहीं किंतु खसों के राजा के हाथ अपनी महारानी को बंदी छोड़ कर लौट आया यह बात यदि सच्ची भी हो तो भी गुप्तों के लेखों में तो नहीं मिलने की। ऐसे ही किसी श्लोक में उसकी परंपरागत चर्चा मिले तो मिले। चीन के खस बड़े पराक्रमी थे। कई बार नेपाल के मार्ग से आकर उन्होंने हमले किए तथा पिछले गुप्त राजाओं का बल क्षय किया। संभव है कि चंद्रगुप्त की उनसे टक्कर हुई हो और चंद्रगुप्त ने फिर कुबेर की दिशा में बढ़ने से हाथ खैंच लिया हो, जैसे कि थानेश्वर के हर्षवर्धन ने और सब देशों को जीत नर्मदातट पर पुलकेशी (द्वितीय) से हार खाई और दक्षिण में राज्य फैलाने का विचार छोड़ दिया। बड़े विजेताओं की हार की सूचना उनके वंश के लेखों में कभी नहीं मिल सकती। राजशेखर के समय (नवीं शताब्दी ईसवी) में यह कथा प्रसिद्ध थी कि कोई गुप्त राजा (शर्मगुप्त या चंद्रगुप्त?) अपनी देवी ध्रुवस्वामिनी को खसों के राजा को देकर हार कर उत्तर से लौटा।

---

(७) कादंबरी के उत्तरार्ध का कर्ता।

प्रसिद्ध कादंबरी का पूर्व भाग ही रच कर महाकवि बाणभट्ट का स्वर्गवास हो गया और उस अद्वितीय कथा का उत्तरार्ध बाण के पुत्र ने पूरा किया। उसने 'सुदुर्घट' कथा के परिशेष की सिद्धि के लिये अर्धनारीश्वर को प्रणाम किया है, पिता के अधूरे काम को पूरा करने के लिये (अपना कवित्वदर्प दिखाने के लिये नहीं) ही अपना उद्योग

बताया है, और शालीनता से कहा है कि पिता के बोए बीजों की फ़सल ही मैं इकट्ठी कर रहा हूँ। इस पितृभक्त और पितृतुल्य कवि का नाम क्या था इसपर पुराने विद्वानों ने लक्ष्य नहीं दिया। उन्हें आम खाने से काम था, गुठलियाँ गिनने से नहीं। नैयायिक तो इस बहस में संतुष्ट रहे कि मंगलाचरण होते हुए भी कादंबरी की पूर्ति में विघ्न क्यों हुआ और टीकाकार केवल शब्दों के अर्थ और अलंकारों में लगे रहे। कादंबरी का विख्यात टीकाकार भानुचंद्र अकबर के समय में हुआ। उस समय तक साहित्यिक प्रवादों की शृंखला का उच्छेद हो चुका था। अर्थ का समझना केवल कोरे व्याकरण से नहीं होता, साहित्यिक समय (संकेत) की शृंखला के ज्ञान से होता है। कादंबरी में चलते ही बाण के एक पूर्व पुरुष के लिये कहा गया है—'अनेक गुप्तार्चितपादपंकजः'। टीकाकार झट इसका अर्थ करता है—अनेक वैश्यों से पूजित। आगे बाण के गुरु भरचु की प्रशंसा में कहा है कि उसके चरणों को मुकुटधारी मौखरी प्रणाम करते थे। यहाँ तो भानुचंद्र समझ गया कि मौखरी राजाओं से अभिप्राय है किंतु वहाँ न समझ सका कि प्रसिद्ध गुप्तवंशी महाराजाओं से तात्पर्य है, सेठों से नहीं। क्योंकि भानुचंद्र स्वयं जैन वैश्य था और उस समय वैश्यों का गुरु होना, आज कल की तरह, बड़ी बात थी। गुप्त नामक सम्राट् वंश भी था यह भानुचंद्र को पता न रहा होगा।

अस्तु। पुस्तक लेखकों के संकेत में इस बाणतनय का नाम सुरक्षित रह गया। डाक्टर स्टेन की कश्मीर की हस्तलिखित पुस्तकों के सूचीपत्र में कादंबरी के उत्तरार्ध के कर्त्ता का नाम पुलिन दिया है[1]। नाथद्वारे में एक हस्तलिखित पोथी में बाण के पुत्र का नाम पुलिन्द दिया है[2] और विक्टोरिया हाल म्यूज़ियम, उदयपुर, में एक कादंबरी की पोथी है उसमें भी पुलिंद नाम ही है[3] यह

(१) स्टीन्स मैनुस्क्रिप्टस, पृ० – २११।

(२) श्रीधर रा० भंडारकर, दूसरे दौरे की रिपोर्ट, पृ० ३९।

श्रीधर रा० भंडारकर को पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने बतलाया था।

अतएव कादंबरी के पूर्वार्ध का कर्ता बाण है, उत्तरार्ध का रचयिता उसका पुत्र पुलिंद वा पुलिन था।

---

(८) पंच महाशब्द।

गोसाईं तुलसीदासजी के रामचरितमानस में, बाल कांड में, राम की बरात के जनक के द्वार पर पहुँचने के वर्णन में लिखा है कि—

पंच सबद सुनि मंगल गाना।
पट पाँवड़े परहिं बिधि नाना॥

यहाँ पर साधारण लोग तो, 'पंच सबद' का अर्थ पाँच मंगल गीत, या पाँच देवताओं के स्तोत्र, या पाँच मंगल बाजे करते हैं किंतु काशीनरेश की अनुमति से बनाई हुई रामचरितमानस की एक टीका में लिखा है कि—

तंत्री, ताल, सुझाँझ पुनि जानु नगारा चार।
पंचम फूंके से बजे पांच शब्द परकार॥

कनड़ी भाषा के ग्रंथ विवेकचिंतामणि में लिंगायत ग्रंथकार ने पंचमहाशब्द के बाजों के नाम यों गिनाए हैं—शृंग, तंमट, शंख, भेरी, और जयघंटा[1]।

प्राचीन शिलालेख और ताम्रपत्रों में स्वतंत्र राजाओं, सामंतों, मंडलेश्वरों और कभी कभी राज्य के बड़े अधिकारियों के नाम के साथ 'समधिगतपंचमहाशब्दः' यह उपाधि मिलती है। कहीं कहीं जिस अधीश्वर की कृपा से पंचमहाशब्द मिले हों उसका नाम भी दिया होता है, जैसे 'श्रीमहेंद्रायुधपादप्रसादावाप्तपंचमहाशब्दः' या '(अमुक)-

---

(१) इंडि० ऐंटि० जिल्द १२, पृ० ९६।

प्रसादावाप्तपंचमहाशब्दः'। इससे जान पड़ता है कि अपने यहाँ पाँच (विशेष) बाजे बजवाना बड़े राजाओं का चिह्न समझा जाता था और सामंत तथा अधिकारी अपने यहाँ उन्हें तब तक नहीं बजा सकते थे जब तक कि अधिराज प्रसन्न होकर उन्हें पंचमहाशब्द का सम्मान न दे देते थे। यह भी एक प्रकार का रुतबा था जैसे कि मुगल बादशाहों के यहाँ से माही मरातिब (मछली के झंडे का सम्मान) तथा झंडा, डंका और तोग[1] का मिलना था। जिन सामंतों को यह मिल जाता था वे साभिमान अपने लेखों में अपने नाम के साथ 'समधिगतपंचमहाशब्दः' लिखते। सर वाल्टर इलियट का यह अनुमान कि यह महामंडलेश्वर की तरह अधीन सामंतों की उपाधि है, स्वतंत्र राजाओं की नहीं[2], ठीक नहीं क्योंकि सामंतों को पंचमहाशब्दों का सम्मान देनेवाले स्वतंत्र राजाओं को तो पांच बाजों का अधिकार था ही, वे अपने नाम के साथ ऐसा क्यों लिखते? जैसे राजपूताने के बड़े राजा अपने जागीरदारों या सेवकों को सोना बख्शते अर्थात् पैर में सोना पहनने का मान देते हैं तो जागीरदारों के अपने को 'सोने का कड़ा या लंगर पाए हुए' कहने से यह अर्थ नहीं निकलेगा कि स्वतंत्र राजाओं को पैर में सोना पहनने का अधिकार नहीं है।

श्रीयुत शंकर पांडुरंग पंडित ने 'समधिगतपंचमहाशब्द' का यह अर्थ किया था कि 'जिन्हें महा से आरंभ होनेवाली पांच उपाधियाँ मिली हों, जैसे महामंडलेश्वर आदि' किंतु वैसी पाँच उपाधियों का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। अश्वपति, गजपति, नरपति उपाधियाँ जो शिलालेखों में मिलती हैं तीन ही हैं, पाँच नहीं। संभव है कि अभिज्ञानशाकुंतल के एक श्लोक[4] में 'शब्द' का अर्थ उपाधि या उपनाम देख कर शंकर पंडित ने यह कल्पना की हो।

---

(१) मुंशी देवीप्रसाद, खानखानानामा, पृ० ७२।

(२) जर्न० रा० ए० सो०, जिल्द [illegible], पृ० १८३६।

(३) इंडि० एँ०, जिल्द १, पृ० ८१।

(४) अस्यापि द्यां विशति कृतिनश्चारणद्वन्द्वगीतः पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः॥

सर वाल्टर इलियट ने यह भी कल्पना की थी[1] कि दिन में पाँच दफ़ा नौबत का बाजा बजवाने की चाल बड़े गौरव की थी क्योंकि दक्षिण में कई जागीरें नौबत का सम्मान जारी रखने के लिये ही दी गई हैं। फरिश्ता में दो जगह पाँच बार नौबत बजाये जाने का उल्लेख है। एक[2] तो कुलबर्गा के बहमनी शाह मुहम्मदशाह प्रथम के वर्णन में जो सन् १३५८ ई० में अपने पिता का उत्तराधिकारी हुआ। दूसरे[3] गोलकुंडा के सुलतान कुली कुतुबशाह के वर्णन में जो ई० स० १५१२ में बहमनी राज्य की पराधीनता से छूट कर स्वतंत्र हुआ। दूसरे अवसर पर फरिश्ता ने सुलतान का ईरान से आई हुई (पाँच दफ़ा नौबत बजवाने की) नई चाल चलाने के लिये लोकप्रिय न होना कहा है किंतु लगभग दो सौ वर्ष पहले कुलबर्गा के सुलतान के वैसा करने पर कोई टिप्पणी नहीं की। ब्रिगस ने नौबत का अर्थ नौ प्रकार के बाजों का एक साथ बजना कहा है किंतु फारसी कोशों के अनुसार नौबत एक ही बड़े वाद्य का नाम था। पांच दफ़ा बजने के विषय में यह लिखा है कि सिकंदर जुल करनैन के समय तक तो नौबत तीन ही दफा बजती थी। उसने चौथी बार बजाया जाना आरंभ किया। एक समय सुलतान संजान अपने शत्रुओं से भाग रहा था। चार नौबत बज चुकी थीं। उसने शत्रुओं को यह धोखा देने के लिये कि सुलतान संजान मर गया पाँचवीं नौबत बजवा दी। शत्रु इस चकमे में आ गए। तबसे उसने पाँच नौबत बजवाने की चाल चला दी। नौबत का अर्थ समय, परिवर्तन, भी होता है। नौबत बजने पर पहरा बदला करता था।

इलियट ने पंच महाशब्द का अर्थ पांच दफा बाजे बजवाना स्थिर करने के लिये चंद के पृथ्वीराजरासो के १६ वें पर्व में पद्मावती के पिता पद्मसेन के वर्णन में से निम्नलिखित छंद का बीम्स का अनुवाद

(१) इंडि० ऐंटि०, जिल्द ४, पृ० २४१।

(२) ब्रिगस् फरिश्ता, जिल्द २, पृ० २९९।

(३) वही, जिल्द ३, पृ० ३२३।

उद्धृत किया किंतु ग्राउज़[१] ने तुलसीदास की चौपाई और उसकी टीका उद्धृत कर पंचमहाशब्द का ठीक अर्थ बतलाया और लिखा कि चंद का अर्थ संदिग्ध है, वहाँ पाँच स्वरों या बाजों से अभिप्राय है या उनके पाँच बार बजने से यह ठीक नहीं कहा जा सकता ।

घन निशान बहु सद्द नाद सुर पंच बजत दिन ।
दस हज़ार हय चढ़त हेम नग जटित तिन ॥

के० बी० पाठक महाशय[२] ने रेवाकोट्याचार्य नामक जैन ग्रंथकार से एक अवतरण देकर सिद्ध किया कि पंचमहाशब्द का पाँच बार बाजे बजवाना अर्थ नहीं हो सकता । अतएव वही अर्थ ठीक है जो रामचरितमानस की टीका में दिया है ।

---

(१) इंडि० एँटि० जिल्द २, पृ० ३२४ ।
(२) इंडि० एँटि० जिल्द, १२ पृ० ९६ ।

१६—बापा रावल[1] का सोने का सिक्का।

[लेखक—राय बहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, अजमेर।]

हिंदुस्तान में प्राचीन काल से स्वतंत्र और बड़े राजा अपने नाम के सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्के[2] चलाते थे। उनके हज़ारों सिक्के इस देश के भिन्न भिन्न विभागों से मिल चुके हैं और प्रति वर्ष अनेक नए मिलते जाते हैं। ये सिक्के विशेष कर प्राचीन नगरों और गाँवों में बहुधा ज़मीन में गड़े हुए मिलते हैं। कभी तो उनसे भरे हुए पात्र ही मिल जाते हैं और कभी जब चौमासे में अधिक वृष्टि के कारण ज़मीन कट जाती है

---

१. ई० स० की बारहवीं शताब्दी के मध्य के आस पास तक तो मेवाड़ के राजाओं का ख़िताब (बिरुद) 'राजा' था ऐसा उनके शिलालेखों से पाया जाता है। इसके पीछे उन्होंने 'रावल' (राजकुल) ख़िताब धारण किया। पिछले इतिहास-लेखकों को उनके पुराने ख़िताब का ज्ञान न होने के कारण उन्होंने प्रारंभ से ही उनका ख़िताब 'रावल' होना मान लिया और प्राचीन काल के वास्तविक इतिहास के अभाव में उसीकी लोगों में प्रसिद्धि हो गई। इस समय बापा आदि पहले के राजा मेवाड़ में बापा रावल, खुंमाण रावल, आलु (अल्लट) रावल, आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। इसीसे हमने बापा को 'बापा रावल' ही लिखा है।

२. संस्कृत, प्राकृत आदि की पुस्तकों एवं शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों में पहले के सोने के सिक्कों के नाम सुवर्ण, निष्क, शतमान, पल, दीनार, गद्याणक आदि; चांदी के सिक्कों के पुराण, धरण, पाद, पडिक (फदैया या फदिया), द्रम्म, रूपक, टंक आदि और ताँबे के सिक्कों के नाम कार्षापण (काहापण), पण, काकिणी आदि मिलते हैं।

या उसपर की मिट्टी बह जाती है तब वे इधर उधर बिखरे हुए मिलते हैं। कभी वे महाजनों आदि की लक्ष्मी-पूजन के रुपयों की थैलियों में मिलते हैं और कभी नाके (कुडे) लगा कर गले के ज़ेवर के रूप में रखे हुए भी पाए जाते हैं और आवश्यकता पड़ने पर, धातु के मोल से, सर्राफों आदि के हाथ बेच दिए जाते हैं। ज़मीन से निकले हुए सोने और चाँदी के कितने ही सिक्के तो महाजनों या सर्राफों तक भी नहीं पहुँचने पाते, सुनारों के यहाँ ज़ेवर बनवाने में गला दिए जाते हैं। ताँबे के सिक्के ही विशेषत: महाजनों और सर्राफों के यहाँ पहुँचते हैं। वे लोग उनको जमा किया करते हैं और जब बहुत से एकट्ठे हो जाते हैं तब वे उनको ताँबे के भाव से ठठेरे आदि बर्तन बनानेवालों को बेच देते हैं। इस तरह हमारे प्राचीन इतिहास के ज्ञान के ये अमूल्य साधन लोगों के अज्ञान के कारण अधिकतर तो नष्ट ही हो जाते हैं और थोड़े से ही प्राचीन सिक्कों के संग्रह करनेवालों के पास पहुँच कर सुरक्षित होते हैं। तिस पर भी उनके कितने ही संग्रह यूरोप और अमेरिका में तथा यहाँ के भिन्न भिन्न अजायबघरों और कई एक श्रीमानों और विद्वानों के यहाँ बन चुके हैं जो यहाँ के प्राचीन इतिहास के उद्धार के लिये बड़े महत्त्व के हैं।

राजपूताना अब तक हिंदुस्तान के दूसरे विभागों की अपेक्षा विद्या-विषय में बहुत ही पीछे है जिससे यहाँ के राजा-महाराजाओं, सर्दारों और धनवानों में प्राचीन राजाओं की कीर्ति को चिरस्थायी करनेवाले इन सिक्कों का संग्रह करने की जागृति बहुत ही कम हुई है। इसीसे इस विस्तीर्ण देश से मिलनेवाले बहुत कम प्राचीन सिक्के अब तक प्रसिद्धि में आए हैं।

राजपूताने से मिलनेवाले प्राचीन सिक्कों के देखने से पाया जाता है कि अधिक प्राचीन काल में यहाँ पर चाँदी और ताँबे के जो सिक्के चलते थे वे हिंदुस्तान के दूसरे प्रदेशों के सिक्कों की नाईं प्रारंभ में चौकोर और पीछे से गोल बनते थे। वे पुराण और कार्षा-

पण कहलाते थे। उनपर कोई लेख नहीं होता था किंतु मनुष्य, पशु, पक्षी, सूर्य-चंद्र आदि ग्रह-नक्षत्र, धनुष-बाण आदि शस्त्र, स्तूप, बोधिद्रुम, स्वस्तिक, वज्र, पर्वत (मेरु), नदी (गंगा) आदि धर्मसंबंधी संकेत और अनेक अन्य चिह्न अंकित होते थे जिनका वास्तविक आशय अब तक ज्ञात नहीं हुआ। उन सिक्कों की एक ओर केवल एक या दो ही चिह्न और दूसरी तरफ़ अधिक चिह्न अंकित मिलते हैं। ऐसे चिह्नोंवाले सिक्के चाँदी और ताँबे के असंख्य मिले हैं परंतु सोने का अब तक एक भी नहीं मिला, तो भी पहले इस प्रकार के सोने के सिक्के भी होते थे ऐसा बौद्ध-साहित्य से पाया जाता है[3]। बौद्ध जातकों में एक कथा ऐसी मिलती है कि श्रावस्ती नगरी के रहनेवाले सेठ अनाथपिंडद ने बौद्धों के लिये एक विहार बनने के लिये राजकुमार जेत से भूमि खरीदना चाहा तो जेत ने कहा कि जितनी जमीन तुम लेना चाहो उसको सोने के सिक्कों से ढक दो तो वह मिल सकती है। अनाथपिंडद ने १८ करोड़ सोने के सिक्कों से ढक कर वह जमीन खरीद ली। इस कथा का चित्र बुद्ध-गया और नागौद राज्य (मध्य भारत) के भरहुत के स्तूप की वेष्टनी में शिला पर अंकित है। दोनों में उक्त सेठ के सेवक लोग जमीन पर चौखूटे सिक्के बिछाते हुए बतलाए गए हैं। बुद्ध-गया की शिला पर तो इस विषय का लेख भी खुदा है। ये दोनों शिलाएँ[4] ईसवी सन् पूर्व की दूसरी शताब्दी के आस पास की खुदी हुई हैं।

राजपूताने में सब से पुराने लेखवाले सिक्के मध्यमिका नामक प्राचीन नगर के ताँबे के सिक्के हैं जिनपर **'मझमिकाय शिबिजनपदस'** [शिबि जनपद (=देश) की मध्यमिका (नगरी) का (सिक्का)]

---

३. राखालदास बैनर्जी, 'भारतेर प्राचीन मुद्रा' (बँगला), पृ० ७.

४. जनरल कनिंगहाम, 'कॉइंस आफ़ एन्शयंट इंडिया,' प्रारंभ का चित्रपट।

लेख[५] है । ये सिक्के ई० स० पूर्व की दूसरी शताब्दी के आस पास के हों, ऐसा उनके लेखों की लिपि से अनुमान होता है । मध्यमिका का स्थान मेवाड़ (उदयपुर) राज्य में चित्तौड़ के क़िले से क़रीब ७ मील उत्तर में है । उसका वर्तमान नाम नगरी है और वह बेदला के चौहान सर्दार की जागीर में है । ये सिक्के यहाँ के सब से पुराने सिक्के हैं । उसी समय के आस पास के मालव जाति के ताँबे के सिक्के जयपुर राज्य में 'नगर' (कर्कोटक नगर) से मिले हैं जिनपर 'मालवानं जय' [= मालवों की जय] लेख[६] है । ये सिक्के मालवगण अर्थात् मालव जाति के विजय के स्मारक हैं । इनसे पीछे के जो सिक्के राजपूताने में मिले हैं वे ग्रीक (यूनानी), शक, पार्थिअन् (पारद), कुशन और क्षत्रप वंशी राजाओं के हैं। ग्रीक (यूनानी) और क्षत्रपों के सिक्के तो यहाँ पर चाँदी और ताँबे के ही मिले हैं, बाकी के तीन वंशों के सोने के भी कभी कभी मिल जाते हैं । क्षत्रपों के चाँदी के सिक्के हज़ारों की संख्या में मिल चुके हैं, ताँबे के बहुत कम। इनके पीछे के सिक्के गुप्तवंशी राजाओं के हैं जिनमें विशेष कर सोने के मिलते हैं, चाँदी के कम । गुप्त-वंशियों के २० से अधिक सोने के सिक्के मैंने अपने मित्रों के लिये अजमेर में ही खरीदे । गुप्तों के पीछे हूणों के चाँदी और ताँबे के सिक्के मिलते हैं परंतु बहुत ही कम। हूणों के सिक्के ईरान के ससानवंशी राजाओं के सिक्कों की शैली के हैं और उनकी नकलें ई० स० की छठी से ११वीं शताब्दी के आस पास तक इस देश में बनती रहीं । समय के साथ उनका आकार घटता गया और पतलेपन के स्थान में मोटाई आती गई । कारीगरी में भी क्रमशः भद्दापन आता गया जिससे उनके सामने की तरफ की राजा की सिर से छाती तक की मूर्ति यहाँ तक बिगड़ती गई कि लोग पीछे से पहिचान भी न सके कि वह किसकी सूचक है । इससे वे उसको गधे का खुर ठहरा कर

५. कनिंगहाम, आर्किआलाजिकल सर्वे—रिपोर्ट, जि० ६, पृ० २०२ ।

६. वही, पृ० १८१। कर्कोटक नगर अब जयपुर राज्य के उणियारा ग्राम से १५ मील दक्षिण-पश्चिम में पुराना खेड़ा नाम से प्रसिद्ध है ।

उनको 'गधिये सिक्के' कहने लगे और अब तक उनका वही नाम चला आता है। परंतु जब समय समय के सिक्के पास पास रख कर मिलान करते हैं तब यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रारंभ में उनपर राजा का अर्धशरीर ही था, परंतु ठप्पा खोदनेवालों की कारीगरी में क्रमशः भद्दापन आने के कारण वे उसको पहले का सा सुंदर न बना सके और इसीसे लोगों ने उसको गधे का खुर मान लिया।

ई०स० की छठी शताब्दी से अजमेर पर मुसलमानों का अधिकार होने (ई०स० ११९२) तक के ६०० वर्षों में राजपूताने पर राज्य करनेवाले हिंदू राजवंशों में से केवल तीन ही वंशों अर्थात् मेवाड़ के गुहिल (सीसोदिया), अजमेर के चौहान, और कन्नौज के प्रतिहारों (पड़िहारों) के चाँदी और ताँबे के सिक्के कभी कभी मिल जाते हैं। प्रतिहार वंश के तो अब तक केवल भोजदेव (आदिवराह) और महीपाल के ही सिक्के मिले हैं। उक्त ६०० वर्षों तक राजपूताने में राज करनेवाले राजाओं में से किसी का भी सोने का सिक्का पहले नहीं मिला था। बापा रावल का यह सिक्का उक्त काल का पहला ही सोने का सिक्का है और अब तक एक ही मिला है। बापा रावल मेवाड़ के गुहिल (सीसोदिया) वंशी राजाओं का पूर्वज था और उसकी वीरता आदि की अनेक कथाएँ राजपूताने में प्रसिद्ध हैं।

यह सिक्का तीन वर्ष पहले अजमेर के एक सर्राफ के यहाँ मिला। उससे मालूम हुआ कि भीलवाड़े (मेवाड़) की तरफ का एक महाजन कुछ सोने और चाँदी के पुराने जेवरों के साथ यह सिक्का भी बेच गया था। इसके साथ दो मोहरें और भी थीं, एक बादशाह अकबर की और दूसरी औरंगजेब-आलमगीर की। ये तीनों सिक्के मैंने सिरोही के महाराजाधिराज महाराव सर केसरीसिंह जी के लिये खरीद लिए जो उनके प्राचीन सिक्कों के बड़े संग्रह में सुरक्षित हैं। जब यह सिक्का

सर्राफ के पास आया तब उसमें सोने का नाका (कुंडा) लगा हुआ था जिसको उसने उखड़वा डाला और झालन (टाँके) को घिसवा दिया परंतु अब तक उसका कुछ अंश इसपर पाया जाता है। दाहिनी ओर का इसका थोड़ा सा अंश दोनों तरफ से घिस गया है जिससे वहाँ के चिह्न कुछ अस्पष्ट हो गए हैं।

इस सिक्के का तौल इस समय ११५ ग्रेन (६५$\frac{1}{3}$ रत्ती) है। दोनों ओर के चिह्न आदि नीचे लिखे अनुसार हैं जिनका विवेचन आगे किया जायगा—

सामने की तरफ—(१) ऊपर के हिस्से से लगा कर बाईं ओर, अर्थात् लगभग आधे सिक्के के किनारे पर, बिंदियों की एक वर्तुलाकार पंक्ति है जिसको माला कहते हैं। (२) ऊपर के हिस्से में माला के नीचे ई० स० की आठवीं शताब्दी की लिपि में 'श्रीवोप्प' लेख है जो जिस राजा (बापा) का यह सिक्का है उसका सूचक है। (३) उक्त लेख के नीचे बाईं ओर माला के पास खड़ा त्रिशूल है। (४) त्रिशूल की दाहिनी ओर दो प्रस्तरवाली वेदी पर शिवलिंग बना है। (५) शिवलिंग की दाहिनी ओर बैठा हुआ नंदि (बैल) है जिस का मुख शिवलिंग की तरफ है और जिसकी पूँछ और उसके पास का कुछ अंश सिक्के का उधर का हिस्सा घिस जाने के कारण नहीं रहा है। (६) शिवलिंग और बैल के नीचे पेट के बल लेटा हुआ एक मनुष्य है जिसका जाँघों तक का ही हिस्सा सिक्के पर आया है। उसके दोनों कान आज कल के कनफटे जोगियों की तरह बीच में से बहुत छिदे हुए होने के कारण मनुष्य के कानों से बड़े दिखाई देते हैं और मुख भी कुछ अधिक लंबा प्रतीत होता है।

पीछे की तरफ—(१) दाहिनी ओर के थोड़े से किनारे को छोड़ कर अनुमान सिक्के के $\frac{3}{4}$ किनारे के पास बिंदियों की माला है। (२) ऊपर के हिस्से में माला के नीचे एक पंक्ति में तीन

" बापा रावल के सोने के सिक्के का चित्र "।

चिह्न बने हैं जिनमें से बाँई ओर से पहला सिमटा हुआ चमर प्रतीत होता है। (३) दूसरा चिह्न ⊕ है। (४) तीसरे चिह्न का ऊपर का भाग, सिक्के का वह अंश घिस जाने के कारण, स्पष्ट नहीं है, परंतु उसका नीचे का अंश नीचेवाली गौ के सींग के पास नीचे से कुछ मुड़ी हुई खड़ी लकीर के रूप में दिखलाई देता है। यह छत्र की डंडी हो सकती है और ऊपर का अस्पष्ट भाग भी छत्र सा दीख पड़ता है। (५) उक्त तीनों चिह्नों के नीचे दाहिनी ओर को मुख किए गौ खड़ी है जिसके मुख का कुछ अंश सिक्के के घिस जाने से अस्पष्ट हो गया है। (६) गौ के पैरों के पास बाँई ओर मुख किए गौ का दूध पीता बछड़ा है, जिसके गले में घंटी लटक रही है, वह पूँछ कुछ ऊँची किए हुए है और उसका स्कंध (ककुद) भी दीखता है। (७) बछड़े की पूँछ से कुछ ऊपर और गौ के मुख के नीचे एक पात्र बना हुआ है जिसकी दाहिनी ओर का अंश घिस गया है। पात्र की बाँई ओर की गुलाई और उसके नीचे सहारे की पैंदी स्पष्ट है। (८) गौ और बछड़े के नीचे दो आड़ी लकीरें बनी हैं जिनके बीच में थोड़ा सा अंतर है। (९) उक्त लकीरों की दाहिनी ओर तिरछी मछली है, जिस का पिछला हिस्सा उक्त लकीरों से जा लगा है। (१०) उक्त लकीरों के नीचे और बिंदियों की बिंदु-माला के ऊपर चार बिंदियों से बना हुआ फूल सा दिखाई देता है।

सामने की तरफ का विवेचन।

(१) बिंदियों से बनी हुई माला—प्राचीन काल से बहुधा गोल सिक्कों के किनारों के पास बिंदियों से बनी हुई परिधि होती है जिसको राजपूताने के लोग माला कहते हैं। जब सिक्का ठप्पे के समान ही बड़ा होता है तब पूरी माला सिक्के पर आ जाती है परंतु जब छोटा होता है तब माला का कुछ अंश ही उसपर आता है। सिक्कों पर माला बनाने की रीति प्राचीन काल से चली

आती है। हिंदुस्तान के ग्रीक (यूनानी), कुशन (तुर्क), गुप्त, यौधेय, कलचुरि, चौहान आदि कई राजवंशों के एवं ससान तथा गधिये सिक्कों पर तथा नेपाल, आसाम और दक्षिण से मिलनेवाले कई सिक्कों पर यह माला[७] पाई जाती है। केवल पुराने सिक्कों पर ही नहीं किंतु हिंदुस्तान के मुसलमान सुलतानों और बादशाहों के कई सिक्कों पर भी यह होती है[८]। राजपूताने के राज्यों के कई सिक्कों पर[९] तो यह बहुधा अब तक बनती थी।

(२) सिक्के के लेख में राजा का नाम श्रीवोप्प है। यह वप्प (बप्प = बापा) के नाम के पुराने मिलनेवाले अनेक रूपों में से एक है। संस्कृत के शिलालेखों तथा पुस्तकों में इस राजा का नाम कई तरह से लिखा मिलता है जैसे कि 'वप्प', 'वप्पक[१०]', 'वप्प[११]' 'बप्पक[१२]'

---

७ वी० ए० स्मिथ, कटलॉग ऑफ दी कोइंस इन दी इंडिअन् म्यूज़िअम्, (कलकत्ता), प्लेट १, ३, ९, ११-१७, २०, २१, २४, २५, २६, २८, २९, ३०, ३१।

८. एच० एन० राइट, कैटलॉग आफ़ दी कॉइंस इन दी इंडिअन् म्यूज़ि-अम (कलकत्ता); जिल्द २, प्लेट ७, ९; जिल्द ३, प्लेट १, २, ४, ६, ७—१३, १५, १७--२०, २२।

९. वेब; दी करंसीज़ ऑफ़ राजपूताना; प्लेट १--१२।

१०. अस्मिन्नभूद्गुहिलगोत्रनरेन्द्रचंद्रः
श्रीवप्पकक्षितिपतिः क्षितिपीठरत्नम्।

मेवाड़ के राजा नरवाहन के समय की वि०सं० १०२८ की प्रशस्ति, बंब० एशि०सोसा० जर्नल जि० २२, पृ० १६६.

गुहिलांगजवंशजः पुरा क्षितिपालोत्र बभूव बप्पकः।
प्रथमः परिपंथिपार्थिवध्वजिनीध्वंसनलालसाशयः ॥ ३ ॥

रावल समरसिंह के समय का वि० सं० १३३० का चीरवा गाँव का शिलालेख।

११. हारीतः शिवसंगमंगविगमात् प्राप्तः स्वसेवाकृते
बप्पाय प्रथिताय सिद्धिनिलयो राज्यश्रियं दत्तवान् ॥ १० ॥
हारीतात्किल बप्पकोऽह्रिवलयव्याजेन लेभे महः क्षात्रं...

रावल समरसिंह का वि०सं० १३४२ का आबू का शिलालेख (इंडि एंटी जि०१६, पृ० ३४७)।

बाप्प'[१२], 'बप्पाक'[१३], 'बाप्प'[१४], 'बापा'[१५], आदि। 'ब' के स्थान में 'व' का प्रयोग राजपूताने, आदि के शिलालेखों में बहुधा मिलता है और यहाँ के लोगों में बंगालियों की नांई 'अ' के स्थान में अर्ध 'ओकार' बोलने का प्रचार भी है जैसे कि 'खल' को 'खोल', 'ढल' (ढेला) को 'ढोल', 'पांच' को 'पोँच' आदि। अतएव 'बप्प' को 'बोप्प' लिखना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। बप्प[१६] और बोप्प दोनों

---

१२. जगाम बाष्पः परमेश्वरं महो........... ॥ १७ ॥

एकलिंगजी के मंदिर के दक्षिण द्वार की प्रशस्ति (भावनगर इंस्क्रि-प्शंस, पृ० ११८)।

बप्प शब्द के और पाठांतर तो ठीक हैं किंतु इसका निर्वचन ठीक न जान कर शुद्ध संस्कृत बनाने की धुन में किसी पंडित ने बाष्प की कल्पना की होगी और इसीको दृढ़ करने के लिये पार्वती के बाष्प (आँसू) का संबंध बापा से मिलाने की कथा गढ़ी गई देखो, आगे टिप्पण २३)

१३. श्रीगुहिदत्तराउलश्रीबप्पाकश्रीखुमाणादिमहाराजान्वये......
नारलाई के आदिनाथ के मंदिर में लगा हुआ महाराणा रायमल के समय का वि०सं० १५५७ (न कि १५३७) का शिलालेख (वहीं, पृ० १४१)

१४. श्रीमेदपाटवसुधामपालयद्बाप्पपृथ्वीशः ॥ १६ ॥

महाराणा कुम्भकर्ण के समय का बना हुआ एकलिंग-माहात्म्य, राजवर्णन अध्याय (वि० सं० १७१८ की हस्तलिखित प्रति से)।

१५. प्राप्तमेदपाटप्रमुखसमस्तवसुमतीसाम्राज्यश्रीबापाखुम्मान......

उपर्युक्त, टिप्पण, १२ दक्षिण द्वार की प्रशस्ति के अंत का गद्य।

१६. 'बप्प' प्राकृत भाषा का प्राचीन शब्द है जिसका मूल अर्थ 'बाप' (संस्कृत वाप = बीज बोनेवाला = पिता) था। इसका या इसके भिन्न भिन्न रूपांतरों का प्रयोग बहुधा सारे हिंदुस्तान में प्राचीन काल से लगाकर अब तक चला आता है। वलभी (काठियावाड़) में राजाओं के दानपत्रों में पिता के नाम की जगह 'बप्प' शब्द सम्मान के लिये कई जगह मिलता है (परमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीबप्पपादानुध्यातः परमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरः श्रीशीलादित्यः...वलभी के राजा शीलादित्य सातवें का अलीना का गुप्त संवत् ४४७ = ई० सं० ७६६-६७ का दानपत्र, फ्लीट-गुप्त इंस्क्रिप्शंस, पृ० १७८)। नेपाल के लिच्छवि वंशी राजा शिवदेव और उसके सामंत अंशुवर्मा के [गुप्त] संवत् ३१६ (या ३१८ ? = ई० सं० ६३५-३६) के शिलालेख में 'बप्प' शब्द का प्रयोग वैसे ही अर्थ में हुआ है (स्वस्ति मानगृहादपरिमितगुणसमुदयोद्भा-

प्राकृत पर्याय शब्द हैं और दोनों का मूल अर्थ 'पिता'[१७] है। ये दोनों एक दूसरे के स्थान में व्यवहृत होते हैं जिसके कई उदाहरण मिलते हैं जैसे कि 'बप्प स्वामि'[१८] के स्थान पर 'बोप्प स्वामि'[१९] और 'बापण्णभट्टीय' के स्थान पर 'बोपण्णभट्टीय'[२०], आदि[२१]।

सितदिशो (?) बप्पपादानुध्यातोलिच्छविकुलकेतुर्भट्टारकमहाराजाधिराजश्रीशिवदेवः कुशली...इंडि० एंटि०, जि० १४, पृ० ६८)। पीछे से यह शब्द नामसूचक भी हो गया और मेवाड़ के अनेक लेखों में बापा रावल के लिये नामरूप से लिखा हुआ मिलता है (देखो, ऊपर, टिप्पण ११)। पीछे से इसके कई भिन्न भिन्न रूपांतर बालक, वृद्ध आदि के लिये या उनके सम्मानार्थ या उनको संबोधन करने में संस्कृत के 'तात' शब्द की नांई काम में आने लगे। मेवाड़ में 'बापू' शब्द लड़के या पुत्र के अर्थ में प्रयुक्त होता है और 'बापजी' राजकुमार के लिये। राजपूताना, गुजरात आदि में बापा, बापू और बापो शब्द पिता पूज्य या वृद्ध के अर्थ में आते हैं। बापूजी, बापूदेव, बोपदेव, बापूराव, बापूलाल, बाबाराव, बापाराव, बापण्णभट, बोपण्णभट, बोप्पण्णदेव आदि अनेक शब्दों के पूर्व अंश इसी 'बप्प' शब्द के रूपांतर मात्र हैं। पंजाबी और हिंदी गीतों तथा स्त्रियों की बोल चाल में 'बावल' पिता का सूचक है।

१७. फ्लीट, गुप्त इंस्क्रिपशंस, पृ० ३०४।

१८. परिव्राजक महाराज हस्ती के गुप्त संवत् १६३ (ई० स० ४८२-८३) के खोह के दानपत्र में कोर्परिक अग्रहार जिन ब्राह्मणों को देना लिखा है उनमें से एक का नाम 'बप्पास्वामि' मिलता है (फ्लीट; गुप्त इंस्क्रिपशंस, पृ० १०३)। गुजरात के राष्ट्रकूट (राठौड़) राजा गोविंदराज के शक सं० ७३५ (वि० सं० ८७०=ई० स० ८१३) के दानपत्र में उक्त दान के लेनेवाले गुजरात के ब्राह्मणों में से एक का नाम बप्पस्वामि लिखा है (एपि० इंडि०, जि० ३, पृ० ५८)।

१९. वलभी के राजा शीलादित्य (प्रथम) के गुप्त सं० २८६ के नवलक्खी से मिले हुए दानपत्र में संगपुरि (शहापुर-काठियावाड़ में जूनागढ़ के निकट) के ब्राह्मणों में से, जिनको वह दान दिया गया, एक का नाम बोप्पस्वामि लिखा है (एपि० इंडि०, जि० ११, पृ० १७५, १७६)।

२०. बापण्णभट (बोपण्णभट) के कई ग्रंथों में से एक का नाम 'बापण्णभट्टीय' और 'बोपण्णभट्टीय' दोनों तरह से लिखा मिलता है (आफ्रेक्ट-कैटलॉगस् कैटलॉगोरम्, खंड १ पृ० ३६१,३७७)।

२१. देवगिरि के यादव राजा महादेव और रामदेव (रामचंद्र) के प्रसिद्ध विद्वान् मंत्री हेमाद्रि (हेमाडपंत) के आश्रित, वैद्य केशव के पुत्र और हरिलीला,

(३) त्रिशूल शिव के आयुधों में से मुख्य है। बापा जैसे दृढ़ शिव-भक्त राजा के सिक्के में शिवलिंग के साथ त्रिशूल के चिह्न का होना स्वाभाविक ही है।

(४) शिवलिंग बापा के इष्टदेव[२] एकलिंग का सूचक होना चाहिए।

(५) बैल शिव का वाहन होने के कारण शिवलिंग के सामने उसका होना उचित है।

(६) शिवलिंग और वृष के नीचे लेटे हुए पुरुष की मूर्ति किसकी सूचक है? इस विषय में निश्चय के साथ कुछ भी कहा नहीं जा सकता, परंतु संभव है कि वह बापा की ही सूचक हो और उसे अपने इष्टदेव एकलिंग के आगे प्रणाम करता हुआ प्रकट करती हो। उसके कान फटे और मुख अधिक लंबा होने के विषय में तीन कल्पनाएँ हो सकती हैं। या तो ठप्पा खोदनेवाला अच्छा कारीगर न हो, जिससे जैसी चाहिए वैसी ठीक आकृति न बना सका। प्राचीन राजाओं के कानों में बड़े बड़े कुंडल पहनने की चाल होने से वे फटे हुए और लटक जाने के कारण बड़े बनाए जाते थे जैसा कि कई मूर्तियों में देखा जाता है। अथवा बापा शिव के गण नंदि (नंदिकेश्वर) का

मुग्धबोध व्याकरण आदि अनेक ग्रंथों के कर्ता का, भानुदत्त रचित रसमंजरी पर 'रसमंजरी विकास' नामक टीका के कर्ता (नृसिंह के पुत्र) का, एवं कांकेर (मध्य-प्रदेश) के सामंत व्याघ्रराज के पुत्र और उत्तराधिकारी का नाम वोपदेव (बोपदेव) मिलता है। ऐसे ही राजा तिविरदेव के एक दानपत्र के खोदनेवाले का नाम बोप्पनाग मिलता है (एपि० इंडि०, जि० ७ पृ. १०७)। इन नामों के पहले अंश 'वोप', 'बोप' या 'बोप्प', 'बप्प' या उसके पर्याय 'बोप्प' के ही सूचक हैं।

२२. मेवाड़ के राजाओं के इष्टदेव एकलिंगजी हैं और बापा उनका परम भक्त था ऐसा मेवाड़ के अनेक शिलालेखों एवं ऐतिहासिक पुस्तकों से पाया जाता है।

नागह्रदपुरे तिष्ठन्नेकलिंगशिवप्रभोः।
चक्रे बाप्पोऽर्चनं चास्मै वरान्हरो ददौ ततः ॥६॥

राजप्रशस्ति महाकाव्य, सर्ग ३

अवतार[२३] माना जाता था जिससे उसका मुख वानराकार बनाया गया हो। अथवा यह बापा के गुरु हारीतराशि की मूर्त्ति हो जो शिव के गण चंड का अवतार[२४] माना जाता था।

पिछली तरफ का विवेचन।

(१) बिंदियों से बनी हुई माला—इसका विवेचन ऊपर हो चुका है।

(२) और (४) ऊपर के पंक्तिबद्ध तीन चिह्नों में से पहले (चमर और तीसरे (छत्र) का विवेचन ऊपर हो चुका। ये दोनों राज्यचिह्न हैं।

(३) ⊕ यह चिह्न या तो बौद्धों के धर्मचक्र का या सूर्य का सूचक हो सकता है। परम शैव राजा के सिक्के पर त्रिशूल, शिवलिंग और वृषभ के साथ बौद्ध धर्म-चक्र का होना तो सर्वथा असंभव है; अतएव यह चिह्न सूर्य का सूचक होना चाहिए। प्राचीन काल में सूर्य का चिह्न बीच में बिंदी सहित छोटा सा वृत्त होता था जिस पर बाहर की ओर

---

२३. यं दृष्ट्वा नंदिनं गौरी दृशो बाष्पं पुराऽसृजत्।
नंदीगणोसौ बाप्पोपि प्रियाह्वकबाप्पदोऽभवत् ॥७॥
वही, सर्ग० ३.

अथ शैलात्मजा ब्रह्मन् शोकव्याकुललोचना।
नंदिनं प्रथमं बाष्पं सृजन्ती तमुवाच ह ॥ १२ ॥
यस्माद्बाष्पं सृजाम्यद्य वियोगाच्छंकरस्य च।
पूर्वदत्ताच्च मे शापाद्बाष्पो राजा भविष्यति (सि) ॥१३॥

महाराणा रायमल के समय का बना एकलिंग-माहात्म्य, अध्याय ६।

नंदी गण का मुख वानर का सा माना गया है। रावण ने इसका उपहास किया था तब नंदी ने शाप दिया कि मेरे सदृश मुखवाले तेरा नाश करेंगे। (वाल्मीकि रामायण, सुंदरकांड, ४०। २-३, तथा वहीं पर कतक टीका, उत्तरकांड १६।१४-२१)

२४. रे चंड त्वं द्वारि स्थितोपि रक्षाविधौ प्रमत्तोभूः।
हारीतराशिनामा भूयास्त्वं मेदपाटमुनिः॥

राणा कुंभकर्ण के समय का बना एकलिंग-माहात्म्य, अध्याय १, श्लोक २२।

हारीतराशिः स मुनिश्चण्डः शंभोर्गणोऽभवत्।
राजप्रशस्ति महाकाव्य सर्ग ३, श्लोक ८॥

किरणें होती थीं। पुराण और कार्षापण नाम के प्राचीन सिक्कों पर सूर्य का चिह्न[२५] वैसा ही मिलता है। वह इतना स्पष्ट होता है कि उसको देख कर हर एक पुरुष सहसा यही कहेगा कि यह सूर्य बना है। पीछे से जैसे अक्षरों की आकृति में अंतर पड़ता गया वैसे ही सूर्य के चिह्न में भी भिन्नता आती गई। पश्चिमी क्षत्रपवंशी राजाओं के सिक्कों पर सूर्य और चंद्र के चिह्न मिलते हैं। उनमें चष्टन से लगा कर रुद्रसेन प्रथम तक के सिक्कों पर सूर्य का चिह्न किरणों सहित स्थूल बिंदी[२६] ही है, वृत्त नहीं; और किरणें बहुत स्पष्ट हैं। परंतु उसके पीछे के उसी वंश के राजाओं के सिक्कों पर का वही चिह्न बिंदियों से बना हुआ वृत्त मात्र[२७] है जिसके मध्य में एक सूक्ष्म बिंदी और लगी है। सिक्कों के अभ्यासियों को छोड़कर उस चिह्न को और कोई सूर्य का चिह्न न कहेगा किंतु उसको सतफूली या फूल ही बतलावेगा। वैदिकों की ग्रह-शांति के नवग्रहस्थापन में जहाँ नवग्रहों के सांकेतिक चिह्न बनाकर उनका पूजन होता है वहाँ सूर्य के मंडल में सूर्य का चिह्न वृत्त[२८] ही होता है। राजपूताने में राजाओं तथा सर्दारों की ओर से ब्राह्मणों, देवमंदिरों आदि को दान किए हुए खेतों पर उनकी सनदें शिलाओं पर खुदवा कर खड़ी की जाती थीं। ऐसे ही राजाओं की ओर से छोड़े हुए किसी कर आदि के, या प्रजावर्ग में से किसी जाति की की हुई प्रतिज्ञा के, लेख भी शिलाओं पर खुदवा कर गाँवों में खड़े किए हुए मिलते हैं। उक्त दोनों प्रकार के लेखों को यहाँ के

---

२५. कनिंगहाम कॉइंस आफ् एन्श्यंट इंडिआ, प्लेट १, संख्या १, ३—७, १३।

२६. रापसन्, कैटलॉग आफ् इंडिअन् कॉइंस, 'आंध्र, क्षत्रप आदि' प्लेट १०—१२। संख्या ३

२७. वही, प्लेट १२—१८.

२८. वृत्तमंडलमादित्ये चतुरस्रं निशाकरे।
भूमिपुत्रे त्रिकोणं स्याद्बुधे वै बाणसदृशं॥
ग्रहशांति।

लोग 'सुरे' (फारसी शरह) कहते हैं। समय समय के ऐसे सैकड़ों नहीं, हज़ारों शिलालेख अब तक भिन्न भिन्न अवस्थाओं में खेतों और गाँवों में खड़े हुए मिलते हैं। ऐसे लेखों में से कई एक के ऊपर के भाग में सूर्य चंद्र और वत्स सहित गौ की मूर्तियाँ बनी होती हैं। इनका भाव यही है कि जब तक सूर्य्य, चंद्र और सवत्सा गौ (अर्थात् रसदात्री पृथ्वी) हैं तब तक वह दान (आदि) अविच्छिन्न रहे। गौ की मूर्ति का यह भाव भी है कि इस दान या नियम का भंग करनेवालों को गोहत्या का पाप लगे। ऐसे शिलालेखों पर सूर्य का चिह्न ⊕ ⊕ ○ ○ इन चार प्रकारों में से किसी एक तरह से अंकित किया हुआ मिलता है। राजपूताना म्यूज़िअम (अजमेर) में रक्खे हुए वि० संवत् १३०० के एक शिलालेख के ऊपर के भाग में सूर्य, चंद्र और वत्स सहित गौ की मूर्तियाँ बनी हैं। उसमें सूर्य का चिह्न ऊपर बतलाए हुए चार प्रकार के चिह्नों में से पहला है। अतएव सिक्के पर ⊕ चिह्न सूर्य का ही सूचक होना चाहिए।

इस सिक्के पर छत्र और चँवर दो राज्य-चिह्नों के बीच में सूर्य की मूर्ति किस अभिप्राय से रक्खी गई इस विषय में भिन्न भिन्न कल्पनाएं हो सकती हैं, परंतु अधिक संभव यही है कि वह बापा का सूर्यवंशी होना सूचित करती हो। मेवाड़ के राजा अब तक अपने को सूर्यवंशी मानते चले आते हैं।

(५—६) ये चिह्न गौ और उसका स्तनपान करते हुए बछड़े के हैं। यह गौ बापा रावल के प्रसिद्ध गुरु लकुलीश संप्रदाय के साधु (नाथ) हारीतरशि की काम-धेनु हो जिसकी सेवा बापा रावल ने की ऐसी कथा प्रसिद्ध है। स्तनपान करते हुए [बछड़े] वत्स का अभिप्राय गौ का दुधार होना है।

(७) पात्र—इसका वर्णन ऊपर हो चुका।

(८) दो आड़ी लकीरें नदी के दोनों तटों को सूचित करती हैं

क्योंकि उनकी दाहिनी ओर के अंत पर मछली बनी है जो वहाँ पर जल का होना प्रकट करती है। यदि यह अनुमान ठीक हो तो ये लकीरें एकलिंगजी के मंदिर के पास बहनेवाली कुटिला नाम की छोटी नदी[२९] (नाले) की सूचक होनी चाहिएँ।

(९) फूल—शोभा के लिये बना हो या नदी के निकट पुष्पों का होना सूचित करता हो।

बापा का सूर्यवंशी होना।

ऊपर हम कह आए हैं कि छत्र और चमर के बीच सूर्य का चिह्न होना बापा (और उसके वंशजों) का सूर्यवंशी होना सूचित करता है। इस कथन पर यह शंका उठ सकती है कि इस चिह्न पर से ही बापा का सूर्यवंशी होना कैसे संभव हो सकता है? क्या ऐसा मानने के लिये कोई प्राचीन शिलालेख आदि का प्रमाण है? इसके उत्तर में यह कथन है कि मेवाड़ के पुराने राजाओं में से अल्लट तक के राजाओं के पाँच शिलालेख अब तक मिले हैं, जिनमें शीलादित्य (शील) का वि० सं० ७०३[३०] का, अपराजित का वि० सं० ७१८[३१] का, भर्तृ-पट्ट (भर्तृभट) दूसरे के वि० सं० ९९९[३२] और १०००[३३] के और अल्लट का वि० सं० १०१०[३४] का है। इनमें से किसी में भी मेवाड़ के राजवंश की उत्पत्ति के संबंध में कुछ भी लिखा नहीं मिलता। वि०

२९. मा कुरुष्वेत्यतः कोपमित्युवाच सरिद्वरा।
तां शशापातिरोपेण कुटिलेति सरिद्भव ॥२५॥
तत्रैकलिंगसामीप्ये कुटिलेति सहस्रशः।
धाराश्च संभविष्यन्ति प्रायशो गुप्तभावतः ॥२६॥
महाराणा रायमल के समय का बना 'एकलिंगमाहात्म्य', अध्याय ९।

३०. यह लेख इसी संख्या में मुद्रित है।

३१. एपि० इंडि०, जि० ४, पृ० ३१–३२।

३२. वही, जि० १४, पृ० १८७।

३३. राजपूताना म्यूज़ियम की रिपोर्ट, ई० स० १९१३–१४, पृ० २।

३४. भावनगर इंस्क्रिपशंस, पृ० ६७–६८।

सं० १०१० के पीछे के जिन शिलालेखों में उसकी उत्पत्ति के विषय में कुछ लिखा मिलता है उनमें सब से पहला लेख एकलिंग के मंदिर के निकट के लकुलीश (लकुटीश) के मंदिर की, जिसको इस समय नाथों का मंदिर कहते हैं, प्रशस्ति है। यह प्रशस्ति मेवाड़ के राजा नरवाहन के समय की और वि० सं० १०२८ की है। इससे मेवाड़ के राजाओं का रघुवंशी (सूर्यवंशी) होना पाया जाता है। उक्त प्रशस्तिवाले ताक के ऊपर छज्जा न होने के कारण चौमासे में मंदिर के शिखर का जल प्रशस्ति के ऊपर होकर बहने से उसका कुछ अंश बिगड़ गया है, तिस पर भी जो अंश बचा है वह बड़े महत्त्व का है। उसका सारांश नीचे लिखा जाता है—

प्रारंभ में 'ओं ओं नमो लकुलीशाय' से लकुलीश को नमस्कार किया है। फिर पहले और दूसरे श्लोकों में किसी देवता और देवी (सरस्वती) की प्रार्थना हो ऐसा पाया जाता है परंतु उन श्लोकों का अधिक अंश जाता रहा है। तीसरे और चौथे श्लोकों में नागहृद (नागदा) नगर का वर्णन है। पाँचवें श्लोक में उस नगर के राजा वप्पक (वप्पक=बापा) का वर्णन है जिसमें उसको गुहिलवंश के राजाओं में चंद्र के समान (तेजस्वी) और पृथ्वी का रत्न कहा है और उसके धनुष के टंकार का कुछ वर्णन[३५] है परंतु लेख का वह अंश नष्ट हो गया है। छठे श्लोक में वप्पक के वंशज किसी राजा का (संभवतः नरवाहन के पिता अल्लट का) वर्णन है परंतु उसका नाम बचने नहीं पाया। सातवें और आठवें श्लोकों में राजा नरवाहन की, जिसके समय में वह प्रशस्ति बनी, वीरता की प्रशंसा है। श्लोक ९ से ११ तक में लकुलीश[३६] की उत्पत्ति का वर्णन यों किया है कि

---

३५. अस्मिन्नभूद्गुहिलगोत्रनरेन्द्रचंद्रः
श्रीवप्पकः क्षितिपतिः क्षितिपीठरत्नम्।
ज्याघातघोष...............
(बंब० एशि० सोसा० जर्नल, जि० २२, पृ० १६६)

३६. लकुलीश (लकुटीश, नकुलीश) शिव के १८ अवतारों में से एक माना जाता है। प्राचीन काल में पाशुपत (शैव) संप्रदायों में लकुलीश संप्रदाय

पहले भृगुकच्छ (भड़ौच) प्रदेश में विष्णु ने भृगु मुनि को शाप दिया तो भृगु ने शिव की आराधना कर उनको प्रसन्न किया। इसपर उस मुनि के सम्मुख हाथ में लकुट लिए हुए शिव का कायावतार (अवतार) हुआ। जहाँ उनका यह अवतार हुआ वह स्थान कायावतार (कारवान्) कहलाया और उसकी रमणीयता के आगे वे कैलास को भूल गए। बारहवें श्लोक में किसी स्त्री (पार्वती?) के शरीर पर के आभूषणों का वर्णन है परंतु वह किस प्रसंग का है यह पूरा श्लोक सुरक्षित न होने से स्पष्ट नहीं होता। १३वें श्लोक में शरीर पर भस्म लगाने, वल्कल के वस्त्र और जटाजूट धारण करने, और पाशुपत योग का साधन करनेवाले

बहुत प्रसिद्ध था और अब तक राजपूताना, गुजरात, काठियावाड़, दक्षिण (माईसोर तक), बंगाल और उड़ीसे में लकुलीश की मूर्तियाँ पाई जाती हैं। उस मूर्ति के सिर पर बहुधा जैन-मूर्तियों के समान केश होते हैं। वह द्विभुज होती है। उसके दाहिने हाथ में बीजोरा और बाँये में लकुट (दंड) रहता है जिससे उसका नाम लकुटीश (लकुलीश) पड़ा। वह मूर्ति पद्मासन बैठी हुई होती है। लकुलीश ऊर्ध्वरेता (जिसका वीर्य कभी स्खलित न हुआ हो) माना जाता है, जिसका चिह्न (ऊर्ध्वलिंग) मूर्ति में बना रहता है [न (ल) कुलीशं ऊर्ध्वमेढ्रं पद्मासनसुसंस्थितं। दक्षिणे मातुलिङ्गं च वामे दंडं प्रकीर्तितं— विश्वकर्मावतार वास्तुशास्त्र]। इस समय इस प्राचीन संप्रदाय को माननेवाला कोई नहीं रहा, यहाँ तक कि बहुधा लोग उस संप्रदाय का नाम भी भूल गए हैं, परंतु प्राचीन काल में उसके माननेवाले बहुत थे जिनमें मुख्य साधु (कनफटे, नाथ) होते थे। माधवाचार्य के 'सर्वदर्शनसंग्रह' में पाशुपत संप्रदाय का कुछ हाल मिलता है। उसका विशेष वृत्तांत शिलालेखों तथा विष्णुपुराण, लिंगपुराण आदि पुराणों में मिलता है। उसके अनुयायी लकुलीश को शिव का अवतार मानते थे जिसकी उत्पत्ति के संबंध में कई, एक दूसरी से भिन्न, कथाएँ मिलती हैं। उसका उत्पत्तिस्थान कायावरोहण (कायारोहण=कारवान्, बड़ौदा राज्य में) माना गया है। लकुलीश उक्त संप्रदाय का प्रवर्तक होना चाहिए। उसके मुख्य चार शिष्यों के नाम कुशिक, गर्ग, मित्र और कौरुष्य (लिंगपुराण, २४। १३१) मिलते हैं। एकलिंगजी के पूजारी साधु कुशिक की शिष्य-परंपरा से थे क्योंकि उक्त प्रशस्ति में उसीका नाम दिया है। इस संप्रदाय के साधु निहंग होते थे, गृहस्थ नहीं और मूँड़ कर चेला बनाते थे। जाति पाँति का कोई भेद न था।

कुशिक आदि योगियों का (जो लकुलीश के मुख्य शिष्य थे) वर्णन है। श्लोक १४ से १६ तक में उन (कुशिक आदि) के पीछे होनेवाले एकलिंग जी के मंदिर की पूजा करनेवाले उक्त संप्रदाय के साधुओं का परिचय दिया है जिसमें उनको शाप और अनुग्रह का स्थान, **हिमालय से सेतु (राम का सेतु) पर्यंत रघु के वंश की कीर्त्ति को फैलानेवाला,** तपस्वी, एकलिंगजी की पूजा करनेवाला और लकुलीश के उक्त मंदिर का बनानेवाला कहा है[१७]। १७ वें श्लोक में स्याद्वाद (जैन) और सौगत (बौद्ध) आदि को विवाद में जीतनेवाले वेदांग मुनि का हाल है। १८ वें श्लोक में उस (वेदांग मुनि) के

१७......पाशुपतयोगभृतो यथार्थ-
ज्ञानावदातवपुषः कुशिकादयोन्ये ।
भस्मांगरागतरुवल्कजटाकिरीट-
लक्ष्माण आविरभवन्मुनयः पुराणाः ॥ [१३]
तेभ्यो........................ ...
......क्लेशसमुद्गतात्ममहसः......योगिनः ।
शापानुग्रहभूमयो हिमशिला व(ब)न्धोज्वलादागिरे-
रासेतो रघुवंशकीर्तिपिशुनाती(स्ता)व तप...[॥१४॥]
..........................श्रीमदेकलिङ्गसुरप्रभोः ।
पादाम्बु(म्बु)जमहापूजाकर्म्म कुर्वन्ति संयताः ॥ [१५॥]
अश्रभ्राजगिरि(री)न्द्रमौलिविलसन्माणिक्यमुद्रांकनं
वृन्दा(न्दा)म्भोदतडित्कडारशिखरश्रेणीसमुद्भासितं [।]
........................नरजनीचंद्रायमाणं मुहु-
स्तैरेतल्लकुलीशवेश्म हिमवच्छृङ्गोपमं कारितम् ॥[१६॥]
श्रीयुत देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने यह प्रशस्ति छपवाई है ।
(बंब० एशि० सोसा० जर्नल, जि० २२, पृ० १६६-१७)
और उसका सारांश भी दिया है परंतु उसके १४वें श्लोक के "हिमशिलाबन्धोज्वलादागिरेरासेतो रघुवंश कीर्त्ति पिशुनाः" इस वाक्य-खंड का अर्थ वे उलटा कर गए। वास्तविक अर्थ यही था कि 'वे (योगी) हिमालय से सेतु पर्यंत रघु के वंश की कीर्त्ति को फैलाते थे, परंतु उन्होंने उसका अर्थ यह किया कि 'उन योगियों की कीर्त्ति हिमालय से सेतु तक फैली हुई थी', (पृ० १५२) जो सर्वथा अशुद्ध है और उसमें मूल का 'रघुवंश' पद तो रह ही गया ।

कृपापात्र (शिष्य) आम्रकवि के द्वारा, जो आदित्यनाग का पुत्र था, उस प्रशस्ति की रचना होने का उल्लेख है। १६ वें श्लोक में उस प्रशस्ति का राजा विक्रमादित्य के संवत् १०२८ में बनना सूचित किया है। २०वाँ श्लोक किसी की प्रसिद्धि के विषय में है जो अपूर्ण ही बचा है। आगे अनुमान पौन पंक्ति गद्य की है जिसमें कारापक (मंदिर के बनवानेवाले) श्री सुपूजितराशि का प्रणाम करना लिखा है तथा श्रीमार्तंड, श्री भ्रातृपुर, श्री सद्योराशि, लैलुक, श्रीविनिश्चितराशि आदि के नाम हैं।

इस लेख में एकलिंगजी के मंदिर की पूजा करनेवाले जटाधारी लकुलीश पाशुपत संप्रदाय के साधुओं (नाथों) को रघुवंश की कीर्त्ति को हिमगिरि से सेतु तक फैलानेवाला कहा है। अतएव यह निश्चय करने की आवश्यकता है कि यहाँ 'रघुवंश' का अभिप्राय किस और कहाँ के राजवंश से है।

एकलिंग महादेव मेवाड़ के राजाओं के इष्टदेव हैं इतना ही नहीं, किंतु वे मेवाड़ के राज्य के स्वामी और मेवाड़ के राजा उनके दीवान (प्रतिनिधि) माने जाते हैं। इसीसे राजपूताने में मेवाड़ (उदयपुर) के महाराणा 'दीवान' या 'दीवानजी' नाम से भी प्रसिद्ध हैं। एकलिंग जी के पुजारी, वहाँ के मठ के अधिपति (महंत) और मेवाड़ के राजाओं के परंपरागत गुरु, बापा रावल से लगा कर महाराणा भीमसिंह के समय के आसपास तक,[३८] लकुलीश संप्रदाय के ये कनफटे साधु (नाथ) ही थे। इनको राज्य की तरफ से हजारों रुपयों की जागीर मिली हुई थी। अतएव जिस रघुवंश की कीर्ति को ये साधु (नाथ) हिमालय से सेतु तक फैलाते थे वह रघु का वंश मेवाड़ का राजवंश ही हो सकता है, दूसरा कोई

३८. एकलिंगजी के मठाधिपति लकुलीश संप्रदाय के नाथों का आचरण पीछे बिगड़ गया और वे स्त्रियाँ रखने और मद्य-मांस का सेवन करने लगे। महाराणा भीमसिंह के समय के आस पास उनको वहाँ से अलग किया गया और उनके स्थान पर संन्यासी नियत किए गए। तब से एकलिंगजी के पुजारी और वहाँ के मठाधिपति संन्यासी होते चले आते हैं। उनको 'गोसाँई' कहते हैं।

नहीं। बापा रावल के सिक्के और नरवाहन के समय की उक्त प्रशस्ति से तो यही पाया जाता है कि बापा से नरवाहन तक अर्थात् वि० सं० ७९१ से १०२८ तक मेवाड़ के राजा सूर्यवंशी माने जाते थे। इसके पीछे प्राचीन इतिहास के अंधकार की दशा में, कई दूसरे राजवंशों की नाई[३१] उनके वंश की उत्पत्ति के विषय में भी एक दूसरी कल्पना भी खड़ी हो गई।

---

३१. हिंदुस्तान के भिन्न भिन्न राजवंशों का प्राचीन लिखित इतिहास न होने के कारण पिछले इतिहास या प्रशस्ति लेखकों ने उनकी उत्पत्ति के विषय में कई एक दूसरे से भिन्न कल्पनाएँ की हैं परंतु जब उनके प्राचीन शिलालेख या ताम्रपत्र आदि मिल जाते हैं तभी विदित होता है कि अमुक समय अमुक राजवंश की उत्पत्ति अमुक रीति से मानी जाती थी।

दक्षिण के सोलंकियों के शक सं० ९४० (ई० स० १०१८) से लगाकर शक सं० १२४० (ई० स० १३१८) तक के अनेक ताम्रपत्रों एवं शिलालेखों में उनको चंद्रवंशी और पाण्डवों की संतान लिखा है परंतु ई० स० १०८५ के आसपास कल्याण के सोलंकी राजा विक्रमादित्य (छठे) के राजपंडित प्रसिद्ध कश्मीरी कवि बिल्हण ने 'विक्रमाङ्कदेवचरित' नामक सोलंकियों के इतिहास का काव्य लिखा। उसमें उनकी उत्पत्ति के विषय में लिखा है कि "एक समय जब कि ब्रह्मा संध्या वंदन कर रहे थे इंद्र ने आकर पृथ्वी पर धर्मद्रोह के बढ़ने और देवताओं को यज्ञ-विभाग न मिलने की शिकायत कर उसके निवारण के लिये एक वीर पुरुष उत्पन्न करने की प्रार्थना की। इस पर ब्रह्मा ने संध्याजल से भरे हुए चुलुक (अंजली, चुल्लू) की ओर ध्यानमय दृष्टि दी। उस चुलुक से त्रैलोक्य की रक्षा करनेवाला एक वीर पुरुष (चौलुक्य = सोलंकी) उत्पन्न हुआ"। यदि बिल्हण को दक्षिण के सोलंकियों के अपने समय से पहले के या अपने समय के ही शिलालेख या ताम्रपत्र मिल जाते और उनमें उनका चंद्रवंशी (पांडवों की संतान) होना लिखा मिल जाता तो संभव है कि वह वैसा ही लिखता और ब्रह्मा के चुलुक से चौलुक्य (सोलंकी) की उत्पत्ति मानने की क्लिष्टकल्पना न करता। गुजरात के सोलंकियों की प्रशस्तियाँ आदि लिखनेवालों को दक्षिण के सोलंकियों के पुराने शिलालेख और दानपत्र देखने का सौभाग्य प्राप्त न हुआ हो जिससे अनहिलवाड़े के सोलंकी राजा कुमारपाल के समय के चित्तौड़ के किले के लेख और बड़नगर की वि० सं० १२०८ (ई० स० ११५१) की प्रशस्ति एवं त्रिलोचनपाल के श० सं० ९७२ (ई० स० १०५१) के दानपत्र के तय्यार करनेवाले पंडितों ने वही ब्रह्मा के चुलुक से चौलुक्य का उत्पन्न

मूंहणोत नैणसी अपनी ख्यात के प्रारंभ में ही मेवाड़ के राजाओं के विषय में लिखता है कि "सीसोदिये प्रारंभ में गहिलोत (गुहिलोत) कहलाते थे। पहले इनका राज्य दक्षिण में नासिक त्र्यंबक की तरफ था। इनके पूर्वज सूर्य की उपासना करते थे। मंत्रध्यान करने पर सूर्य आ प्रत्यक्ष होता था जिससे कोई जोधा उसको जीत न सकता था।

होना बतलाया परंतु प्रसिद्ध जैन विद्वान् हेमचंद्र (हेमाचार्य) ने, जो कुमारपाल के समय तक जीवित थे, दक्षिण के सोलंकियों के ताम्रपत्रादि के अनुसार सोलंकियों का चंद्रवंशी और पांडवों की संतान होना लिखा है। इसी तरह वि० सं० १४९७ (ई० स० १४४०) के आसपास जिनहर्ष-गणि ने 'वस्तुपालचरित' रचा जिसमें सोलंकियों को चंद्रवंशी माना है। इन दोनों जैन विद्वानों के उक्त कथन से अनुमान होता है कि गुजरात के ब्राह्मण विद्वानों की अपेक्षा जैन विद्वानों में इतिहास का ज्ञान अच्छा था। चेदी के हैहय (कलचुरी) वंशी राजा युवराजदेव (दूसरे) के समय की बिलहारी (जबलपुर ज़िले में) की प्रशस्ति बनानेवाले कवि ने प्रसंगवशात् सोलंकियों की उत्पत्ति बतलाते हुए लिखा है कि "भरद्वाज के वीर्य से भगवान् भारद्वाज (द्रोण) उत्पन्न हुआ। उसने अपना अपमान करनेवाले राजा द्रुपद को शाप देने के लिये अपने चुलुक में जल लिया तो उसमें से साक्षात् विजय की मूर्ति-रूप एक पुरुष उत्पन्न हुआ जिससे चौलुक्य (सोलंकी) वंश चला।" पृथ्वीराज-रासे के कर्ता ने आबू पर्वत पर वसिष्ठ के अग्निकुंड से चालुक (सोलंकी) का उत्पन्न होना बतलाया और आज कल के सोलंकी चंद्रवंशी होने की पुरानी बात को न जानने से अपने को अग्निवंशी ही कहते हैं (सोलंकियों की उत्पत्ति के विषय की ऊपर लिखी हुई सब बातों के मूल प्रमाणों के लिये देखो, मेरा बनाया हुआ 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास', प्रथम भाग, पृ० ३—१३ और नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, नवीन संस्करण, भाग १, संख्या २, पृ०२०७–२१८।

इसी तरह राठोड़ वंश की उत्पत्ति के संबंध में भी भिन्न भिन्न कल्पनाएँ मिलती हैं। दक्षिण के राठोड़ राजा अमोघवर्ष (प्रथम) के समय के शक सं० ७८२ (ई० स० ८६०) के कौनूर के शिलालेख में (एपि० इंडि०, जि० ६, पृ० २९), गोविंदराज (चौथे, सुवर्णवर्ष) के शक सं० ८५२ (ई० स० ९३०) के खंभात से मिले हुए दानपत्र में (एपि० इंडि०, जि० ७, पृ० ३७), उसी राजा के शक सं० ८५५ (ई० स० ९३३) के सांगली से मिले हुए दान-पत्र में (इंडि० ऐंटि० जि० १२, पृ० २४९)। कृष्णराज (तीसरे, अकालवर्ष) के शक सं० ८८० (ई० स० ९५८) के करहाड़ के दानपत्र में (एपि० इंडि०,

उसके पुत्र न हुआ। उसने पुत्र के लिये सूर्य से विनती की तब सूर्य ने कहा कि अंबा देवी की जात बोलो और पुत्र की इच्छा करो जिससे गर्भ रहेगा। राजा ने जात बोली, राणी के गर्भ रहा। जब राणी जात देने को चली, राजा की सूर्य की उपासना मिट गई, शत्रुओं ने उस पर हमला कर दिया। राजा लड़ाई में काम आया और उसका गढ़

जि० ४, पृ० २८२) और कर्कराज (दूसरे,—अमोघवर्ष) के शक सं० ८६४ (ई० स० ९७२) के खर्डा के दानपत्र में राठौड़ों का यदुवंशी (यादव) होना लिखा है। राठौड़ राजा इंद्रराज (तीसरे, नित्यवर्ष) के शक सं० ८३६ (ई० स० ९१४) के बगुमरा से मिले हुए दो दानपत्रों में (बंब० एशि० सोसा० जर्नल, जि० १८, पृ० २५७; २६१) और कृष्णराज (तीसरे, अकालवर्ष) के शक सं० ८६२ (ई० स० ९४०) के देवली में मिले हुए दानपत्र में (एपि० इंडि०, जि० ५, पृ० १९२,१९३) राठौड़ों का चंद्रवंश की यदु शाखा के सात्यकि के वंश में होना लिखा है। हलायुध पंडित ने अपनी रची हुई 'कविरहस्य' नामक पुस्तक में उसके नायक राठौड़ राजा कृष्णराज को सोमवंश (चंद्रवंश)का भूषण कहा है (बम्बई गैज़ेटिअर, जि० १, भाग २, पृ० २०८—९)। दक्षिण के कलचुरि (हैहय)वंशी राजा विज्जल के वर्तमान शक सं० १०८४ (ई० स० ११६१) के मनगोलि के शिलालेख में राठौड़ों को दैत्यवंशी लिखा है (एपि० इंडि०, जि० ५, पृ० २०)। राठौड़ों के भाट उनके मूल पुरुष को राक्षस (? असुर) हिरण्यकशिपु की संतान कहते हैं (राजस्थान रत्नाकर, तरंग १, पृ० ८८)। कर्नल टॉड ने इंद्र की राउ (रीढ़ की हड्डी) से उनके मूलपुरुष का उत्पन्न होना लिखा है (टॉड राजस्थान, कलकत्ते का छपा, जि० २, पृ० २) और वर्तमान समय के राठौड़ अपने को सूर्यवंशी रामचंद्र के पुत्र कुश की संतान मानते हैं।

इसी तरह वर्तमान चौहान अपने को पृथ्वीराजरासे के अनुसार अग्निवंशी मानते हैं, परंतु अजमेर के अढ़ाई दिन के झोपड़े से, जो वास्तव में चौहान राजा आना (अर्णोराज) के द्वितीय पुत्र राजा वीसलदेव (विग्रहराज) का सरस्वती-मंदिर था, मिली हुई एक बड़ी शिला से, जिसपर किसी अज्ञात कवि के बनाए हुए चौहानों के इतिहास के किसी काव्य का प्रारंभ का भाग खुदा है, पाया जाता है कि उस समय चौहान सूर्यवंशी माने जाते थे (कोकी रतप्रकियासाक्षी दक्षिणमीक्षणं मुररिपोर्देवो रविः पातु वः ॥ ३३ ॥ तस्मात्समालंबनवृण्डयोनिरभूज्जनस्य स्खलतः स्वमार्गे। वंशः स दैवोढरसो नृपाणामनुद्गतैर्गोणुणकीटरंध्रः ॥ ३४ ॥ समुत्थितोर्का-

बाँसला शत्रुओं ने ले लिया। राणी अंबा जी की जात देकर नागदा गाँव में आ ठहरी। वहाँ उसको अपने पति के मारे जाने के समाचार मिले। वह चिता बनवाकर सती होने को तय्यार हुई तो उसे रोकने के लिये ब्राह्मण ने कहा कि सगर्भा स्त्री के सती होने का निषेध है। आपके दिन भी पूरे होने आए हैं। इससे वह रुक गई। पंद्रह बीस दिन बाद उसके पुत्र हुआ। फिर १५ दिन हो जाने पर उसने स्नान किया और चिता तय्यार करवाई। राणी जलने को चली। लड़का उसकी गोद में था। वहाँ कोटेश्वर महादेव के मंदिर में ब्राह्मण विजयादित्य पुत्र के लिये आराधना किया करता था। उसको बुला कर राणी ने वस्त्र में लिपटा हुआ वह लड़का दे दिया। विजयादित्य ने उसे माल (दौलत) समझ कर ले लिया। इतने में लड़का रोया तब ब्राह्मण ने कहा कि मैं इस राजपूत के लड़के को लेकर क्या करूँ, बड़ा होने पर यह शिकार में जानवर मारेगा और दुनिया से लड़ाई झगड़े करेगा,

---

दनरण्ययोनिरुत्पन्नपुन्नागश्चंद्रशाखः । आश्चर्य्यमंतःप्रसरत्कुशोयं वंशोर्थिनां श्रीफलतां प्रयाति ॥ ३५ ॥ आधिव्याधिकुवृत्तदुर्गतिपरित्यक्तप्रजास्तत्र ते सद्द्वीपभुजो नृपाः समभवन्निक्ष्वाकुरामादयः ।...॥ ३६ ॥ तस्मिन्नथारिविजयेन विराजमानो राजानुरंजितजनोजनि चाहमानः । ...॥३७॥) इसी तरह अजमेर के अंतिम सम्राट् प्रसिद्ध पृथ्वीराज के समय में कश्मीरी कवि जयानक (जयरथ) द्वारा रचित पृथ्वीराजविजय महाकाव्य में जगह जगह पर चौहानों को सूर्य, रघु, इक्ष्वाकु आदि का वंशज कहा है (काकुत्स्थमिक्ष्वाकुरघू च यद्दधत् पुराभवत्त्रिप्रवरं रघोः कुलम् । कलावपि प्राप्य सचाहमानतां प्ररूढतुर्यप्रवरं बभूव तत् ॥२॥७१॥...... भानोः प्रतापोन्नतिंतन्वन्गोत्रगुरोर्निजेन नृपतेर्जज्ञे सुतो जन्मना ॥७।५०॥) आबू पर अचलेश्वर के मंदिर में लगे हुए सिरोही के राजाओं के पूर्वज लुंढदेव (राव लुंभा) के समय के विक्रम संवत् १३७७ के शिलालेख में चौहानों को चंद्रवंशी कहा है (निजायुधैर्दैत्यवरान्निहत्य संतोषयत्क्रोधयुतं तु वच्छं [वत्सम्] वच्छयास्तदाराधनतत्पराश्च चंद्रस्य···चंद्रवंश्याः ॥ ८) । कर्नल टॉड ने चौहानों को अग्निवंशी मान कर भी उनके गोत्रोच्चार में उन्हें सोमवंशी कहा है (टाड राजस्थान, जिल्द २, पृ० ४८६)।

यहाँ केवल तीन राजवंशों के उदाहरण ही दिए गए हैं। अन्य राजवंशों की भी उत्पत्ति यों ही भिन्न भिन्न प्रकार से लिखी मिलती है। विस्तारभय से उसका उल्लेख नहीं किया गया।

मैं पाप में पड़ूँगा और मेरा धर्म जाता रहेगा, इसलिये यह दान मुझसे लिया नहीं जाता। इस पर राणी ने उससे कहा कि तुमने कहा सो ठीक है, परंतु यदि मैं सती होकर जलती हूँ तो मेरा यह वचन है कि इस लड़के के वंश में जो राजा होंगे वे १० पुश्त तक तेरे कुल के आचार का पालन करेंगे और तुझको बड़ा आनंद देंगे। तब विजयादित्य ने उस लड़के को रख लिया। फिर राणी ने उसको धन, भूषण आदि दिया और वह सती हो गई। विजयादित्य के उस लड़के के वंशजों ने १० पीढ़ी तक ब्राह्मण धर्म का पालन किया और वे नागदा[४०] (नागर) ब्राह्मण कहलाए। विजयादित्य का वह सूर्यवंशी पुत्र गुहिलोत (गुहिल) सोमदत्त (सोमादित्य) कहलाया। उसके पीछे सीलादत्त (शीलादित्य) आदि हुए[४१]।" यही कथा मेवाड़ की पुरानी ख्यातों में भी मिलती है और कर्नल टॉड ने भी बहुत कुछ इसीको उद्धृत किया है[४२] परंतु उसमें गुहादित्य (गुहिल) के पिता को वलभीनगर (काठियावाड़) का अंतिम राजा शीलादित्य माना है, जिसके समय में वलभी का राज्य नष्ट हुआ था और उसकी माता का नाम पुष्पावती दिया है। शीलादित्य का नाम न तो मूंहणोत नैणसी की ख्यात में और न मेवाड़ की ख्यातों में मिलता है। गुहिल का वलभी के अंतिम राजा शीलादित्य के वंश में होना भी संभव नहीं, क्योंकि उसका गुप्त सं० ४४७ (वि० सं० ८२३ = ई० स० ७६६-६७) का अलीना का ताम्रपत्र मिल चुका है[४३] और मेवाड़ के राजवंश का शीलादित्य (शील), जो गुहिल से पाँचवाँ पुश्त में हुआ, वि० सं० ७०३ में मेवाड़ का राजा था, यह सामोली गाँव (मेवाड़ के भोमट ज़िले) से

---

४०. नागदा ब्राह्मण नागर हैं। जैसे प्रश्णोरे नागर ब्राह्मण जो मंदसोर में जा बसे मंदसोर (दशपुर) के नाम से दसोरे (दशपुरे) कहलाए वैसे ही बड़नगर (आनंदपुर) के रहनेवाले नागर जो नागदा में आ बसे उक्त नगर के नाम से नागदे कहलाए।

४१. मुँहणोत नैणसी की मारवाड़ी भाषा की ख्यात, पृ० १।

४२ टॉड राजस्थान, पृ० २३७-३८।

४३. फ्लीट, गुप्त इंस्क्रिपशंस, पृ० १७३-८०।

मिले हुए उक्त राजा के शिलालेख से निश्चित है। नैणसी के लेख और मेवाड़ की ख्यातों से यही पाया जाता है कि ब्राह्मण विजयादित्य का पालित पुत्र (गुहिल, गुहदत्त), जो मेवाड़ के राजवंश का मूल-पुरुष हुआ, सूर्यवंशी क्षत्रिय था जैसा कि बापा रावल के सिक्के और नरवाहन के समय की वि० सं० १०२८ की प्रशस्ति से पाया जाता है। मूंहणोत नैणसी की लिखी कथा कितनी पुरानी है यह निश्चित नहीं परंतु यह कहा जा सकता है कि वह वि० सं० १७०५ से पूर्व लोगों में परंपरा से प्रसिद्ध चली आती थी क्योंकि नैणसी अपनी ख्यात में, कई जगह, वृत्तांत भेजने या लिखवानेवाले का नाम और उसके लिखने का संवत् भी देता है जिससे पाया जाता है कि उसकी ख्यात वि० सं० १७०६ और १७२५ के बीच में लिखी गई। नैणसी के कथन की छाया राजा शक्तिकुमार के समय के वि० सं० १०३४ के शिलालेख में पाई जाती है क्योंकि उसमें लिखा है कि "आनंदपुर (बड़नगर) से निकले हुए ब्राह्मणों (नागरों) के कुल को आनंद देनेवाला महीदेव गुहदत्त जिससे गुहिलवंश चला[४४] विजयी है।" 'महीदेव' के अर्थ के विषय में विद्वानों में विवाद है। कोई उसका अर्थ 'ब्राह्मण' और कोई 'राजा' करते हैं, परंतु नैणसी की कथा के अनुसार विजयादित्य के पालित पुत्र (गुहिल) और उसके वंशजों को चाहे ब्राह्मण कहो, चाहे क्षत्रिय कहो, बात एक ही है।

ई० सं० की १५वीं शताब्दी के अंत के आस पास तक के शिलालेखों आदि के देखने से यही पाया जाता है कि एक ही समय का एक लेखक तो गुहिल के वंशजों को ब्राह्मण लिखता है तो उसी समय का दूसरा लेखक उनको क्षत्रिय बतलाता है।

रावल समरसिंह के समय के वि० सं० १३३१ के चित्तौड़ के और १३४२ के आबू के शिलालेखों के रचयिता नागर ब्राह्मण वेदशर्मा

---

४४. आनंदपुरविनिर्गतविप्रकुलानंदनो महीदेवः ।
जयति श्रीगुहदत्तः प्रभवः श्रीगुहिलवंशस्य ॥
(इंडि॰ ऍटि॰, जि॰ ३९, पृ॰ १९१.)

कवि ने पहले लेख में बापा को विप्र[४५] (ब्राह्मण) कहा है और दूसरे में कहा है कि "ब्रह्मा के सदृश हारीत से बप्पक (बापा) ने पैर के कड़े के मिस से क्षात्र तेज प्राप्त किया और अपनी सेवा के छल से ब्रह्म-तेज मुनि को दे दिया"[४६] अर्थात् बापा ने क्षात्र धर्म धारण किया।[४७]

---

४५. जीयादानंदपूर्वं तदिह पुरमिलाखंडसौंदर्यशोभि-
क्षोणीप्र(पृ)ष्ठस्थमेव त्रिदशपुरमधः कुर्व्वदुच्चैः समृद्ध्या।
यस्मादागत्य विप्रश्चतुरुदधिमहीवेदिनिक्षिप्तयूपो
बप्पाख्यो वीतरागश्चरणयुगमुपासीत(सीष्ट) हारीतराशेः॥
चित्तौड़ का लेख, श्लोक ६ (भावनगर इंस्क्रिपशंस, पृ० ७५)

इस लेख में बापा का आनंदपुर (बड़नगर--गुजरात में) से आकर हारीत राशि की चरण सेवा करना लिखा है जो विश्वास योग्य नहीं क्योंकि शीलादित्य, अपराजित, महेंद्र और बापा (कालभोज) की राजधानी नागदा नगर ही थी। ऐसी दशा में बड़नगर से आना और हारीत राशि की सेवा कर राज्य पाना कैसे संभव हो सकता है। ऐसे ही उक्त लेख में बापा को गुहिल का पिता बतलाया है वह भी स्वीकार करने योग्य नहीं है क्योंकि उक्त चित्तौड़ के लेख से ३०३ वर्ष पूर्व की नरवाहन के समय की प्रशस्ति में बापा का गुहिलवंशी राजाओं में चंद्रमा के समान होना लिखा है जो अधिक विश्वास योग्य है। अनुमान होता है कि पुराने इतिहास से परिचित न होने के कारण प्रशस्ति के कर्ता ने गुहिल से भी पहले आकर नागदे में बसनेवाले विजयादित्य आदि नागरों की कथा का संबंध मिलाने के लिये नागरों के मूलस्थान आनंदपुर (बड़नगर) से बापा के आने की कल्पना कर डाली हो।

४६. हारीतात्किल बप्पकोऽह्रिवलयव्याजेन लेभे महः
क्षात्रं धातृनिभाद्वितीर्य्य मुनये ब्राह्मं स्वसेवाच्छलात्।
एतेऽद्यापि महीभुजः क्षितितले तद्वंशसंभूतयः
शोभंते सुतरामुपात्तवपुषः क्षात्रा हि धर्म्मा इव॥ ११॥
आबू का शिलालेख. (इंडि० एँटि०, जि० १६, पृ० ३४७)

इस लेख में बापा का हारीत की सेवा कर राज्यश्री पाना भी लिखा है (हारीतः शिवसंगमंगविगमात्प्रासः स्वसेवाकृते बप्पाय प्रथिताय सिद्धिनिलयो राज्यश्रियं दत्तवान्॥ १०॥) जो सर्वथा असंभव है। मेवाड़ का राज्य तो गुहिलवंशियों के अधिकार में गुहिल से, जो बापा का आठवाँ पूर्वपुरुष था, चला आता था, जैसा कि हमने आगे बतलाया है।

४७. नैणसी की ख्यात में गुहिलवंशियों का उसकी माता सती के वचना-

परंतु उसी रावल समरसिंह के समय का वि० सं० १३३५ का एक जैन शिलालेख चित्तौड़ के किले से मिला है जिसमें उक्त रावल के पिता तेजसिंह की राणी जयतल्लदेवी के द्वारा श्याम पार्श्वनाथ का मंदिर बनाए जाने का उल्लेख है। उसमें ऊपर के दोनों लेखों के विरुद्ध गुहिलवंशी राजा सिंह को क्षत्रिय लिखा है[४८]। रावल समरसिंह के पीछे महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) के वि० सं० १५१७ की कुंभलगढ़ की बड़ी प्रशस्ति में, जहाँ राजवंश-वर्णन के पहले पुरानी प्रसिद्धियों के अनुसार मेवाड़ के कुछ राजाओं का हाल दिया है वहाँ उपर्युक्त चित्तौड़ के वि० सं० १३३१ के लेख का वही श्लोक उद्धृत कर[४९] बापा को विप्र (ब्राह्मण) कहा है और उसी महाराणा के समय के बने हुए 'एकलिंग-माहात्म्य' में 'उक्तं च पुरातनैः कविभिः', कहकर वि० सं० १०३४ के आटपुर (आहाड़) के लेख का वही श्लोक उद्धृत किया है जिसमें गुहदत्त को आनंदपुर (बड़नगर) से निकले हुए ब्राह्मणों (नागरों) के वंश को आनंद देनेवाला लिखा है[५०]। परंतु उसी महाराणा कुंभकर्ण के पिता महाराणा मोकल ने अपनी महाराणी वाघेली (बघेली) गौरांबिका के पुण्य के निमित्त एकलिंगजी से ६ मील दूर शृंगी ऋषि के स्थान पर वि० सं० १४८५ में एक वापी बनवाई जिसकी प्रशस्ति के रचयिता योगीश्वर कविराज वाणीविलास ने, कुंभलगढ़ की प्रशस्ति और एकलिंग-माहात्म्य के विरुद्ध, उक्त महाराणा मोकल के दादा क्षेत्र (क्षेत्रसिंह, खेता) को 'क्षत्रियवंशमंडलमणि' लिखा है[५१]। महाराणा कुंभकर्ण के द्वितीय

नुसार १० पुश्त तक ब्राह्मणों के आचार विचार का पालना लिखा है। बापा गुहिल का ८ वाँ वंशधर था ऐसा हमारे शोध से पाया जाता है। यहाँ दो पुश्त का अंतर पड़ता है जिसका कारण या तो जो वंशावली शिलालेखों में मिलती है उसमें एक नाम का छूट जाना या नैणसी की ख्यात की संख्या में भूल का हो जाना हो।

४८. क्षत्रियगुहिलपुत्रसिंह० (इंडि० एंटि०, जि० ३६, पृ० १८६)

४९. जीयादानंदपूर्वं० (देखो ऊपर, टिप्पण ४५).

५०. आनंदपुरविनिर्गतविप्रकुला० (देखो ऊपर टिप्पण ४४)

५१. एवं सर्वमकंटकं समगमद्भूमंडलं भूपतिः
हंमीरो ललनास्मरः सुरपदं संपाल्य काश्चित्समाः।

पुत्र रायमल्ल के राज्य के समय एकलिंगजी के मंदिर के दक्षिणद्वार की वि० सं० १५४५ की प्रशस्ति में बापा को 'द्विज'[२२] और उसी महाराणा के समय के बने हुए 'एकलिंग माहात्म्य' (एकलिंग पुराण) में 'ब्राह्मण' लिखा है परंतु उसके विरुद्ध उसी महाराणा के राजत्वकाल के वि० सं० १५५७ (न कि १५९७ जैसा कि छपा है) के नारलाई गाँव (जोधपुर राज्य के गोड़वाड़ ज़िले में) के जैनमंदिर के शिलालेख में गुहिदत्त (गुहदत्त), बप्पाक (बापा), खुम्माण आदि राजाओं को सूर्यवंशीय लिखा है।[२३]

इस प्रकार एक ही समय के ब्राह्मण-लेखक तो गुहिलवंशियों का ब्राह्मण होना, और जैन तथा साधु-लेखक सूर्यवंशी और क्षत्रिय होना बतलाते हैं। इस भिन्नता का कारण मुँहणोत नेणसी की पुस्तक से ऊपर उद्धृत की हुई कथा से स्पष्ट हो जाता है।

बापा रावल का समय।

इस सिक्के के समय के लिये बापा रावल का समय निश्चय करना आवश्यक है। पुराने राजाओं का समय निर्णय करने में उनके

सम्यग्वर्महरं ततः स्वतनयं सुस्थाप्य राज्ये निजे
क्षेत्रे क्षत्रियवंशमंडनमणिं प्रत्यर्थिकाननानलं ॥ ९ ॥

शृंगी ऋषि के स्थान की प्रशस्ति (अप्रकाशित).

२२. श्रीमेदपाटभुवि नागहृदे पुरेभू-
द्बाप्पो द्विजः शिवपदार्चितचित्तवृत्तिः।

(भावनगर इंस्क्रिपृशंस, पृ० ११८).

ऐसे ही महाराणा कुंभकर्ण रचित 'रसिकप्रिया' नामक 'गीतगोविन्द' की टीका में बापा को 'द्विज' बतलाया है (श्रीवैजवापेन सगोत्रवर्यः श्रीबप्पनामा द्विजपुङ्गवोभूत्। हरप्रसादात्कृपसादराज्यप्राज्योपभोगाय नृपोऽभवद्यः ॥२॥

२३. श्री मेदपाटदेशे। श्रीसूर्यवंशीयमहाराजाधिराजश्रीसि(शी)लादित्यवंशे श्रीगुहिदत्तराउलश्रीबप्पाकश्रीखुमाणादिमहाराजान्वये।राणाहमीरश्रीषे(खे)तसिंह श्रीलक्षमसिंहपुत्रश्रीमोकलमृगांकवंशोद्योतकारक...... अतुलमहाबलराणाश्री-कुम्भकर्णपुत्रश्रीरायमल्लविजयमानप्राज्यराज्ये......

(भावनगर इंस्क्रिपृशंस, पृ० १४१)

शिलालेख और दानपत्र बड़ी सहायता देते हैं क्योंकि उनमें बहुधा उनका निश्चित संवत् दिया हुआ होता है परंतु बापा के राजत्वकाल का कोई शिलालेख या दानपत्र अब तक उपलब्ध नहीं हुआ। अतएव अन्य साधनों से उसका निर्णय करना पड़ता है। उपर्युक्त वि० सं० १०२८ की राजा नरवाहन के समय की प्रशस्ति के राजवर्णन के प्रारंभ में बप्पक (=बापा) का वर्णन होने से इतना तो निश्चित है कि बापा उक्त संवत् से पहले किसी समय हुआ। मेवाड़ का राजा महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) बड़ा ही वीर तथा विद्वान् भी था। उसके समय से पहले ही मेवाड़ के प्राचीन राजाओं की शुद्ध और शृंखलाबद्ध वंशावली अलभ्य हो गई थी और जनश्रुति या किस्से कहानियों में उनके जो नाम मिलते थे वे ही उपलब्ध थे। इसलिये उसको ठीक करने का यत्न वि० सं० १५१७ में जब कुंभलमेर (कुंभलगढ़) में मामादेव के मंदिर की विस्तृत प्रशस्ति बनाई गई, किया गया था। क्योंकि उस प्रशस्ति में जनश्रुति के आधार पर पहले कुछ प्रसिद्ध राजाओं का हाल लिखने के बाद 'अनेक प्राचीन प्रशस्तियों के आधार पर राजवंश का वर्णन करना' लिखा है[५४]। परंतु जितनी प्रशस्तियाँ उक्त वंश की इस समय मालूम हुई हैं उतनी उस समय देखी और पढ़ी गई हों ऐसा पाया नहीं जाता। क्योंकि उसके 'राजवर्णन' में जो वंशावली दी है उसमें पुराने राजाओं की नामावली अपूर्ण ही है। उसके पीछे उसी राजा[५५] ने कन्ह व्यास[५६] की सहायता

---

५४. अथ राजवर्णनं ॥

अतः श्रीराजवंशोत्र प्रव्यक्तः [प्रोच्यते] धुना।

चिरंतनप्रशस्तीनामनेकानामतः क्षणात् [? मवेक्षणात्] ॥ १३८ ॥

(कुंभलगढ़ की प्रशस्ति)

५५. इति महाराजाधिराजरायरायांराणेरायमहाराणाश्रीकुंभकर्णमहेंद्रेण विरचिते मुखवाद्यक्षीरसागरे राजवर्णनो नाम [अध्यायः]।

महाराणा कुंभकर्ण के समय का 'एकलिङ्गमाहात्म्य'।

५६. श्रीकुंभदत्तसत्र्यार्था गोविंदकृतसत्पथा। पंचाशिकार्थं (? केयं) दासेन कह्लव्यासेन कीर्त्तिता ॥ (वही)

से "एकलिंग-माहात्म्य" बनाया जिसमें कितने एक राजाओं के वर्णन में तो पहले की प्रशस्तियों के कुछ श्लोक ज्यों के त्यों धरे हैं और बाकी के नए बनाए हैं। कहीं कहीं तो "यदुक्तं पुरातनैः कविभिः" (जैसा कि पुराने कवियों ने कहा है) लिखकर उन श्लोकों की प्रामाणिकता दिखाई है। महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) को किसी प्राचीन प्रशस्ति या पुस्तक से बापा रावल का समय ज्ञात हो गया था जो उक्त 'माहात्म्य' में नीचे लिखे अनुसार दिया है—

यदुक्तं पुरातनैः कविभिः ॥

आकाशचंद्रदिग्गजसंख्ये संवत्सरे बभूवाद्यः ।

श्रीएकलिंगशंकरलब्धवरो बाप्पभूपालः ॥

अर्थ—जैसा कि पुराने कवियों ने कहा है—

संवत् ८१० में श्रीएकलिंग शंकर से प्राप्तवर राजा बाप्प (बापा) पहला [प्रसिद्ध राजा] हुआ।

इस श्लोक से इतना ही पाया जाता है कि बापा सं० ८१० में हुआ। यह निश्चय नहीं होता कि उक्त संवत् में उसकी गद्दीनशीनी हुई या उसने राज्य छोड़ा या उसकी मृत्यु हुई। इतना ही निश्चित है कि उक्त पुस्तक की रचना के समय बापा का सं० ८१० में होना माना जाता था और यह संवत् पहले के किसी शिलालेख, ताम्रपत्र या पुस्तक से लिया गया था क्योंकि उसके साथ यह स्पष्ट लिखा है कि 'पुराने कवि ऐसा कहते हैं'।

महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) के दूसरे पुत्र रायमल के राज्य समय में 'एकलिंग माहात्म्य' नाम की दूसरी पुस्तक बनी जिसको 'एकलिंग पुराण' भी कहते हैं। उसमें बापा के समय के विषय में यह लिखा है कि—

राज्यं दत्त्वा स्वपुत्राय आश्रमवर्णमुपागतः ।

खचंद्रदिग्गजाख्ये च वर्षे नागह्रदे मुने ॥ २१ ॥

चैत्रे च भुवि विख्याते स्वगुरोर्गुरुदर्शनम् ।

चकार स समित्पाणिश्चतुर्थाश्रममाचरन् ॥ २२ ॥

(एकलिंग-माहात्म्य, अध्याय २०)

अर्थ—हे मुनि, संवत् ८१० में, अपने पुत्र को राज्य देकर संन्यास ग्रहण कर हाथ में समिध्[17] लिए वह (बापा) अपने गुरु के पृथ्वी में प्रसिद्ध नागह्रद क्षेत्र (नागद) अथर्व--विद्याविशारद[18] [गुरु] के पास पहुँचा और उसने गुरु का दर्शन किया।

इस कथन से पाया जाता है कि वि० सं० ८१०[19] में बापा ने अपने पुत्र को राज्य देकर संन्यास धारण किया। बापा के राज्य छोड़ने का यह संवत् स्वीकार करने के योग्य है क्योंकि प्रथम तो महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) के एकलिंग-माहात्म्य से पाया जाता है कि यह संवत् कपोल-कल्पित नहीं किंतु प्राचीन आधार पर लिखा गया है। दूसरी बात यह है कि बापा ने मोरियों (मौर्यवंशियों) से चित्तौड़ का किला लिया यह प्रसिद्धि चली आती है[60]। चित्तौड़ के

---

१७. तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। (मुंडकोपनिषद् १।२।१२) जिज्ञासु ज्ञान के लिये गुरु के होम की अग्नि के लिये समिध (लकड़ी) हाथ में लेकर उसके पास जाया करते थे।

१८. राजाओं के गुरु और पुरोहितों के लिये अथर्व विद्या (मंत्र, अभिचार आदि) में निपुण होना आवश्यक गुण माना जाता था (रघुवंश १।५९, ८।४, कौटिल्य अर्थशास्त्र, पृ० १२)

१९. बीकानेर दरबार के पुस्तकालय में फुटकर बातों के संग्रह की एक पुस्तक है जिसमें मुँहणोत नैणसी की ख्यात का एक भाग भी है। उसमें चंद्रावतों (सीसोदियों की एक शाखा) की बात भी है जहां राणा भावणसी (भुवनसिंह) के पुत्र चंद्रा से लगा कर अमरसिंह हरिसिंहोत तक की वंशावली दी है और अंत में दो छोटे छोटे संस्कृत काव्य हैं। इनमें से पहले में रावल बापा से लगा कर राणा प्रताप तक की वंशावली है जिसमें बापा का शक संवत् ६८५ (वि० सं० ८२०) में होना लिखा है—

बापाभिधः सम[भ]वत् वसुधाधिपोसौ
पंचाष्ठषट्परिमितेथ स(श)कैंद्रकाले (ले)।

डॉ० टेसीटोरी संपादित 'डिसक्रिप्टिव कॅटलॉग ऑफ़ बार्डिक ऍंड हिस्टोरिकल मनुस्क्रिप्ट्स', भाग २ (बीकानेर स्टेट)' पृ० ६३।

इसमें दिया हुआ बापा का समय ऊपर दिए हुए दोनों एकलिंग-माहात्म्यों के समय से १० वर्ष पीछे का है और उसके लिये कोई प्रमाण नहीं दिया।

६०. हर हारीत पसाय सातवीसां वर तरणी
मंगल वार अनेक चैत वद पंचम परणी।

किले के निकट 'मानसरोवर' नामक तालाब है जिसको लोग राजा मान मोरी का बनाया हुआ बतलाते हैं। उस पर वि० सं० ७७० का उक्त राजा का शिलालेख कर्नल टॉड के समय विद्यमान था जिसका अंग्रेज़ी अनुवाद 'टॉड राजस्थान' के अंत में छपा है और जिसमें उक्त राजा मान के पूर्वजों की नामावली भी दी है। उक्त लेख से निश्चित है कि चित्तौड़ का किला सं० ७७० तक तो मान[६१] मोरी के अधिकार में था जिसके पीछे किसी समय बापा ने उसे मोरियों से लिया हो। यह समय ऊपर दिए हुए बापा के राज्य छोड़ने के संवत् ८१० के निकट आ जाता है। कर्नल टाड ने वि० सं० ८८४ में बापा का चित्तौड़ लेना माना है, वह भी करीब करीब मिल जाता है। तीसरी बात यह है कि मेवाड़ में यह जनश्रुति चली आती है कि बापा ने **'संवत् एके एकाणुए'** अर्थात् सं० १९१[६२] में राज

चित्रकोट कैलास आप बस परगह कीधो
मोरी दल मारेव राज रायांगुर लीधो।

मुँहणोत नेणसी की ख्यात, पत्रा दूसरा, पृ० १.

नागहृदपुरे तिष्ठल्लेकलिंगशिवप्रभोः।
चक्रे बाप्पोऽर्चनं चास्मै वरान् रुद्रो ददौ ततः ॥ ९ ॥
चित्रकूटपतिस्त्वं स्यास्त्वद्वंश्यचरणाद् ध्रुवम्।
मा गच्छताच्चित्रकूटः संततिः स्यादखंडिता ॥ १० ॥

ततः स निर्जित्य नृपं मोरी-
जातीयभूपं मनुराजसंज्ञम्।
गृहीतवांश्चित्रितचित्रकूटं
चक्रेऽत्र राज्यं नृपचक्रवर्ती ॥ १८ ॥

राजप्रशस्ति महाकाव्य, सर्ग ३.

६१. मेवाड़ में यह प्रसिद्धि चली आती है कि बापा ने चित्तौड़ का राज्य मानमोरी से लिया था। राजप्रशस्ति में भी वैसा ही लिखा है (देखो टिप्पण ६०, श्लोक १८)। वहाँ 'मनुराज' लिखा है जो 'राजा मान' का सूचक है।

६२. यह जनश्रुति पुरानी है क्योंकि 'राजप्रशस्ति महाकाव्य' में बापा का संवत् १९१ में राज पाना लिखा है—

चित्रकूटपतिस्त्वं स्याः ॥ १० ॥ (ऊपर टिप्पण ६० में)
प्राप्येत्थाद्विवरान् बाप्प एकस्मिन् शतके गते।

पाया। मेरे संग्रह में संवत् १७३८ भाद्रपद शुक्ला ८ गुरुवार की लिखी हुई महाराणा कुंभकर्ण के समय के एकलिंग माहात्म्य की पुस्तक है। उसमें जहाँ बापा का समय ८१० दिया है वहाँ हंसपद (त्रुटक का चिह्न) देकर हाशिये पर किसी ने "ततः शशिनंदचंद्र सं० १९१ वर्षे" लिखा है जो उक्त जनश्रुति के अनुसार ही है। यदि इस जनश्रुति का प्रचार किसी वास्तविक संवत् के आधार पर हुआ हो तो उसके लिये केवल यही कल्पना की जा सकती है कि प्राचीन लिपि में ७ का अंक पिछले समय के १ के अंक का सा होता था जिससे किसी प्राचीन पुस्तक आदि में बापा का समय ७९१ लिखा हुआ रहा हो जिसको पिछले समय में १९१ पढ़ कर बापा का उक्त संवत् में राज पाना मान लिया गया हो। मेवाड़ के राजा शीलादित्य के संवत् ७०३ के शिलालेख में ७ का अंक वर्तमान १ के अंक से ठीक मिलता हुआ[६३] है जिसको प्राचीन लिपियों से परिचय न रखने वाला पुरुष एक का अंक ही पढ़ेगा। कर्नल टॉड ने सं० ७६९ में बापा का जन्म होना और १५ वर्ष की अवस्था में वि० सं० ७८४ में मोरियों से चित्तौड़ का किला लेना माना है। यदि उक्त कर्नल का दिया हुआ बापा के जन्म का संवत् ७६९ ठीक हो तो १५ वर्ष की छोटी अवस्था में चित्तौड़ का किला लेना न मान कर यदि २२ वर्ष की युवावस्था में उस घटना का होना मानें तो वि० सं० ७९१ में बापा का चित्तौड़ का राज्य लेना संभव हो सकता है। ऐसी दशा में बापा का राजत्वकाल

एकाग्रनवतिसृष्टे माघे पक्षवलक्षके ॥ ११ ॥
सप्तमीदिवसे बाप्पः स पंचदशवत्सरः।
एकलिंगेशहारीतप्रसादाद्भाग्यवानभूत् ॥ १२ ॥

राजप्रशस्ति महाकाव्य, सर्ग ३

६३. 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' लिपिपत्र ७४ के दूसरे खंड में मेवाड़ के राजा शीलादित्य के संवत् ७०३ के लेख से ७०० का अंक उद्धृत किया है जिसमें १०० का चिह्न तो 'स' अक्षर (प्राचीन) के समान है। उसकी दाहिनी ओर ७ का अंक है जो वर्तमान १ के अंक के सदृश ही है। इस प्रकार से अंक लिखने की शैली प्राचीन है।

संवत् ७९१ से ८१० तक आता है और यही समय उक्त सिक्के का है।

मेवाड़ के राजाओं की वंशावली में बापा का स्थान।

मेवाड़ के राजाओं की वंशावली में बापा का ठीक स्थान निश्चित नहीं हुआ। उक्त वंश के राजा अल्लट तक के अर्थात् वि० सं० १०१० तक के जो शिलालेख मिले हैं उनमें तो उस एक ही राजा का नाम दिया है जिसका लेख है। अल्लट के उत्तराधिकारी नरवाहन के समय की उपर्युक्त वि० सं० १०२८ की प्रशस्ति में तीन नाम दिए थे जिनमें से बीच का नष्ट हो गया है। उसके पीछे की कितनी एक प्रशस्तियों में प्रारंभ से वंशावली देने का यत्न किया है। उनमें प्रारंभ से शक्तिकुमार तक की नामावली नीचे लिखे अनुसार मिलती है—

संख्या	आटपुर (अहाड) का लेख [६४] वि० सं० १०३४ का	चित्तौड़ का लेख [६५] वि० सं० १३३१ का	आबू का लेख [६६] वि० सं० १३४२ का	राणपुर का लेख [६७] वि० सं० १४९६ का	कुंभलगढ़ का लेख [६८] वि० सं० १५१७ का	शिलालेखों से ज्ञात निश्चित समय
१		बप्प	बप्प (बप्पक)	बप्प		
२	गुहदत्त	गुहिल	गुहिल	गुहिल	गुहिल	
३	भोज	भोज	भोज	भोज	भोज	
४	महेंद्र				महेंद्र	
५	नाग				नाग	
६	शील	शील	शील	शील	बप्प	वि० सं० ७०३ [६९] (शीलादित्य का लेख)
७	अपराजित				अपराजित	वि० सं० ७१८ [७०]
८	महेंद्र (दूसरा)				महेंद्र (दूसरा)	
९	कालभोज	कालभोज	कालभोज	कालभोज	कालभोज	
१०	खोम्माण				खुम्माण	
११	मत्तट	मल्ल [त्त ?] ट			मत्तट	

६४. इंडी० एंटी०, जि० ३९, पृ० १९१। ६५. भावनगर इंस्क्रिप्शंस, पृ० ७४–७७। ६६. इंडी० एंटी०, जि० १६, पृ० ३४७–५१। ६७. भावनगर इंस्क्रिप्शंस, पृ० ११४-१५। ६८. उदयपुर के विक्टोरिया हॉल में रक्खा हुआ है, अब तक छपा नहीं है। ६९. देखो ऊपर, टिप्पण ३०। ७०. देखो ऊपर, टिप्पण ३१

संख्या	आटपुर (अहाड) का लेख[६४] वि० सं० १०३४ का	चित्तौड़ का लेख[६५] वि० सं० १३३१ का	आबू का लेख[६६] वि० सं० १३४२ का	राणपुर का लेख[६७] वि० सं० १४९६ का	कुंभलगढ़ का लेख[६८] वि० सं० १५१७ का	शिलालेखों से ज्ञात निश्चित समय
१२	भर्तृपट्ट	भर्तृभट	भर्तृभट	भर्तृभट	भर्तृपट्ट	
१३	सिंह	सिंह	सिंह	ह		
१४	खोम्माण (दूसरा)					
१५	महायक	महायक	महायक	महायक		
१६	खोम्माण (तीसरा)	खुम्माण	खुम्माण	खुम्माण		
१७	भर्तृपट्ट (दूसरा)					वि० सं० ९९९,[७१] १०००[७२]
१८	अल्लट	अल्लट	अल्लट	अल्लट	अल्लट	वि० सं० १००८, १०१०[७३]
१९	नरवाहन	नरवाहन	नरवाहन	नरवाहन	नरवाहन	वि० सं० १०२८[७४]
२०	शालिवाहन				शालिवाहन	
२१	शक्तिकुमार	शक्तिकुमार	शक्तिकुमार	शक्तिकुमार	शक्तिकुमार	वि० सं० १०३४,[७५]

६४. ६५. ६६. ६७. ६८. देखो पृ० २७५। ७१. देखो ऊपर, टिप्पण ३२। ७२. देखो ऊपर, टिप्पण ३३। ७३. देखो ऊपर, टिप्पण ३४। ये दोनों संवत् एक ही शिलालेख से हैं। ७४. देखो ऊपर, टिप्पण ३५। ७५. देखो ऊपर, टिप्पण ६४।

इन पाँचों वंशावलियों में से पहली राजा शक्तिकुमार के समय के वि० सं० १०३४ के लेख से है जो सबसे पुरानी और पूर्ण है। उसमें तो 'बापा' (बप्प) का नाम ही नहीं है। परंतु उसके पूर्व की उपर्युक्त नरवाहन की प्रशस्ति में, जो वि० सं० १०२८ की है, बापा को गुहिलवंश के राजाओं में चंद्र के समान (प्रकाशमान) लिखा है जिससे शक्तिकुमार के पहले बापा का होना निश्चित है। ऊपर हम बतला चुके हैं कि प्राचीन प्राकृत बप्प शब्द प्रारंभ में पिता का सूचक था और पीछे से नाम के लिये तथा अन्य अर्थों में भी उसका प्रयोग होता था [७६]। अतएव यह संभव है कि शक्तिकुमार के लेख में बप्प नाम का प्रयोग न कर वास्तविक नाम का प्रयोग किया हो परंतु उसका वास्तविक नाम क्या था इसका उक्त लेख से कुछ भी निश्चय नहीं हो सकता।

दूसरी वंशावली चित्तौड़ के किले पर की रसिया की छत्री के द्वार के भीतर लगे हुए रावल समरसिंह के समय के वि० सं० १३३१ के शिलालेख से है। तीसरी वंशावली उसी रावल समरसिंह के समय के वि० सं० १३४२ के शिलालेख से है। ये दोनों शिलालेख चित्तौड़ के रहनेवाले नागर ब्राह्मण प्रियपटु के पुत्र वेदशर्मा के रचे हुए हैं। ये दोनों वंशावलियाँ अपूर्ण हैं। चित्तौड़ के ही रहनेवाले ब्राह्मण कवि को वहीं के राजाओं का वंशवर्णन करते समय उनकी पूरी वंशावली का न मिलना यही बतलाता है कि उस समय मेवाड़ के राजवंश का प्राचीन इतिहास ठीक ठीक उपलब्ध न था। यही नहीं, उसकी शुद्ध वंशावली भी ज्ञात न थी, क्योंकि उसमें बापा को, जो गुहिल के वंश में अर्थात् उससे कई पुश्त बाद हुआ, गुहिल का पिता लिख दिया है जो सर्वथा असंभव है। उसी राजा समरसिंह के समय का वि० सं० १३३२ का चीरवा गाँव के मंदिर का शिलालेख चित्तौड़ के ही रहनेवाले चैत्रगच्छ के जैन साधु भुवनसिंह सूरि के शिष्य रत्नप्रभसूरि ने तय्यार किया जिसमें उपर्युक्त नरवाहन

---

७६. देखो ऊपर, टिप्पणी १६।

के लेख की नाईं वप्पक (बप्पक = बापा) का गुहिल के पुत्र के वंश में अर्थात् गुहिलोत वंश में होना बतलाया है[७७] जिससे यह कहना अनुचित न होगा कि रावल समरसिंह के समय में भी ब्राह्मण विद्वानों की अपेक्षा जैन विद्वानों में इतिहास का विशेष ज्ञान था।

चौथी वंशावली महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) के समय के राणपुर के जैन मंदिर के वि० सं० १४९६ के लेख से है जिसकी शक्तिकुमार तक की वंशावली उपर्युक्त आबू के वि० सं० १३४२ के लेख के अनुसार ही है। उसमें भी बप्प (बापा) को गुहिल का पिता लिखा है जो स्वीकार करने योग्य नहीं है।

पाँचवीं वंशावली महाराणा कुंभकर्ण के समय के कुंभलमेरु (कुंभलगढ़) के किले के मामादेव के मंदिर की वि० सं० १५१७ की बड़ी प्रशस्ति से है। उक्त प्रशस्ति की रचना के समय के बहुत पूर्व से ही मेवाड़ के राजवंश की संपूर्ण और शुद्ध वंशावली उपलब्ध नहीं थी। उसको ठीक करने का यत्न उस समय अनेक प्राचीन प्रशस्तियों के आधार से किया गया[७८]। बापा को उसमें कहाँ स्थान देना इसका भी विचार हुआ हो ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि चित्तौड़, आबू और राणपुर के मंदिर के लेखों में बापा को गुहिल का पिता माना था जिसको स्वीकार न कर गुहिल के पाँचवें वंशधर शील (शीलादित्य) के स्थान पर बप्प[७९] (बापा) का नाम धरा। उसीके आधार पर कर्नल टॉड ने भी शील को ही बापा और उसका वि० सं० ७८४ में चित्तौड़ लेना माना। परंतु यदि उस समय उक्त शील (शीलादित्य) का वि० सं० ७०३ का शिलालेख मिल जाता तो संभव है कि कर्नल टॉड शील को बापा न मान कर उसके किसी वंशधर को बापा मानते।

---

७७. देखो ऊपर, टिप्पण १०।

७८. देखो ऊपर, टिप्पण ५४।

७९. तस्मिन् गुहिलवंशेभूद्भोजनामावनीश्वरः ।
तस्मान्महींद्रनागाह्वो बप्पाख्यश्चापराजितः ॥१३९॥
(कुंभलगढ़ की प्रशस्ति)

बापा का वि० सं० ८१० में संन्यास लेना ऊपर बतलाया जा चुका है और पिछले कितने एक शिलालेखों [80] तथा ख्यातों [81] में खुंमाण को बापा का पुत्र बतलाया है अतएव कालभोज [82] का नाम

---

८०. तां रावलख्यां पदवीं दधानो वापाभिधानः स रराज राजा ॥१९॥
ततः खुमाणाभिधरावलोस्मात्......॥२०॥
(राजप्रशस्ति महाकाव्य, सर्ग ३)

८१. रावल खूमाण बापा रो तिणरो कवित (मुँहणोत नैणसी की ख्यात, पत्रा १, पृ० २)।

८२. महामहोपाध्याय कविराजा श्यामलदासजी ने 'वीरविनोद' नामक मेवाड़ के बृहत् इतिहास में (भाग १, पृ० २५०) अपराजित के उत्तराधिकारी महेंद्र (दूसरे) का नाम बापा होना माना है जिससे मैं सहमत नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा मानने में इन दो राजाओं के लिये अनुमान १०० वर्ष का समय मानना पड़ता है और वह कथन मेवाड़ की जनश्रुति के जो बापा के पुत्र को खुमाण बतलाती है, विरुद्ध है। श्रीयुत देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने राजा शक्तिकुमार के समय का आटपुर (अहाड़) का लेख छापते समय मेवाड़ के राजाओं की वंशावली में बप्प (बापा) का स्थान निश्चय करने का यत्न इस तरह किया है कि अपराजित के लेख के वि० सं० ७१८ और अल्लट के सं० १०१० के बीच २९२ वर्ष का अंतर है जिसमें १२ राजा हुए। अतएव प्रत्येक राजा का राज्य-समय औसत हिसाब से २४⅓ वर्ष माना। फिर बापा का वि० सं० ८१० में राज्य छोड़ना स्वीकार कर अपराजित के सं० ७१८ और बापा के सं० ८१० के बीच के ९२ वर्ष के अंतर के लिये भी वही औसत लगा कर अपराजित से चौथे राजा खुम्माण को बापा ठहराया (इंडि० ऐंटी० जि० ३९ पृ० १९०)। परंतु हम उनके कथन को ठीक नहीं समझते, क्योंकि मेवाड़ में बापा का पुत्र खुमाण होना माना जाता है जैसा कि ऊपर (टिप्पण ८०,८१ में) बतलाया गया है। दूसरा यह भी कारण है कि जो औसत १२ राजाओं के लिये आए उसी को चार राजाओं के लिये भी मान लेना इतिहास स्वीकार नहीं करता क्योंकि कभी कभी दो या तीन राजाओं के १०० या उससे अधिक वर्ष राज्य करने के उदाहरण मिल आते हैं। बूंदी के महाराव रामसिंहजी की गद्दी-नशीनी वि० सं० १८७८ में हुई और वर्तमान वि० सं० १९७७ में उनके पुत्र श्रीमान् महाराव रघुवीरसिंहजी बूंदी का शासन कर रहे हैं। इन ९९ वर्ष में वहां दूसरी पुश्त चल रही है। अकबर से शाहजहां के कैद होने तक के तीन बादशाहों का राज्य समय १०२ वर्ष निश्चित ही है।

बापा होना चाहिए। ऐसा मानने में अपराजित, महेंद्र (दूसरा) और कालभोज इन तीन राजाओं का काल अनुमान १०० वर्ष मानना पड़ता है जो ऐतिहासिक दृष्टि से विरल होने पर भी असंभव नहीं है क्योंकि अकबर, जहांगीर और शाहजहाँ इन तीन बादशाहों का राज्य-समय शाहजहाँ के कैद होने तक १०२ वर्ष और उसकी मृत्यु तक १०८ वर्ष से कुछ अधिक ही आता है।

बापा और कालभोज एक ही राजा के नाम मानने पर इस सिक्के के विषय में यह शंका हो सकती है कि कालभोज मुख्य नाम है और बापा प्रेम या महत्त्व का प्रसिद्ध नाम। ऐसे उपाधि के नाम की राजा के पीछे प्रसिद्धि हो सकती है किंतु उसी समय के सिक्के पर तो प्रधान नाम ही होना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि एक ही राजा के एक या अधिक उपनाम उसके जीवित काल में प्रचलित होने पर सिक्के और शिलालेखों में अकेले उपनाम का भी प्रयोग मिलता है। जैसे कन्नौज के प्रतीहार (पड़िहार) राजाओं के दानपत्रों में भोजदेव (प्रथम) का नाम भोजदेव ही मिलता है और उसीके विक्रम संवत् ९०० के दानपत्र (एपि० इंडि० जिल्द ५ पृ० २११-१२) में तथा उसीके ग्वालियर से मिले हुए संवत् ९३३ के लेख (एपि० इंडि० जिल्द १, पृ० १५९) में उसका नाम भोजदेव ही है, परंतु वहीं से मिले हुए विक्रम संवत् ९३२ के उसीके लेख (वहीं, पृ० १५६) में उसका उपनाम 'आदि-वराह' ही दिया है और उसीके सिक्के पर भी 'श्रीमदादिवराह' लेख है, 'भोजदेव' नहीं (स्मिथ, इंडियन म्यूज़ियम, कलकत्ते के सिक्कों की सूची, पृ० २४१)

बापा से संबंध रखनेवाली दंतकथाओं की जाँच।

(१) एक कथा ऐसी है कि जिस समय बापा का पिता ईडर के भीलों के हमले में मारा गया उस समय बापा की अवस्था तीन बरस की थी। जिस बड़नगरा (नागर) जाति की कमलावती ब्राह्मणी ने पहले गुहादित्य की रक्षा की थी बापा की माता भी उसे लेकर उसीके वंशजों के शरण में चली गई। वे उसको पहले भांडेर के किले में

और कुछ समय पीछे नागदा में ले गए। वहाँ का राजा सोलंकी राजपूत था। बापा वहाँ के जंगलों और झाड़ियों में फिरा करता था। एक दिन उसकी भेट हारीत नामक साधु से हुई जो एक झाड़ी में स्थापित एकलिंगजी की मूर्ति की पूजा किया करता था। हारीत ने अपने तपोबल से उसका राजवंशी एवं भविष्य में बड़ा राजा होना जान लिया और उसको अपने पास रक्खा। बापा हारीत की गौ (कामधेनु) को चराया करता। उसको एकलिंगजी में पूर्णभक्ति तथा अपने गुरु (हारीत) में बड़ी श्रद्धा थी। गुरु ने उसकी भक्ति से प्रसन्न हो उसके क्षत्रियोचित यज्ञोपवीत आदि संस्कार किए और जब वह अपने तपोबल से विमान में बैठ कर स्वर्ग में जाने लगा उस समय बापा कुछ देर से वहाँ पहुँचा। विमान पृथ्वी से कुछ ऊँचा चला गया। इतने में हारीत ने बापा को देखते ही कहा कि मुँह खोल। बापा ने वैसा ही किया। गुरु ने ऊपर से पान थूका परंतु बापा को उसे मुँह में लेने से घृणा हो गई जिससे वह कुछ हट गया और पान उसके पैर पर गिरा। गुरु ने कहा कि पान तेरे पैर पर गिरा है इस लिये मेवाड़ की भूमि तेरे और तेरे वंशजों के पैरों से कभी न निकलेगी। यह आशीर्वाद पाने के बाद बापा अपने नाना मोरीराजा (मान) के पास चित्तौड़ में जा रहा और अंत में चित्तौड़ का राज्य उससे छीन कर मेवाड़ का राजा हो गया[८३]।

(२) दूसरी कथा यह है कि हारीत ने बापा की सेवा से प्रसन्न होकर स्वर्ग में जाते समय उससे कहा कि अमुक जगह १५ करोड़ मोहरें गड़ी हैं उनको वहाँ से निकाल कर सेना तैयार कर और चित्तौड़ के मोरी राजा को मार कर चित्तौड़ ले ले। बापा ने वैसा ही किया और उससे चित्तौड़ का राज्य लिया[८४]।

---

८३. यह कथा कुछ हेर फेर के साथ कर्नल टॉड ने लिखी है (राजस्थान, पृ० २३९-४१)। कर्नल टॉड ने शील को बापा मान लिया था जिससे शील के पिता नागादित्य (नाग) का भीलों के हाथ से मारा जाना लिखा है।

८४. मुंहणोत नैणसी की ख्यात, पत्रा १, पृ० २।

(३) तीसरी कथा ऐसी है कि बापा ने हारीत से राज्य-चिह्न रूपी पैर का सोने का कड़ा पाया और वह राजा बना [८५] ।

ये दंतकथाएँ और ऐसी ही दूसरी कथाएँ, जिनमें बापा का देवी के बलिदान के समय एक ही झटके से दो भैंसों के सिर उड़ाना, बारह लाख बहत्तर हज़ार सेना रखना, चार बकरे खा जाना, पैंतीस हाथ की धोती और सोलह हाथ का दुपट्टा धारण करना, ३२ मन का खड्ग रखना,[८६] वृद्धावस्था में खुरासान आदि देशों को जीतना, वहीं रहकर वहाँ की अनेक स्त्रियों से विवाह करना, वहाँ उसके अनेक पुत्रों का होना, वहीं मरना, मरने पर उसकी अंतिम क्रिया के लिये हिंदू और वहाँवालों में झगड़ा होना और अंत में कबीर की तरह शव की जगह फूल ही रह जाना आदि लिखा मिलता है; ये बातें अतिशयोक्ति के साथ लिखी हुई होने के कारण विश्वासयोग्य नहीं मानी जा सकतीं। उन कथाओं का आशय यही है कि बापा के पास राज्य नहीं था, वह अपने गुरु हारीतराशि की गाएँ चराया करता था, गुरु की कृपा से उसको राज्य मिला और वह गुहिलवंश में पहला प्रतापी राजा हुआ। इसीसे उसको 'आद्यः' (पहला) कहा है। ऐसी कथाओं पर विश्वास कर कोई कोई यह अनुमान करते हैं कि हारीत ने अंत समय अपने शिष्य बापा को अपनी जागीर देकर राजा बनाया। कोई हारीत के दिए हुए धन से चित्तौड़ का राज छीनना मानते हैं। परंतु हम उनसे सहमत नहीं हो सकते क्योंकि गुहिल वंश का राज्य तो गुहिल (गुहदत्त , गुहादित्य) के समय से चला आना निश्चित है। ई० स० १८६९ में राजा गुहिल के २००० से अधिक चाँदी के सिक्के आगरे से गड़े हुए मिले जिनपर ' श्री गुहिल'[८७] लेख है। इन सिक्कों से पाया जाता है कि गुहिल स्वतंत्र राजा था। जयपुर राज्य के चाटसू नामक प्राचीन स्थान से वि० सं० ११०० के आस पास का गुहिल-

---

८५. वि० सं० १३४२ का आबू का लेख, श्लोक १०-११।

८६. मुंहणोत नैणसी की ख्यात, पत्रा २, पृ० १०।

८७. कनिंगहाम, आर्किऑलाजिकल् सर्वे रिपोर्ट, जि० ४, पृ० ९५।

वंशियों का एक शिलालेख मिला है जिसमें गुहिलवंशी राजा भर्तृभट (प्रथम) से बालादित्य तक के ११ राजाओं के नाम दिए हैं [८८]। वे चाटसू के आस पास के इलाके पर, जो आगरे के प्रदेश के निकट था, राज्य करते थे। सिक्के एक जगह से दूसरी जगह चले जाते हैं यह निर्विवाद है परंतु एक ही जगह एक साथ एक ही राजा के २००० से अधिक सिक्कों के मिलने से यह भी संभव हो सकता है कि वे सिक्के वहाँ चलते हों और वहाँ तक उसका राज्य हो जैसा कि मि० कार्लाइल का अनुमान है [८९]। चाटसू का शिलालेख ई० स० की ग्यारहवीं शताब्दी तक पूर्व में मेवाड़ से बहुत दूर गुहिलवंशियों का राज्य होना सिद्ध करता है। गुहिल के उन सिक्कों से यह भी संभव हो सकता है कि गुहिल के पहले से भी इस वंश का राज चला आता हो जिसका कोई हाल अब तक हमको निश्चय के साथ नहीं मिला। काल पाकर पिछले लेखकों ने गुहिल के प्रतापी होने से उससे ही वंशावली लिखी हो। गुहिल से चौथा राजा शीलादित्य हुआ जिसके समय का वि० सं० ७०३ का शिलालेख मिला है जिसे पत्रिका की इसी संख्या में पंडित रामकर्ण जी ने संपादित किया है। इसमें उस राजा को शत्रुओं को जीतनेवाला, देव-द्विज और गुरुजनों को आनंद देनेवाला और अपने कुल रूपी आकाश के लिये चंद्रमा के समान बतलाया है। उक्त लेख से यह भी पाया जाता है कि उसके राज्य में शांति थी जिससे बाहर के महाजन लोग आकर वहाँ आबाद होते थे तथा लोग धन-संपन्न थे [९०]। शीलादित्य (शील) के पुत्र या उत्तराधिकारी राजा अपराजित का वि० सं० ७१८ का शिलालेख नागदे के निकट के कुंडेश्वर के मंदिर से मिला है, जिसमें लिखा है कि अपराजित ने सब

---

८८. एपि० इंडि० जि० १२ पृ० १३-१७।

८९. कनिंगहाम; आर्किऑलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, जि० ४, पृ० ९५।

९०. जयति विजयी रिपूनां (णां) देवद्विजगुरुजणा(ना)नन्दीः (न्दी)।
श्रीशीलादित्यो नरपति (तिः) स्वकुलाम्ब (म्ब) रचन्द्रमापृथ्वीः (थ्याम्)॥

दुष्टों को नष्ट किया, राजा लोग उसको शिर से वंदन करते थे, और उसने महाराज वराहसिंह को (जो शिव का पुत्र था, जिसकी शक्ति को कोई तोड़ नहीं सका था, और जिसने भयंकर शत्रुओं को परास्त किया था) अपना सेनापति बनाया था[११]। इसी अपराजित का पौत्र बापा (कालभोज) बड़ा प्रतापी और पराक्रमी था और उसके सोने के सिक्के चलते थे। अपराजित और बापा के बीच के समय के लिये कोई ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि गुहिलवंशियों का राज्य नष्ट हो गया हो। ऐसी दशा में बापा के पिता का मारा जाना और उसकी माता का अपने पुरोहित नागर ब्राह्मणों के यहां जाकर नागदे में शरण लेना कैसे संभव हो सकता है? दंतकथाओं को देखते हुए यही प्रतीत होता है कि गुहिल के पिता के मारे जाने और उसकी माता के अपने नवजात पुत्र सहित नागर ब्राह्मणों के यहाँ जाकर शरण लेने की पुरानी कथा को ही फिर बापा के नाम के साथ चिपका दिया हो। गुहिल संबंधी कथा में नागदा के राजा का सोलंकी[१२] होना लिखा

---

११ राजा श्रीगुहिलान्वयामलपयोराशौ स्फुरद्दीधिति-
ध्वस्तध्वान्तसमूहदुष्टसकलव्यालावलेपान्तकृत्।
श्रीमानित्यपराजितः क्षितिभृतामभ्यर्चितो मूर्धभि-
र्वृत्तस्वच्छतयैव कौस्तुभमणिर्जातो जगद्भूषणम्॥
शिवात्मजोखण्डितशक्तिसंप-
द्युर्यः समाक्रान्तभुजंगशत्रुः।
तेनेन्द्रवत्स्कंद इव प्रणेता
वृतो महाराजवराहसिंहः॥

एपि० इंडि०, जि० ४, पृ० ३१.

१२ वि० सं० १७२४ के बने हुए राजविलास नामक काव्य में रघुवंशी गृहादित्य (गुहदित्त,गुहिल) का मेवाड़ में नागद्रहा (नागदा) नगर के सोलंकी राजा की पुत्री घनवती से विवाह होना लिखा है—

राजत श्रीरघुनाथ'श पाट रघुनाथ परंपर।
गृहादित्य नृप गरुअ धरा रक्षिपाल धर्मधुर॥२४॥
मनहि हेस सुनि भूप राज रघुवंशी राजन।
सुत ह्वैहैं तुअ सकल सबल असु धपत सुजानन॥२६॥

मिलता है। शीलादित्य (शील) अपराजित और बापा का नागदे में राज्य करना निश्चित है तो फिर बापा के पिता के समय में वहाँ पर सोलंकियों का राज्य होना कैसे संभव हो सकता है। नागदा बापा के समय से पूर्व ही मेवाड़ के राजाओं की राजधानी थी, उसीके पास एकलिंग जी का मंदिर है, जिसके पूजारी साधु वहाँ के राजाओं के गुरु थे। यदि बापा के हारीतराशि की गौ चराने की कथा की कोई जड़ हो तो यही हो सकती है कि उसने पुत्र-कामना या किसी अन्य अभिलाषा से अपने गुरु हारीतराशि की आज्ञा से गौ-सेवा का व्रत ग्रहण किया हो, जैसा कि राजा दिलीप ने अपने गुरु वसिष्ठ की आज्ञा से किया था जिसका उल्लेख महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश में किया है। ऐसे ही बापा के चित्तौड़ लेने की कथा के संबंध में यह कह सकते हैं कि उसने गुरु के बतलाए हुए गड़े हुए द्रव्य से नहीं, किंतु अपने बाहुबल से, चित्तौड़ का किला मोरियों से लिया हो और अपनी गुरुभक्ति के कारण इसे गुरु के आशीर्वाद का फल माना हो।

मेदपाट महिमंडले नागद्राहपुर नाम।
सोलंकी संग्रामसी धनवति सुता सुधाम ॥२६॥
निरखि बाप्पिहका नाथ निज दिय पुत्री वरदान।
राजन बरि आये रमनि सुंदर सची समान ॥३०॥
नागरीप्रचारिणी सभा का छपवाया हुआ राजविलास, पृ० १८-२०।

२०—प्राचीन पारस का संक्षिप्त इतिहास।

[लेखक—पंडित रामचंद्र शुक्ल, बनारस।]

(पत्रिका पृष्ठ २२६ के आगे)

दारयवहु का पुत्र क्षयार्श, (यूना० ज़रक्सिस्) सिंहासन पर बैठा। यह भी बड़ा शक्तिशाली हुआ। इसने मिश्र देश को सर्वतोभाव से अधीन किया और बड़ी भारी सेना लेकर ईसा से ४८० वर्ष पहले यूनान पर चढ़ाई की। इस चढ़ाई से यूनानियों ने अपनी रक्षा की। इसका उन्हें बहुत गर्व था और इसके संबंध में देशभक्ति और वीरता की कथाएँ उनके यहाँ प्रसिद्ध हुईं। क्षयार्श को लौटना पड़ा। तूरान की ओर भी उसने समरकंद, बुखारा आदि प्रदेश जीते। वहीं किसी तुरुष्क बर्बर जाति के हाथ से उसकी मृत्यु हुई और उसका पुत्र अर्तक्षत्रश् (यूना० अर्तज़रक्सिस्) ४६४ ई० पूर्व में बादशाह हुआ। वह "आजानुबाहु" कहलाता था। ईसा से ४२४ वर्ष पहले उसका परलोकवास हुआ और उसके स्थान पर दारयवहु (द्वितीय) गद्दी पर बैठा। स्पार्टावालों (यूनानियों) के साथ उसका मित्रभाव रहा। उसका उत्तराधिकारी हुआ अर्तज़रक्सिस् द्वितीय, जिसने अपनी कन्या से विवाह किया। प्राचीन पारसीकों में कन्या और बहिन से विवाह करने की प्रथा थी। उससे स्पार्टावालों का युद्ध हुआ। द्वितीय अर्तज़रक्सिस् की मृत्यु ईसा से ३५८ वर्ष पूर्व हुई। अर्तज़रक्सिस् तृतीय जो उसका उत्तराधिकारी हुआ, बहुत योग्य और शक्तिमान् था।

उसके उपरांत तृतीय दारयवहु (दारा) पारस के साम्राज्य का अधीश्वर हुआ। इसी के समय में यूनान के प्रसिद्ध दिग्विजयी सिकंदर की चढ़ाई हुई। १ अक्तूबर ३३१ ई० पू० गौगमेला (अर्बेला) में दारयवहु की हार हुई और विशाल पारस्य साम्राज्य सिकंदर के हाथ में आया।

दारयवहु (दारा) माद (उत्तर मद्र) देश की ओर भागा। पारद देश में वक्कर (बैक्ट्रिया, वाह्लीक, आधुनिक बलख) के सामंत विशस् ने उसका वध किया। यूनानियों ने पारस्यपुर आदि नगरों को लूटा और राज-प्रासाद भस्म कर दिए।

यवन (यूनानी) साम्राज्य।

सिलूकस् वंश।

सिकंदर ने बाबुल को अपनी राजधानी बनाया और वह पंजाब से लौटने पर वहीं जाकर ईसा से ३२६ वर्ष पहले परलोक सिधारा। सिकंदर की अकाल-मृत्यु से उसका अधिकृत साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया। प्रदेशों के शासक अलग अलग मालिक बन बैठे। एक ओर सिकंदर के पिता फिलिप का एक जारज पुत्र फिलिप के नाम से ५ या ६ वर्ष तक बादशाह बना रहा। दूसरी ओर सिकंदर का एक पुत्र (जो वक्कर की राजकुमारी रुक्साना से उत्पन्न था) बादशाह कहलाता रहा। पर ये केवल नाम के बादशाह थे। भिन्न भिन्न प्रदेशों के शासक यूनानी सरदारों में अधिकार के लिये ४२ वर्ष तक मार-काट होती रही। अंत में बाबुल के क्षत्रप (पारस साम्राज्य के प्रदेश-शासक प्राचीन काल से क्षत्रप ही कहलाते आते थे) सिलूकस् की विजय हुई और उसकी अधीनता शेष प्रदेशों ने स्वीकार की। अपने प्रतिद्वंद्वियों से छुट्टी पाकर सिलूकस् ने वक्कर (वाह्लीक) को अधीन किया और पंजाब को लेने का भी हौसला किया जिसे चंद्रगुप्त मौर्य ने यवनों (यूनानियों) से छीन लिया था। पर चंद्रगुप्त के हाथ से उसने गहरी हार खाई और उसे वाह्लीक, कांबोज, शकस्थान (सीस्तान) आदि देश अर्थात् आजकल का सारा अफ़गानिस्तान और बलूचिस्तान चंद्रगुप्त के हवाले करना पड़ा। चंद्रगुप्त को उसने अपनी कन्या भी ब्याह दी। इस प्रकार मौर्य्यवंश और सिलूकस्वंश में मैत्री स्थापित हुई जो पीढ़ियों तक रही। ३१२ ई० पू० से लेकर २८० ई० पू० तक सिलूकस् ने राज्य किया। सिलूकस् ने दजला (टाइग्रीस) नदी के किनारे

सिलूसिया नामक नगर बसाया और पहले उसीको अपनी राजधानी बनाया। पर पीछे राज्य के पश्चिमी भाग पर अंकुश रखने के विचार से उसने शाम देश के अंटिओक नगर में अपनी स्थिति जमाई और पारस आदि पूर्वीय प्रदेशों को अपने बेटे अंटिओकस के सुपुर्द किया। अंटिओकस ने पारस में यूनानी सभ्यता और संस्कार फैलाने में बड़ा यत्न किया। राजकाज से संबंध रखनेवाले यूनानी भाषा पढ़ते थे। सिक्कों आदि पर बहुत दिनों तक यूनानी अक्षरों का ही व्यवहार रहा। अंटिओकस की राजधानी सिलूसिया रही और उसने ई० पू० २८० से लेकर ई० पू० २६१ तक राज्य किया।

इसके उपरांत अंटिओकस द्वितीय ने ई० पू० २६१ से लेकर २४६ ई० पू० तक राज्य किया। यह विषयी और निर्बल था। अशोक के शिलालेख में जिस "अंतिओक नाम योनराज" का ज़िक्र है वह यही है। जैसा पहले कहा जा चुका है मौर्यवंश और यवन सिलूकस्‌वंश के बीच बहुत दिनों तक मित्रता का संबंध रहा। इस निर्बल बादशाह के समय में कई देश स्वाधीन हो गए। वाह्लीक देश में डायडोटस नाम का यूनानी सरदार राजा बन बैठा। एक ओर से पारदों का ज़ोर बढ़ा और पारस का पूरबी भाग सिलूकस्‌ वंश के हाथ से निकल गया।

पारद साम्राज्य।

आर्य-शक वंश।

कैस्पियन सागर के दक्षिण के ऊँचे पहाड़ों को पार कर के पारस का जो प्रदेश पड़ता था उसे पारद (यूना० पारथिया) कहते थे। जब पारदों का प्रताप चमका तब यह देश दूर दूर तक प्रसिद्ध हो गया। महाभारत, मनुस्मृति, बृहत्संहिता आदि में पारद देश और पारद जाति का स्पष्ट उल्लेख है *। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि पारस

* पौंड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥ मनु० १० । ४४ ।

पर बहुत दिनों से उत्तर-पूर्व की ओर से तूरानी या शक जातियों के आक्रमण होते आते थे । ईरान और तूरान के विरोध की कथा इधर की फारसी पुस्तकों में बहुत मिलती हैं जिनमें अफरासियाब की कथा सबसे प्रसिद्ध है । सारांश यह कि कुछ शक आकर पारस के पूर्वोत्तर प्रांत में बहुत दिनों से बसे थे । इससे उस प्रांत को भी, जो मूल शकस्थान वा सगदान (आधुनिक समरकंद, बुखारा) से लगा ही हुआ था, शक देश कहते थे । पर वहाँ के आर्य्यनिवासी अपने को असली शकों से भिन्न करने के लिये अपने को आर्य-शक कहते थे । उसी देश के पहाड़ों में पर्णा नाम की एक पहाड़ी जाति निवास करती थी जिसका उल्लेख विष्णुपुराण में है । यवनराज अंटिओकस (द्वितीय) के समय में इस जाति के दो भाइयों ने पारद प्रदेश में पहुँच विदेशीय यूनानियों के विरुद्ध विद्रोह खड़ा किया और वहाँ से यूनानियों को निकाल दिया ।

ईसा से २५० वर्ष पूर्व इन दो भाइयों में से एक अरसकेश (आर्य-शकेश) के नाम से धूम धाम से गद्दी पर बैठा और पारद का प्रथम राजा कहलाया । सिंहासन पर बैठते ही इसने बड़े समारोह के साथ अग्निस्थापना की और विदेशीय यवन (यूनानी) संस्कारों को दूर कर देशी रीति-नीति स्थापित करने का उद्योग किया । उसके मरने

इसी प्रकार बृहत्संहिता में पश्चिम में बसनेवाली जातियों में 'पारत' और उनके देश का उल्लेख है—पञ्चनद-रमठ-पारत-तारक्षितिजुंगवैश्यकनकशकाः ।

पुराने शिलालेखों में 'पार्थव' रूप मिलता है जिससे यूनानी पार्थिया शब्द बना है । यूरोपीय विद्वानों ने 'पह्लव' शब्द को इसी 'पार्थव' का अपभ्रंश या रूपांतर मानकर 'पह्लव' और 'पारद' को एक ही ठहराया है । पर संस्कृत साहित्य में ये दोनों जातियाँ भिन्न लिखी गई हैं । मनुस्मृति के समान महाभारत और बृहत्संहिता में 'पह्लव' 'पारद' से अलग आया है । अतः पारद का पह्लव से कोई संबंध नहीं प्रतीत होता । पारस में पह्लव शब्द ससानवंशी राजाओं के समय से ही भाषा और लिपि के अर्थ में मिलता है । इससे सिद्ध होता है कि इसका प्रयोग अधिक व्यापक अर्थ में—पारसियों के लिये—भारतीय ग्रंथों में हुआ है । किसी समय में पारस के सरदार पहलवान कहलाते थे । संभव है यह शब्द पह्लव शब्द से बना हो ।

पर उसके उत्तराधिकारी तिरिदात ने बरकान (हर्केनिया) का प्रदेश जीतकर मिलाया। इधर अंटिओकस द्वितीय का पुत्र सिलूकस् द्वितीय मिस्र के यूनानी बादशाह से लड़ने में लगा था जिसने उसका बहुत सा प्रदेश छीन लिया। मिस्र से संधिकर के उसने तिरिदात पर चढ़ाई की पर हार गया। उसका पुत्र सिलूकस् (तृतीय) सोटर तीन ही वर्ष राज्य करके ईसवी सन् से २२३ पूर्व मर गया। उसके उपरांत अंटिओकस तृतीय राजा हुआ जिसने सिलूकस् वंश का गौरव थोड़े काल के लिये फिर से स्थापित कर दिया। माद्र (उत्तर मद्र), पारस प्रांत, आर्मेनिया आदि प्रदेशों को ठीक कर एक लाख पैदल और बीस हज़ार सवार लेकर उसने तिरिदत्त के पुत्र अरसकेश (द्वितीय) पर चढ़ाई की, उसको हराया पर उसके राज्य पर अधिकार नहीं किया।

पहले कहा जा चुका है कि अंटिओकस द्वितीय के समय में वाह्लीक प्रदेश का शासक डायडोटस स्वतंत्र हो गया था। कुछ दिनों में उसके उत्तराधिकारियों को हटा कर यूथिडिमस (Euthy-demus) वाह्लीक (बक्तर) का राजा बन बैठा। ईसवी सन् से २०८ वर्ष पहले अंटिओकस तृतीय ने उसपर चढ़ाई की पर जब उसने शकों का टिड्डी-दल छोड़ने की धमकी दी और समझाया कि उनके प्रवेश से यूनानी राज्य और सभ्यता का चिह्न एशिया से एक बारगी लुप्त हो जायगा तब अंटिओकस प्रसन्न हो गया और उसने अपनी कन्या का विवाह यूथिडिमस के पुत्र डिमिट्रियस के साथ कर दिया। वाह्लीक से अंटिओकस (तृतीय) कांबाज (काबुल) की ओर गया और वहाँ मौर्य सम्राट् सुभगसेन (सोफाइटिस) के पास सिलूकस् वंश की पुरानी मित्रता सूचित करने के लिये बहुमूल्य उपहार भेजे। मौर्य सम्राट की ओर से १५० हाथी बदले में मिले। इसके पीछे अंटिओ-कस को रोमवालों से सामना करना पड़ा और हार कर बहुत सा धन देना पड़ा। पराजित होकर वह सूसा नगर में आया और उसने वहाँ के एक संपन्न मंदिर को लूटा जिससे बड़ी हलचल मची और वह

ई० सन् से १८७ वर्ष पूर्व मार डाला गया। यूनानी राज्य की नींव फिर हिल गई। प्रदेश स्वतंत्र होने लगे। उधर रोमन (रोमक) साम्राज्य एशिआ में अपना राज्य बढ़ाने की ताक में था। इसके पीछे अंटिओकस तृतीय के दो पुत्र राजा हुए। दूसरे पुत्र अंटिओकस (चतुर्थ) ने १७५ ई० पू० से लेकर १६४ ई० पू० तक किसी प्रकार यूनानी राज्य सँभाला। उसके बाद अंटिओकस पंचम नाम का एक बालक और फिर डिमिट्रियस प्रथम राजा हुआ जिसने अपनी शक्ति का परिचय दिया। रोमन लोग उसे बराबर तंग करते रहे। पर उसे कई यूनानी शासकों ने मिलकर सन् १५० ई० पू० में मार डाला। बड़ी कठिनाइयों के बीच में डिमिट्रियस द्वितीय राजा हुआ और बराबर अपने पड़ोसियों से लड़ता रहा। पाँच वर्ष के भीतर वह शाम देश के एक बड़े भाग से निकाल बाहर हुआ। ऐसे ही समय में पारदों से युद्ध छिड़ा।

उधर पारद राज्य में अरसकेश द्वितीय (ई० पू० १८१ से ई० पू० १७६) के उपरांत फ्रावति प्रथम राजा हुआ जिसकी मृत्यु ई० सन् से १७१ वर्ष पूर्व हुई। उसकी मृत्यु के उपरांत परम प्रतापी मिथ्रदात (सं० मित्रदत्त) राजा हुआ जिसने पारद साम्राज्य की नींव डाली।

पहले कहा जा चुका है कि अंटिओकस तृतीय ने वाह्लीक के नए बने हुए राजा यूथिडिमस के पुत्र डिमिट्रियस को अपनी कन्या ब्याह दी थी। यूथिडिमस के मरने पीछे डिमिट्रियस राजा हुआ पर थोड़े ही दिनों में (ई० पूर्व १८१ और १७१ के बीच) यूक्रेटाइडीज नामक एक व्यक्ति उसे राज्य से निकाल आप वाह्लीक का राजा बन बैठा। उसने पंजाब पर चढ़ाई की और वह सतलज तक बढ़ा। वाह्लीक से निकाले जाने पर डिमिट्रियस पंजाब की ओर बढ़ा और उसने साकल में अपनी राजधानी स्थिर की। सिंधु नद के दक्षिण होते हुए उसने पाटाल (सिंध में) को जीता और क्रमश: सौराष्ट्र देश को अपने अधिकार में किया। उसके उपरांत कई यवन (यूनानी) राजाओं ने भारत के पश्चिम भाग में राज्य किया। वायु

पुराण में लिखा है कि आठ यवन राजाओं ने ८२ वर्ष के बीच राज्य किया। सिक्कों में भी कई यूनानी राजाओं के नाम मिलते हैं। इससे इतिहास के संबंध में पुराणों की उपयोगिता सिद्ध होती है। यदि हम यवनों के राज्य का आरंभ डिमिट्रियस के आगमन से लें तो ईसवी सन् से ९३ वर्ष पूर्व तक यवन-राज्य की स्थिति पाई जाती है। इस प्रकार पारस में यवन साम्राज्य नष्ट हो जाने के ५० या ६० वर्ष बाद तक भारत के एक भाग में यवन (यूनानी) राजा राज्य करते रहे। इन आठ यवन राजाओं में सबसे प्रतापी मिनांडर था जिसने मथुरा और साकेत और राजपूताने तक अपना राज्य बढ़ाया था। साकेत (अयोध्या) और मध्यमिका (नगरी, मेवाड़ में चित्तौड़ से आठ मील उत्तर को) पर मिनांडर का धावा और घेरा जिस समय हुआ उस समय महाभाष्यकार पतंजलि विद्यमान थे। मथुरा में इसके सिक्के बहुत मिलते हैं। बौद्ध ग्रंथों से पता लगता है कि मिनांडर बौद्ध हो गया था। बौद्ध ग्रंथ मलिंदपन्हो (मिलिन्दप्रश्न) में नागसेन आचार्य से उसके धर्मविषयक प्रश्नोत्तर लिखे गए हैं। वह जंबूद्वीप के सब राजाओं में श्रेष्ठ कहा गया है। उसका जन्मस्थान अलसद बताया गया है जो भारतवर्ष में या उससे बाहर सिकंदर के बसाए हुए कई अलेगजेंड्रिया नगरों में एक के नाम का अपभ्रंश जान पड़ता है। यहाँ पर यह समझ लेना भी आवश्यक है कि ईरान के पूरबी भाग में बौद्ध धर्म का प्रचार बहुत दिनों पहले से था। अगथाक्लीज नामक यूनानी राजा के सिक्के में (जिसने ईरान के पूरबी भाग में राज्य किया था, (ईसवी सन् से १८० वर्ष पूर्व से १६५ वर्ष पूर्व तक) एक बौद्ध स्तूप अंकित है।। डिमिट्रियस के समय से यूनानियों ने भारतीय रीति-नीति ग्रहण की। उनके सिक्कों पर भी भारतीय चिह्न और अक्षर रहने लगे। काबुल प्रदेश उस समय हिंदुस्तान में ही समझा जाता था और वहाँ की भाषा हिंदुस्तानी ही कही जाती थी।

यूक्रेटाइडीज की मृत्यु के उपरांत वाह्लीक, कांबोज, शक-स्थान

(सीस्तान) आदि के यूनानी सरदार राज्य के लिये परस्पर लड़ने लगे । पारदेश्वर मिथ्रदात ने अच्छा अवसर देख वाह्लीक आदि भारत से लगे हुए प्रदेशों पर अधिकार कर लिया । कुछ लेखकों ने लिखा है कि उसने पंजाब तक अपना अधिकार बढ़ा लिया था । पूरब से छुट्टी पाकर उसने माद पर अधिकार किया और १४० ई० पू० में बाबुल आदि डिमिट्रियस के बचे हुए प्रदेशों को भी ले लिया । इस प्रकार सिकंदर द्वारा स्थापित पारस का यवन-साम्राज्य नष्ट हुआ और पारद-साम्राज्य की स्थापना हुई । ईसा के १३८ वर्ष पूर्व मिथ्रदात की मृत्यु हुई । वह जैसा प्रतापी और वीर था वैसा ही नीतिज्ञ और न्यायपरायण भी था । इसके साम्राज्य का विस्तार वाह्लीक से लेकर पश्चिम में दजला नदी के किनारे तक था ।

पारद लोग जरथुस्त्र के पक्के अनुयायी थे । जब तिरिदात रोमक सामंत नीरो से मिलने गया था तब वह स्थल मार्ग से ही गया था क्योंकि जहाज पर जाने से उसे पवित्र समुद्र में थूकना पड़ता । उसके साथ बहुत से मग याजक गए थे । पारदों के समय में मग याजकों का यद्यपि उतना अधिक प्राधान्य नहीं था जितना ससानों के समय में था; पर उनका मान बहुत था ।

मिथ्रदात के पीछे उसका पुत्र फ्रावत्ति (Phraortes) द्वितीय हुआ । उसके समय में ईसा से १२९ वर्ष पूर्व शाम देश के सिलूकवंशी यवन राजा अंटिओकस सप्तम ने एक बार फिर भाग्य की परीक्षा की । वह माद प्रदेश पर चढ़ आया पर पारदों की १२००० सेना के सामने पराजित हुआ । पकड़े जाने के डर से वह एक चट्टान पर से कूद कर मर गया । फ्रावति के समय तूरानी शकों का भारी आक्रमण हुआ । दजला के किनारे तक का देश उन्होंने लूटा और फ्रावति को १२८ ई० पू० में मार डाला । फ्रावति का उत्तराधिकारी अर्त्तवान या अर्दवान (प्रथम) शकों को कर देने पर बाध्य हुआ । शकों ने ईरान के एक पूरबी प्रदेश पर अधिकार करके उसमें अपनी

बस्ती बसाई और उसका नाम शकस्थान रखा जो आगे चलकर सीस्तान कहलाया। अर्त्तबान के बाद मिथ्रदात द्वितीय, फिर अर्त्तबान द्वितीय और उसके पीछे फ्रावति तृतीय राजा हुआ। अर्मेनिया देश के झगड़े को लेकर रोमक लोगों के साथ फ्रावति का युद्ध हुआ जिसमें रोमक सेना पराजित हुई। फ्रावति तृतीय की हत्या उसके पुत्र हुरौध (यूना० Hyrodes या Orodes) ने की। उसके समय में अर्थात् ईसवी सन् से ५३ वर्ष पहले रोमन लोगों ने मेसापोटामिया (फरात और दजला नदी के बीच के प्रदेश) पर चढ़ाई की, पर गहरी हार खाई। इस युद्ध के उपरांत रोमन लोगों में भीतरी विवाद उपस्थित हुआ जिससे पारद लोग बहुत लाभ उठा सकते थे। पर यह उनसे नहीं बना। पाँपे ने सीज़र के विरुद्ध पारदों से सहायता माँगी। पारदों ने बदले में शाम देश माँगा और उसे न पाने पर सहायता अस्वीकार की। पाँपे की रोमन सेना के साथ पारदों का घोर युद्ध हुआ जिसमें पारदों की हार हुई और उनका राजपुत्र पाकौर मारा गया।

हुरौध के पीछे उसका दूसरा लड़का फ्रावति (Phraortes) राजा हुआ जिसके समय में रोमन सेनापति एंटनी ने चढ़ाई की। फ्रावति हार गया और उसकी जगह पर तिरिदात नाम का एक व्यक्ति रोमनों की सहायता से ईसा से २७ वर्ष पूर्व पारद साम्राज्य का अधीश्वर बन बैठा। फ्रावति बहुत दिनों तक इधर उधर भटकता रहा। अंत में उसने शकों को अपने पक्ष में किया और उनका टिड्डी दल लेकर आया जिसे देखते ही तिरिदात भाग कर रोम नगर चला गया। फ्रावति ने कुछ दिन राज्य किया। उसके अनंतर पूर्वीय देशों में रोमनों का अधिकार बढ़ता गया और पारदों का प्रभाव कम होने लगा। ईसा से २० वर्ष पूर्व फ्रावति के साथ रोमनों ने संधि की। फ्रावति ने अपने कनिष्ठ पुत्र को छोड़ और सारे परिवार को इसलिये रोम भेज दिया जिसमें सिंहासन के लिये विवाद न खड़ा हो।

ईसवी सन के आरंभ में पारद प्रदेश से लगा हुआ अरकान

(हरकेनिया) का पहाड़ी प्रदेश स्वतंत्र पाया जाता है। उसके सात स्वतंत्र राजाओं के सिक्के मिले हैं जिनमें पहला है अरसकेश दाइक (Arsaces Dicaeus) । इन राजाओं में सबसे शक्तिशाली गंदोफर (यूना० Gondophores) था जो उन कई प्रदेशों का राजा था जो पहले पारद साम्राज्य के अंतर्गत थे। इसके सिक्के हेरात, सीस्तान, कंदहार और पंजाब आदि में पाए गए हैं। पेशावर के पास तख्तेबाही के शिलालेख में भी इसका नाम है। ईसाइयों की कहानी के अनुसार ईसामसीह का चेला टामस इसीके राजत्व-काल में हिंदुस्तान पहुँचा था।

इसी समय के लगभग वाह्लीक के तुरुष्क शकों की टोचरी शाखा प्रबल हुई। इसमें हिमकपिश (सिक्कों पर "हिमकपिशो", यूना० Ooemo kadphises) बड़ा वीर राजा हुआ जिसके सिक्के काबुल और पंजाब से लेकर काशी तक मिले हैं। भारतवर्ष में तुरुष्क-शक राज्य की स्थापना इसीने की। प्रसिद्ध बौद्ध राजा कनिष्क इसी का वंशज था। फ्रावति चतुर्थ को मारकर उसका कनिष्ठ पुत्र फ्रावति पंचम के नाम से गद्दी पर बैठा। इसने अर्मेनिया पर चढ़ाई की जो रोमनों के अधिकार में था पर युद्ध में पराजित होकर यह पकड़ा गया। रोमन सम्राट् आगस्टस ने उससे अर्मेनिया पर कभी चढ़ाई न करने की प्रतिज्ञा लेकर उसे छोड़ दिया। उसके लौटने के थोड़े ही दिनों पीछे विद्रोह हुआ जिससे उसे फिर रोम भागना पड़ा। उसके स्थान पर लोगों ने हुरौध द्वितीय को बुलाकर सिंहासन पर बिठाया पर अपनी क्रूर प्रकृति के कारण शिकार खेलते समय वह मार डाला गया। कुछ दिनों तक लूट पाट और अराजकता रही। अंत में सरदारों ने फ्रावति चतुर्थ के ज्येष्ठ पुत्र को बुलाकर राज्य पर बिठाया। पर यूरोप में रहने के कारण उसकी चाल ढाल बदल गई थी। उसे उतार कर अरसकेश वंश का एक दूर का व्यक्ति अर्त्तबान सन १० या ११ ई० में गद्दी पर बैठाया गया। यह तृतीय अर्त्तबान बड़ा चतुर और पराक्रमी था। यह अर्मेनिया के लिये रोमनों से बराबर लड़ता और

राज्य के विद्रोहों का भी दमन करता रहा। दो बार यह सिंहासन से हटाया गया पर उसने उसे फिर प्राप्त किया। रोमन लोगों का यह मान ध्वंस करना चाहता था पर भीतरी झगड़ों से कुछ कर न सका और सन् ४० ई० में इसने शरीर त्याग किया। उसकी मृत्यु के पीछे कुछ काल वरदान (यूना० Vordanes) ने राज्य किया, फिर उसे उतार गोतार्ज ने सिंहासन लिया। उसके निष्ठुर व्यवहार से असंतुष्ट प्रजा ने वरदान का पक्ष लिया और वह राजा हुआ। गोतार्ज फिर विद्रोही दिखा। वरदान उसे पराजित करके लौट रहा था कि उससे बीच ही में मारा गया। गोतार्ज फिर राजा हुआ और उसने अत्याचार आरंभ किया। रोम नगर से फिर एक और राजकुमार मिहिरदात् भेजा गया पर बीच ही में पकड़ा गया। गोतार्ज ने उसे मारा नहीं, रोमनों के प्रति उपेक्षा प्रकट करने के लिये उसके कान काट कर उसे छोड़ दिया। ५१ ई० में गोतार्ज की मृत्यु हुई। ५४ ई० तक बानू ने राज्य किया उसके पीछे उसका बड़ा बेटा बलकाश प्रथम (Valogeses I) गद्दी पर बैठा। अर्मेनिया के झगड़े को लेकर रोमवालों से उसे फिर युद्ध करना पड़ा। अर्मेनिया बराबर पारस्य साम्राज्य के अधीन रहा और वहाँ के निवासी भी पारसियों के ही भाई-बंधु और आर्य्यधर्म्म के अनुयायी थे। बलकाश ने अपने भाई तिरिदात को वहाँ का शासक नियुक्त किया। रोमनों ने षड्चक्र रचकर वहाँ की गद्दी पर एक अपना सरदार बैठा दिया। बलकाश ने धूम धाम से चढ़ाई की पर अंत में उसे संधि करनी पड़ी जिसके अनुसार यह स्थिर हुआ कि तिरिदात रोम के सम्राट् से छत्र प्राप्त करके तब अर्मेनिया पर राज्य करे। तिरिदात संधि के अनुसार सन् ६६ ई० में रोम गया। इसके पीछे अलान नाम की जंगली पहाड़ी जाति काकेशस या कोहकाफ के अंचल से टिड्डी-दल के समान उमड़ी और अर्मेनिया आदि को लूटती उजाड़ती पारद प्रदेश में जा पहुँची। बलकाश ने रोमनों से सहायता माँगी, पर न मिली। इस उपद्रव के थोड़े ही दिनों पीछे बलकाश प्रथम की मृत्यु हुई और द्वितीय बलकाश और द्वितीय पाकौर ने कुछ दिन राज्य किया। अंत में सन् ८१ ई०

में अर्त्तबान या अर्दवान चतुर्थ राजा हुआ। यह भी रोमनों से छेड़ छाड़ करता रहा। इसके समय में पारद साम्राज्य का संबंध बहुत दूर दूर तक विस्तृत हुआ। चीन आदि देशों से उसका संबंध स्थापित हुआ। पारद और बरकान के राजा के यहाँ से चीन के सम्राट् के पास, चीन-सम्राट् के यहाँ से पारद-सम्राट् के पास भेंट की वस्तुएँ आती जाती थीं। अर्त्तबान के पीछे सन् ६३ ई० में पाकौर द्वितीय नामक बादशाह के सिक्के मिलते हैं। उसकी मृत्यु के उपरांत राज्य के तीन उत्तराधिकारी परस्पर युद्ध करते और इधर उधर राज्य करते रहे—उसरो, बलकाश द्वितीय और मिहिरदात षष्ठ। रोमनों ने मौका देख चढ़ाई कर दी और अर्मेनिया पर अधिकार करते हुए वे मेसापोटामिया में आ पहुँचे और वहाँ उन्होंने अपने शासक नियुक्त किए। तुरंत बलवा हुआ और रोमन निकाल दिए गए। फिर भी पारद राजवंश आपस में लड़ता रहा और रोमनों ने फिर से बाबुल आदि पर अधिकार जमाया। पर ठहरना असंभव समझ उसरो के पुत्र पर्थमस्पात को पारद का राजा मानकर वे चले गए। पर वह पारद देश में रह न सका और उसरो उसका राजा बना रहा। अंत में बलकाश द्वितीय राजा हुआ जिसने ७१ वर्ष राज्य करके ९६ वर्ष की अवस्था में नवंबर १४८ ई० में परलोक गमन किया।

उसके पुत्र बलकाश तृतीय ने अर्मेनिया से रोमनों को हटाया। पर अंत में रोमनों से हारकर उसने १६६ में संधि की जिसके अनुसार मेसापोटामिया रोमनों के हाथ में गया। उसकी मृत्यु सन् १९१ ई० में हुई। बलकाश चतुर्थ के समय में मेसापोटामिया रोमनों से फिर ले लिया गया। इसके उपरांत सीवरस बड़ी भारी सेना लेकर पहुँचा और इस्फहान तक बढ़ गया। पारद-सम्राट् उसके सामने ठहर न सका और रोमनों ने प्रजा पर घोर अत्याचार किया। पर पारद के सामंत राजा बरसीन ने रोमनों के खूब छक्के छुड़ाए और उन्हें भागना पड़ा। सन् २०९ ई० में बलकाश पंचम राजा हुआ। उसका भाई अर्दवान उसका प्रतिद्वंद्वी खड़ा हुआ और अंत में इस्फहान आदि

उसने ले लिया। बलकाश भी बाबुल में अपनी राजधानी जमा कर राज्य करता रहा। इन दोनों में प्रबल अर्त्तबान ही था जिसने रोमन लोगों को खूब ध्वस्त किया। रोमन सेनापति मैक्रिनस को इसने दो बार हराया। अंत में सन् २१७ ई० में रोमन लोग मेसापोटामिया से निकाल बाहर किए गए और शाम देश में भागे। रोमन सेनापति मैक्रिनस को पाँच करोड़ दीनार देकर पारदों से अपना पीछा छुड़ाना पड़ा। इसके उपरांत पारस्य प्रदेश (यूना० परसिस) का ससान वंश प्रबल हुआ और पारदों के हाथ से ईरान का साम्राज्य ससानों के हाथ में गया।

ससान साम्राज्य।

पारदों के राजत्वकाल में पारस्य प्रदेश के राजा कभी पारदों के अधीन हो जाते थे और कभी सिलूकस्वंशी यवनों के। इन राजाओं के नाम या तो हखामनी वंश के राजाओं के नामों से मिलते जुलते होते थे (जैसे, अर्त्तचत्र दारयवहु) अथवा धर्मग्रंथों में आए हुए होते थे (जैसे, नरसिंह, यज्दकर्त्त, मिनुचेत्र)। पारद-साम्राज्य के पिछले दिनों में पारस्य प्रदेश का शासन बाजरंगी वंश के हाथ में था। उसका अंतिम राजा गोजिह् (पुरानी पारसी—गोसित्र) था। पारस्य प्रदेश जरथुस्त्र धर्म का केंद्र था। अनाहेथ देवी का प्रसिद्ध अग्निमंदिर वहाँ इश्तख़ नगर में था। उसके पुजारी का नाम ससान था जिसका विवाह बाजरंगी वंश की एक राजकुमारी रामविहिश्त से हुआ था। उसके पुत्र पापक (आधु० फा० पाबेक, बाबेक) ने गोजिह् को तख्त से उतार दिया और वह आप राजा बना। सन् २१२ ई० में पापक का पुत्र अर्देशीर (अर्देशिर बाबेकान) राजा हुआ। इसकी जरथुस्त्र धर्म और उसके याजकों में बड़ी श्रद्धा थी। इसके सिक्कों पर अग्निवेदी का चिह्न और इसके नाम के आगे मज्दयश्न (अर्थात् यज्ञपद्ध) लगा मिलता है। इसीके समय में अर्दा-विराफ़ नामी पारसी याजक ने ज़रथुस्त्र की वाणी को लेखबद्ध किया।

इसने क्रमशः किरमान्, सूसियान् आदि प्रदेशों को जीता और अंत में अंतिम वह पारदवंशी सम्राट् अर्दवान से जा भिड़ा जो २८ अप्रैल २२४ ई० में लड़ाई में मारा गया। अर्दशीर ने शाहंशाह की उपाधि ग्रहण की। रोमन लोग इस नई शक्ति का उदय देख डरे। इससे उनसे भी उसे लड़ना पड़ा। नाम के लिये तो राजधानी इश्तख्र (प्राचीन पारस्यपुर) रहा पर असली राजधानी पारदों की राजधानी इस्फहान थी।

अर्दशीर का पुत्र शापूर (प्रथम) (प्राचीन रूप—शहपुह्र) २० मार्च २४२ ई० में गद्दी पर बैठा। यह बराबर रोमनों से लड़ता और उन्हें हराता रहा। एक बार रोमन बादशाह वलेरियन आप सेना लेकर चढ़ा, पर बंदी किया गया। वह कारागार ही में मरा। शापूर ने रोमनों के अधिकृत देश एशिया कोचक और अर्मेनिया पर आक्रमण किया, पर कृतकार्य्य न हुआ। उसके पीछे उसके पुत्र हुरमुज्द (प्रथम) और फिर बहराम (प्रथम) ने राज्य किया। सन् २७७ से लेकर २९४ ई० तक बहराम द्वितीय राजा रहा। वह बड़ा धार्मिक था। उसकी धर्मलिपियाँ कई जगह पाई गई हैं। उसके पीछे बहराम तृतीय और फिर नरसेंह राजा हुआ। इसके समय में रोमनों को सफलता हुई और मेसापोटामिया और अर्मेनिया प्रदेश सन् २९८ ई० में उन्हें मिल गए।

नरसेंह के पीछे हुरमुज्द द्वितीय और फिर अधरनरसेंह राजा हुआ, जिसे थोड़े ही दिनों में सरदारों ने गद्दी से उतार दिया और शापूर द्वितीय को बादशाह बनाया। यह बड़ा पराक्रमी और धीर बादशाह था। मरभूखे जंगली अरब सीमा पर के स्थानों में आकर लूट-पाट किया करते थे। इसने कठोर शासन द्वारा उनका दमन किया और उन स्थानों को उनके आक्रमणों से मुक्त कर दिया। कहा जाता है कि खुरासान का नैशापूर (पु० पा० नवशहपुह्र) शहर इसी शापूर का बसाया हुआ है।

शामई पैगंबरी मतों का स्वाभाविक कट्टरपन प्रकट करने का

साहस यहूदियों को नहीं हुआ था। रोमन और पारसी ये दो प्रतापी आर्य जातियाँ उनके सिर पर थीं। पर अब ईसाई धर्म का प्रचार यूरोप में हुआ और रोमन लोग ईसाई होने लगे। रोमन बादशाह कांस्टटाइन (जन्म २७२—मृत्यु ३३७ ई०) के समय से ईसाई धर्म रोमनों का राजधर्म हुआ और कांस्टंटिनोप्ल (कुस्तुन्तुनिया या इस्तंबोल) रोमन राजधानी हुआ। एक ईसाई साम्राज्य को इतना निकट पाकर यहूदा, अर्मेनिया और पारस के ईसाई उद्धत हो उठे। वे पारसी मंदिरों में जाकर देवताओं की और पारसी सम्राट् की निंदा करने लगे। रोमन सम्राट् जुलियन भी हार की झेंप मिटाने आया तो हारा और बहुत सा राज्य देकर संधि करके लौटा। जब शापूर रोमनों से लड़ रहा था उस समय उसकी कुछ ईसाई प्रजा ने गुप्त रूप से रोमनों की सहायता की थी। शापूर ने उन्हें कड़ा दंड दिया। यहाँ पर यह कह देना भी परम आवश्यक है कि पारसी लोग धर्मसंबंध में बड़े उदार थे। वे किसी मत के साथ विरोध नहीं करते थे। सन् ३७९ ई० में शापूर द्वितीय का परलोकवास हुआ।

कुछ दिनों तक उसका बुड्ढा भाई आर्दशीर द्वितीय तख्त पर रहा पर सन् ३८३ ई० में वह उससे उतार दिया गया और शापूर तृतीय गद्दी पर बैठा। उसने रोमनों से संधि कर ली और कांस्टेंटिनोप्ल में राजदूत भेजे। उसके मारे जाने पर बहराम चतुर्थ (किरमान शाह) राजा हुआ जिसने संधि स्थिर रखी। इस संधि के अनुसार रोमनों को अरमेनिया का अधिक भाग पारस साम्राज्य के अधीन कर देना पड़ा। बहराम को सन् ३९९ में कुछ बदमाशों ने मार डाला। किरमानशाह के उपरांत शापूर तृतीय का बेटा यज्दगर्द प्रथम तख्त पर बैठा। यह ईसाइयों पर बड़ी कृपा रखता था, पर उनके मतोन्माद पर उन्हें दंड भी देता था। अब्दा नाम के एक मतोन्मत्त पादरी ने एक अग्निमंदिर में जाकर पारसी धर्म की निंदा और देवता का अपमान किया। उसे समुचित दंड मिला। ससानों के समय में मग याजकों की बड़ी चलती थी। ससान वंशी राजा याजकों और

पुरोहितों की मुट्ठी में रहते थे। यज्दगर्द उदार और स्वतंत्र प्रकृति का था इससे वे उसे नहीं चाहते थे। कहा जाता है कि सन् ४२० ई० में बरकान के पहाड़ी प्रदेश में वह मार डाला गया। सरदारों ने उसके उत्तराधिकारी को भी मार कर खुसरो नाम के एक संबंधी को सिंहासन पर बैठाया। पर जब मृत राजकुमार का एक भाई बहराम अरबों का दल लेकर पहुँचा तब खुसरो को तख्त छोड़ना पड़ा। बहराम-गोर पारसियों का बहुत प्रिय राजा और अनेक कथाओं का नायक है। उसने उद्धत ईसाइयों का पूरा शासन किया और उनके उत्तेजक रोमनों पर भारी चढ़ाई की। रोमनों ने हार कर सन् ४२२ ई० में संधि की। हैतालों या हूणों पर बहराम-गोर की चढ़ाई भी बहुत प्रसिद्ध है। हूण उस समय वंक्षु नद (आक्सस नदी) के किनारे आकर बसे थे[1] और पारस की पूर्वोत्तर सीमा पर लूट-पाट किया करते थे। बहराम-गोर ने सन् ४२५ में उन्हें हराकर वंक्षु नद के पार भगा दिया और कुछ दिनों के लिये पारस को हूणों के आक्रमणों से मुक्त कर दिया। बहराम के इधर फँसने के कारण रोमनों को दम लेने का समय मिला।

सन् ४३८ या ४३९ ई० में बहराम-गोर की मृत्यु हुई और उसका बेटा यज्दगर्द द्वितीय तख्त पर बैठा जो बड़ा क्रूर और निष्ठुर था। उसे खुरासान में जाकर हूणों से लड़ना पड़ा। यहूदियों और ईसाइयों के मतोन्माद का उसने कठोरता से दमन किया। आर्मेनिया

---

१ कालिदास के समय में हूण भारतवर्ष के भीतर नहीं घुसे थे, वंक्षु नद के किनारे के प्रदेश में ही बसे थे जैसा कि रघुवंश के इन श्लोकों से सूचित होता है—विनीताध्वश्रमास्तस्य वंक्षुतीरविचेष्टनैः। दुधुवुर्वाजिनः स्कंधाँल्लग्न कुंकुमकेसरान्॥ तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्। कपोलपाटनादेशि बभूव रघुचेष्टितम्॥ आजकल की पुस्तकों में 'वंक्षु' के स्थान पर 'सिंधु' पाठ मिलता है। पर नौ प्राचीन प्रतियों में से ६ में 'वंक्षु' पाठ है। सिंधु पाठ ठीक मानने से कालिदास का समय गुप्तों के भी पीछे मिहिरगुल और तुरमानशाह का समय हो जाता है। पुराना पाठ 'कपोलपाटना' है, 'पाटला०' नहीं; क्योंकि पतिमरण पर हूण स्त्रियों में अपने गाल फाड़ डालने की रीति थी।

के लोग ईसाई हो गए थे और अपने देश में पारसी धर्म नहीं देख सकते थे। रोमनों के इशारे से उन्होंने बलवा किया पर वे दबा दिए गए। रोमनों के ऊपर भी यज्दगर्द को चढ़ाई करनी पड़ी थी। उसकी मृत्यु अर्थात् सन् ४५७ के पीछे उसका छोटा लड़का पीरोज या फीरोज हूणों की सहायता से अपने बड़े भाई को हराकर और मारकर सन् ४५९ ई० में गद्दी पर बैठा। हूणों के साथ फीरोज का विवाद हुआ और वे पारस पर चढ़ दौड़े। हूण उस समय पारसी सभ्यता ग्रहण कर चुके थे और अपने नाम आदि पारसी ही रखने लगे थे। उनके बादशाह खुशनेवाज के हाथ से फीरोज ने गहरी हार खाई। लड़ाई के पीछे उसका कहीं पता न लगा और उसकी कन्या पकड़कर हूण बादशाह के हरम में दाखिल की गई। हूणों की लूट-पाट के कारण कुछ दिनों तक सारे देश में अराजकता रही, अंत में सरदारों ने फीरोज के भाई बलाश को गद्दी पर बैठाया। यह बड़ा निर्बल शासक था। ईसाइयों के उपद्रव पर इसने स्वीकार कर लिया कि अर्मेनिया में जरतुश्त धर्म नहीं रहेगा। उससे मग पुरोहित और याजक परम असंतुष्ट थे। अंत में वह अंधा करके सिंहासन से उतार दिया गया और फीरोज का बेटा कबाद (प्रथम) सन् ४८८ या ४८९ ई० में तख्त पर बैठा। वह याजकों और पुरोहितों के हाथ की पुतली नहीं रहा चाहता था। उसके समय में मज्दक नामक एक व्यक्ति एक नए मत का प्रचार करने लगा कि जिसके पास आवश्यकता से अधिक बहुत धन या सामान हो उसे उसको उन लोगों को बाँट देना चाहिए जिनके पास कुछ भी नहीं है। कबाद ने इस मत को बहुत पसंद किया और उसके अनुसार थोड़ी बहुत व्यवस्था भी होने लगी। सरदारों ने मिलकर उसे कैद कर लिया और उसके भाई जामास्प को तख्त पर बैठाया। पर कबाद बंदीगृह से निकल हेतालों या हूणों के पास गया और उनकी सहायता से उसने फिर सिंहासन प्राप्त किया। उसने शाम देश में रोमनों पर चढ़ाई की और मेसापोटामिया का बहुत सा भाग ले लिया। कबाद ८२ वर्ष का होकर सन् ५३१ ई० में मरा।

कबाद का पुत्र परम न्यायी और प्रतापी खुसरो हुआ जो नौशेरवाँ के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी उपाधि आदिल या न्यायी है और इसके न्याय की अनेक कथाएँ फारसी किताबों में प्रसिद्ध हैं। ईसाइयों पर वह कृपा रखता था जिसका फल यह हुआ कि उन्होंने उसीके एक पुत्र को ईसाई किया और रोम में भगा दिया। नौशेरवाँ ने उन ईसाइयों को दंड दिया, पर बहुत साधारण। न्यायी के अतिरिक्त नौशेरवाँ बड़ा पराक्रमी और प्रतापी भी था। उसने शाम देश पर रोमनों के विरुद्ध चढ़ाई करके उन्हें खूब ध्वस्त किया। वह बहुतों को बंदी करके ले आया और उसने रोमनों पर भारी कर लगाया जिसे देकर उन्होंने संधि की। अर्मेनिया पर भी चढ़ाई करके नौशेरवाँ ने रोमनों का जोर तोड़ा और अपना अधिकार दृढ़ किया। इसके समय में राज्य की सब तरह समृद्धि हुई। नौशेरवाँ के समय में ही अरब में हज़रत मुहम्मद साहब हुए जिनके मत ने आगे चलकर पारस और तुर्किस्तान से आर्य्यधर्म्म और आर्यसभ्यता का लोप किया। सन् ५७९ ई० में नौशेरवाँ का परलोकवास हुआ

नौशेरवाँ का पुत्र हुरमुज्द थोड़े ही दिन राज्य करके मारा गया और उसका बेटा खुसरो परवेज़, सेनापति बहराम चोबीं के विद्रोह का दमन कर, सन् ५९० ई० में तख्त पर बैठा। रोमन राज्य के झगड़ों में वह बराबर हाथ डालता रहा और उसकी सेना कुस्तुंतुनिया तक जा पहुँची थी। उसने यहूदियों और ईसाइयों के आदि स्थान दमिश्क और यरूशलम पर अधिकार किया और वह ईसाइयों के परम पवित्र क्रूस को, जो यरूशलम में स्थापित था, उखाड़ लाया। सारे एशिआ कोचक को तहस नहस करता हुआ वह मिस्र में पहुँचा और उसपर अधिकार किया। यह बड़ा उद्धत और अत्याचारी बादशाह था। इसके समय में बहुत से अरब मुसलमान हो चुके थे और उनमें लूट पाट की प्रवृत्ति के साथ इसलाम का जोश भर रहा था। खुसरो परवेज़ के समय में अरबी सीमा पर नौमान नाम का एक पराक्रमी सरदार नियुक्त था जिसके डर से

जंगली अरब पारस साम्राज्य में कुछ उपद्रव नहीं करने पाते थे। खुसरो परवेज़ ने बड़ी भारी मूर्खता यह की कि नौमान को मरवा डाला। इससे अरबों की कुछ धड़क खुल गई, यहाँ तक कि बक्र-बिन-बायल नाम के एक फ़िरक़े ने इफरात के किनारे लूट पाट करके पारसियों की एक सेना को हरा दिया।

क्रूस के छिन जाने पर ईसाइयों में बड़ी खलबली मची। रोमन सम्राट् हिराक्लियस पराजय की लज्जा दूर करने और बदला लेने के लिये काकेशस पहाड़ से बड़ी धूमधाम से चढ़ा और इस्फहान के पास तक आ पहुँचा। वहाँ पहुँचकर ६ जनवरी सन् ६२८ को उसने बड़ा भारी भोज दिया। रोमनों की यह तैयारी देख खुसरो परवेज़ भाग खड़ा हुआ। पर पारस लड़ने को तैयार था। इससे रोमन सम्राट् ने भी भागने ही में कुशल समझी। उसका उद्देश्य तो केवल लज्जा-निवारण था। खुसरो परवेज़ अपने अत्याचारों के कारण छोटे बड़े सबको अप्रिय हो गया। उसका भागना देख लोगों को उससे और भी घृणा हो गई। उसने शीरीं नाम की एक ईसाई लड़की से विवाह किया था। उसने उससे उत्पन्न पुत्र मरदानशाह को सिंहासन देने के उद्देश्य से अपने लड़कों को कैद किया। अंत में सरदारों ने उसके पुत्र कबाद द्वितीय को कैद से निकाल कर गद्दी पर बैठाया और खुसरो परवेज़ को प्राणदंड दिया (२५ फरवरी ६२८ ई०)।

कबाद द्वितीय केवल ६ महीने राज्य कर के मरा जिससे अर्दशीर तृतीय नाम का एक सात वर्ष का बालक गद्दी पर बैठाया गया। उसके समय में ईसाइयों का क्रूस रोमन सम्राट् के पास भेज दिया गया जिसने उसे फिर बड़ी धूमधाम से यरूशलम में प्रतिष्ठित किया। बच्चे को गद्दी पर देख सेनापति शहरबराज़ ने राज्य हाथ में करना चाहा और चट अभिसंधि के लिये वह रोमन-सम्राट् से मिला। उसने इस्फहान लिया और बालक अर्दशीर को मार डाला। पर सरदार उठ खड़े हुए। शहरबराज़ मार डाला गया और उसकी लाश गलियों में घसीटी गई। कुछ दिनों तक खुसरो परवेज़ की बेटी बोरां और फिर

उसकी बहिन आजारमिदोख्त तख्त पर रहीं। यह गड़बड़ बहुत दिनों तक रही, अंत में सरदारों ने खुसरो परवेज़ के पोते, शहरयार के बेटे, एक दूसरे बालक को सन् ६३३ ई० में अग्निमंदिर में यज्दजर्द तृतीय के नाम से तख्त पर बैठाया।

अरब में इसलाम का जोर उस समय खूब बढ़ती पर था। पारस साम्राज्य की गड़बड़ी में यमन और उत्तरी अरब का कुछ भाग अरबों ने ले लिया था। मुसन्ना नाम का बदुओं का एक सरदार, जो हाल ही में मुसलमान हुआ था, पारस राज्य में लूट-पाट करने लगा। थोड़े ही दिनों में मुसलमान अरबों का सेनानायक खालुद-बिन-वालिद बदुओं का सेनापति हुआ। इफरात के पश्चिमी किनारे पर ईसाई बसे थे जो पारसियों के आर्य्यधर्मानुयायी होने के कारण उनसे द्वेष रखते थे। वे गुप्त रीति से अरबों की सहायता करने लगे। अरबों ने इफरात पार किया और पारस के राज्य में लूट-पाट की।

कहते हैं कि पारसी सेनापति रुस्तम और फिरुज़न की आपस की फूट से पारसी अरबों का ठीक सामना न कर सके। जब अरबों की लूट-पाट बढ़ रही थी तब १४ मुसलमान दूत मदयान (वर्तमान टिसिफन) पर यज़्दज़र्द से मिलने आए। यज़्दज़र्द ने पूछा कि तुम्हारी भाषा में चोगा, चाबुक और खड़ाऊँ का नाम क्या है। उन्होंने कहा कि बुर्द, सौत और नाल। पारसी भाषा में इनके समानोच्चारण शब्द बुर्दन, सुख्तन और नलीदन का अर्थ बाँधना, जलाना और विलाप करना होता है। यह सुनते ही यज़्दज़र्द का चेहरा ज़र्द हो गया। राजा के पूछने पर दूतों ने कहा कि हम इसलाम को, जो ईश्वर का एकमात्र सच्चा धर्म है, फैलाने आए हैं और कर लेकर या जीत कर लौटेंगे। इस पर राजा ने एक थैले में मिट्टी भराकर उनके सिर पर यह कहकर रखवा दी कि तुम्हें यही कर मिलेगा और उन्हें अपमानपूर्वक निकाल दिया। अरब दूतों में प्रधान असीम अमीन बड़ी प्रसन्नता से मिट्टी उठा कर ले गया और अपने सेनापति के पास उसे रखकर उसने कहा कि पारस की भूमि हमारी हो गई। यह चेटक भी अरबों को

उत्तेजित और पारसियों को निराश करने में सहायक हुआ। कदेसिया (ई० स० ६३६) और जलुला (सन् ६३७) की लड़ाइयों में पारसी सेना हारती गई।

इस बीच में खालुद बुला लिया गया और अबुओबैद बहुओं का नायक हुआ जिसे पारसी सेना ने मार भगाया। अंत में खलीफा उमर ने (ई० स० ६३३) एक बड़ी सेना को इराक लेने के लिये भेजा। उसने इसलाम फैलाने का जोश दिलाया और पारस की स्वर्गभूमि में प्रवेश करने का लोभ दिखाया। पारसी लोग अरबवालों को जंगली समझ उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। उनकी ओर उनका कभी ध्यान ही नहीं गया था। पर जब उन्होंने सुना कि अरबों ने रोमन लोगों से शाम का मुल्क ले लिया तब उनके कान कुछ खड़े हुए और उन्होंने रुस्तम को एक बड़ी सेना और "दुरफ़शे कावियानी[1]" नाम की प्राचीन पताका के साथ भेजा। अरब और मुसलमानों के नायक साद-इब्न-अबी-वक्का के साथ फदीलिया के मैदान में युद्ध हुआ जिसमें रुस्तम मारा गया और

---

१ यह पारसी जाति की जातीय पताका थी और कई हजार वर्ष से पारसी सम्राटों के पास वंश-परंपरा से चली आती थी। इसकी कथा इस प्रकार है। जमशेद को मार ज़ुहाक नाम का एक अत्यंत क्रूर और अत्याचारी मनुष्य फारस के तख्त पर बैठा। उसके कंधे पर दो जख्म थे जिनकी पीड़ा की शांति आदमी के भेजे के मरहम से होती थी। इस मरहम के लिये रोज आदमी मारे जाते थे। इस अत्याचार से प्रजा त्राहि त्राहि करने लगी। अंत में कावः नाम का इस्फहान का एक लोहार, जिसके चार लड़के मारे जा चुके थे, चमड़े के एक टुकड़े को पताका की तरह बाँस में बाँध कर उठा और ज़ुहाक के अत्याचार के गीत गाता हुआ चारों ओर फिरने लगा। बहुत से लोग उसके झंडे के नीचे आए और उसने पहले इस्फहान और फिर सारा फारस ले लिया। जमशेद का वंशज फरीदूँ गद्दी पर बैठाया गया। उसी समय से चमड़े की यह पताका पारसी सम्राटों की विजय-लक्ष्मी का चिह्न समझी जाने लगी और इसकी पूजा होने लगी। पारस के बादशाह इसे अनेक प्रकार के रत्नों से विभूषित करते आए। जिस समय यह पताका अरब के मुसलमानों के हाथ में आई उस समय यह जवाहरात से इतनी लदी हुई थी कि इसका मूल्य कोई नहीं आँक सकता था। अंत में खलीफा उमर ने इसे चूर चूर किया।

दुरफ़्शे कावियानी छिन गया। इस जीत की उमंग में मुसलमान इस्फहान की ओर बढ़े। यज़्दजर्द की अवस्था उस समय केवल १७ वर्ष की थी। वह बेचारा एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में भागता रहा। इधर अरबों के झुंड के झुंड आते रहे। अंत में ६४० और ६४२ ई० के बीच नहावंद की लड़ाई हुई जिसमें पारस के प्रताप का सूर्य सब दिन के लिये अस्त हो गया, पारस के निवासी ज़बरदस्ती मुसलमान बनाए जाने लगे। इस प्रकार आर्य्यधर्म और आर्य सभ्यता का लोप पारस से हो गया। यहाँ तक कि पारस की आर्य पारसी भाषा भी अरबी से मिलकर अपना रूप खो बैठी। इतने दिनों तक यूनानी (यवन) नाम की युरोपीय जाति का अधिकार पारस पर रहा, पर पारस के भीतरी जीवन में कुछ परिवर्त्तन नहीं हुआ था। पर इसलाम ने घुस कर आर्य्य संस्कारों का सर्वथा लोप कर दिया—पारस की सारी काया पलट गई।

नहावंद की लड़ाई के पीछे यज़्दज़र्द कभी इस प्रदेश के शासक के यहाँ मेहमान रहता, कभी उस प्रदेश के। अपनी इस स्थिति में भी वह अपने नाम के सिक्के ढलवाता जाता था। अंत में दूरस्थ मर्व प्रदेश में वह एक चक्कीवाले की शरण जाकर उसी के हाथ से, वहाँ के शासक के इशारे पर मार डाला गया। खुरासान प्रदेश का स्पाहपत (सेनापति) जो ससान वंश का ही था तबरिस्तान नामक उत्तर के पहाड़ी प्रदेश में जाकर ससान वंश और जरथुस्त्र धर्म का नाम जगाता रहा। लगभग सौ वर्ष तक उसके वंशजों ने वहाँ राज्य किया पर वे खलीफा को कर देते रहे।

नहावंद की लड़ाई के पीछे जब पारस पर अरब के मुसलमानों का अधिकार हो गया और पारसी ज़बरदस्ती मुसलमान बनाए जाने लगे तब बहुत से पारसी अपने आर्यधर्म की रक्षा के लिये खुरासान में आ कर रहे। वहाँ वे लगभग सौ वर्ष रहे। जब वहाँ भी उपद्रव देखा तब पारस की खाड़ी के मुहाने पर उरमुज़ टापू में उनमें से कई भाग आए और वहाँ पंद्रह वर्ष रहे। आगे

वहाँ भी बाधा देख अंत में वे एक छोटे जहाज़ पर बैठ अपनी पवित्र अग्नि और धर्मपुस्तकों को ले अवस्ता की गाथाओं को गाते हुए खंभात की खाड़ी में दीव (संस्कृत द्वीप—Diu) टापू में आ उतरे जो आज-कल पुर्तगालवालों के हाथ में है। वहाँ उन्नीस वर्ष रह कर वे भारतवर्ष में आगए जो सदा से शरणागतों की रक्षा के लिये दूर देशों में प्रसिद्ध था। दीव छोड़ने का कोई कारण विदित नहीं किंतु कहते हैं कि एक पारसी दस्तूर (याजक) ने भविष्यवाणी की थी कि नक्षत्रों की गणना से अब आगे अभ्युदय का योग आया है। सन् ७१६ ई० के लगभग वे दमन के दक्षिण २५ मील पर संजान नाम स्थान पर आ उतरे [1]। वहां के स्वामी जाड़ी राना को उन्होंने सोलह श्लोकों में अपने धर्म का आभास दिया। राजा ने उनके धर्म की प्राचीन वैदिक धर्म से समानता देख कर उन्हें आदरपूर्वक अपने राज्य में बसाया और अग्निमंदिर की स्थापना के लिये भूमि और कई प्रकार की सहायता दी। सन् ७२१ ई० में प्रथम पारसी अग्निमंदिर बना। उन्हीं पारसियों की संतान गुजरात, बंबई आदि में फैली हुई है। भारतीय पारसी अपने संवत् का आरंभ अपने अंतिम राजा यज़्दज़र्द के पराभवकाल से लेते हैं। पीछे से इस संवत् में अधिमास (कबीसा) गिनने न गिनने के विवाद पर उनमें शहनशाही और कदमी नामक दो भेद हो गए।

---

१ विक्रम संवत् ७७२ श्रावण शुदि नवमी, यज़्दज़र्दी सन् ८४ रोज़ तीर, माह बेहमन (पारसी लेखकों ने भ्रम से रोज़ बेहमन, माह तीर, लिख दिया है)।

२१—गुहिल शीलादित्य का सामोली का शिलालेख।

विक्रम संवत् ७०३।

[लेखक—पंडित रामकर्ण, जोधपुर।]
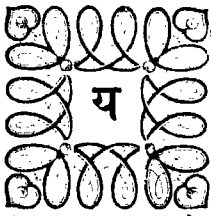
यह शिलालेख गुहिल वंशियों के शिलालेखों में सबसे प्राचीन है। उनका इससे पुरातन शिलालेख अथवा ताम्रपत्र अब तक नहीं मिला है। यह शिलालेख गुहिल वंश का सत्य इतिहास जानने के लिये अमूल्य है। यह सामोली गाँव से रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा को मिला था। इसके मिलने का वृत्तांत उनसे इस प्रकार ज्ञात हुआ है कि सन् १८९३ ई० में सामोली गाँव का एक गिरासिया मकान बनाने के लिये नींव खोद रहा था, उसमें से यह शिलालेख निकला। उसने अपने मन में सोचा कि अवश्य यह गड़े हुए धन का बीजक है, इससे वह उस शिलालेख के पत्थर को कपड़े में लपेटकर लिए लिए कई गाँवों में घूमा और वहां के ब्राह्मणों से उसे पढ़ाने का यत्न करता रहा। वह उसे उक्त पंडितजी की जन्मभूमि गाँव रोहिड़े में भी ले गया और उसने पंडितजी के बड़े भाई को भी वह लेख बतलाया कि शायद वे पढ़ सकें, परंतु वह कहीं पढ़ा नहीं जा सका। अंत में पंडितजी के भाई ने उससे कहा कि मैं तो इसे पढ़ नहीं सकता, मेरा छोटा भाई पढ़ सकता है। वह इस समय यहां नहीं है, उदयपुर में है, जब वह यहाँ आवेगा तब मैं कह दूंगा, वह पढ़ देगा। गिरासिये को उसे पढ़ाने की बड़ी चिंता थी। उसने पंडितजी के भाई से कहा कि जब आपके भाई आवें तब आप ब्राह्मण धूला को, जो यहाँ से डेढ़ मील पर वासा गाँव

में रहता है, इत्तिला देवें। वह यह शिलालेख उनको बता देगा। इस के अनंतर थोड़े ही समय में पंडितजी रोहिड़े में आए तो उन्हें यह सब वृत्तांत विदित हुआ। वे दूसरे ही दिन वासा गाँव में पहुँचे और उन्होंने उस ब्राह्मण से जाकर कहा कि जिस पत्थर को तुम पढ़वाना चाहते हो उसे लाओ, मैं पढ़ देता हूँ। उसने कहा कि वह तो सामोली गाँव में है, कल शाम तक यहाँ आ जायगा। परसों आप पढ़ लीजिए और धन का पता लगा तो आपको भी खुश करेंगे। नियत दिन पर पंडितजी वहाँ पहुँचे तो उनको शिलालेख तैयार मिला। पंडि-तजी ने उसे पत्थर पर से ही पढ़ लिया और उसकी तीन छापें भी ले लीं। फिर उन्होंने अपनी नोटबुक में पंक्तिक्रम से उसकी नकल भी करली और उसके आशय से ब्राह्मण धूला को परिचित कर दिया। जब उसने उसमें धन न होने का हाल सुना तब वह अत्यंत उदास हो गया। दूसरे दिन धूला ने उस गिरासिये को लेख का सब वृत्तांत कहा तो वह उस लेख को वहीं छोड़, उदास होकर, अपने घर चला आया। अनुमान दो वर्ष के अनंतर पंडितजी की फिर धूला ब्राह्मण से भेंट हुई। उस समय पंडितजी ने उससे पूछा कि तुमने उस लेख का क्या किया? उसने कहा कि वह मेरे यहाँ पड़ा है। पंडितजी ने उससे कहा कि तुम्हारे तो यह किसी काम का नहीं है, कुछ लेकर हमें दे दो। अंत में पच्चीस रुपए लेकर उसने वह पत्थर पंडितजी को दे दिया, और पंडितजी ने वह राजपूताना म्यूज़ियम अजमेर को भेंट कर दिया जहां वह सुरक्षित है।

सामोली गांव, जहां से यह लेख मिला है, मेवाड़ के भोमट ज़िले के अंतर्गत है। मेवाड़ और सिरोही राज्यों की सीमा जहाँ मिलती है वहाँ से थोड़ी ही दूर पर और बी० बी० सी० आई० रेलवे के रोहिड़ा स्टेशन से १५ या १६ मील के अंतर पर है।

यह शिलालेख लंबाई में ११$\frac{3}{8}$ इंच और चौड़ाई में ११$\frac{1}{8}$ इंच है। चारों ओर लगभग एक इंच हाशिया (आयु) छूटा हुआ है और बीच में बारह पंक्तियाँ हैं। पत्थर का दाहिने हाथ का नीचे का कोना

टूट जाने से १०,११,१२ पंक्तियों के अंत के अक्षर नष्ट हो गए हैं। दसवीं पंक्ति के कुछ ही अक्षर गए हैं, ग्यारहवीं में उससे अधिक और बारहवीं का तो लगभग आधा भाग जाता रहा है। बड़े हर्ष की बात है कि उस टूटे हुए भाग के पास मास और संवत् बच रहे हैं। इसीसे यह शिलालेख बड़े महत्त्व का हो गया है। यदि वे भी चले जाते तो यह किसी काम का न रहता। पंक्ति ८,९ के अंत के एक दो अक्षर पत्थर न टूटने पर भी जाते रहे हैं। बाकी शिलालेख अच्छी दशा में है।

इसकी लिपि उत्तर भारत की कुटिल लिपि है। इसके कितने ही अक्षर वर्तमान देवनागरी से बहुत कुछ मिलते हैं,--किंतु र, य, ध आ, क, ज, ख, ट, ब, ञ और न्छ बिलकुल भिन्न हैं। इ और ए की मात्राएँ बड़ी सुंदरता से लहराती हुई ऊपर को लगाई हैं, उ की मात्रा दो तरह से लगाई है, म की मात्रा अक्षर के ऊपर को उदात्त के चिह्न की, या वर्तमान रेफ के सदृश, रेखा के समान है। यह लिपि मेवाड़ के राजा अपराजित के समय के संवत् ७१८ के शिलालेख की लिपि से बहुत मिलती है। विराम चिह्न के स्थान में विसर्ग की नाईं कहीं कहीं दो विंदु भी दिए हैं।

लेख की भाषा संस्कृत है और पद्यमय है। रचना सुंदर है किंतु खोदने में अशुद्धियां बहुत हो गई हैं। ठौर ठौर अक्षरों की कमी होने से इतनी गड़बड़ हो गई है कि न छंद का पता चलता है, न अर्थ का समन्वय होता है, केवल ज्यों त्यों कुछ आशय जान पड़ता है। यदि इसे पद्य न मान कर पद्यगंधि गद्य मान लें तो अनुचित न होगा क्योंकि छंदोभंग और न्यूनाधिक अक्षरों से पद्यों का चरण-विभाग असंभव है। यह रचना का दोष भी हो सकता है और खोदनेवाले का भी। पहली चार पंक्तियों में तो बिलकुल गड़बड़ हो गई है। इनमें दो पृथ्वीछंद मा े जा सकते हैं। आगे तीन

---

१ एपि० इंडि०, जिल्द ४, पृ० ३१।

आर्या हैं किंतु उनमें भी मात्राओं की न्यूनाधिकता और व्याकरण दोष हैं। चौथा छंद आर्या, अनुष्टुप् और गद्य की खिचड़ी है। आगे के अंश को बिना संकोच गद्य ही कह देना अच्छा है। पाठ तथा छंद की विशेषताओं का विवेचन लेख के नीचे टिप्पणियों में किया गया है।

लेख के चार भाग किए जा सकते हैं— (१) मंगलाचरण, (२) राजवर्णन, (३) जेंतक महत्तर और उसके बनाए अरण्यवासिनी देवी के देवकुल की प्रशस्ति तथा जेंतक की मृत्यु का वर्णन, (४) संवत्। पंक्ति १ से ४ तक मंगलाचरण है। इसमें छंद, चरण, अन्वय, भाषा सभी का गोलमाल है। इतना जान पड़ता है कि चंडिका के सूर्यकिरणों से विकसित कमलों के समान चरण, अग्निज्वालासदृश केसरों से युक्त सिंह, भगवती के नूपुर, शूल से विदारित असुर (महिषासुर) के वक्षःस्थल से बहते हुए रुधिर और उसे देख कर सिंह के भय और चापल्य का उल्लेख होने से तथा देवी के मंदिर की प्रशस्ति होने से दुर्गा की आशीर्वादात्मक स्तुति है। राजवर्णन ४-५ पंक्तियों में एक श्लोक में है। उसमें शत्रुओं के जीतनेवाले, देव ब्राह्मण गुरुजनों को आनंद देनेवाले अपने कुलरूपी आकाश के चंद्रमा शीलादित्य का पृथ्वी में जयकार कहा गया है। यह उस समय उस प्रांत का राजा होना चाहिए। पांचवीं पंक्ति से प्रस्तुत वर्णन है कि वटनगर से आए हुए महाजनों के समुदाय ने जिसमें जेक (जेंतक) मुखिया था, आरण्यक गिरि में लोगों का जीवन (साधन) आगर उत्पन्न किया। इसका यह अर्थ नहीं करना चाहिए कि महाजनों में मुख्य जे(न्त)क ही वटनगर से आया हुआ था और उसीने आगर उत्पन्न किया। क्योंकि महाजनं और जे(न्त)कप्रमुखं एकवचन में हैं और जेन्तकप्रमुखं बहुव्रीहि समास है जिसका अर्थ 'जेंतक है प्रमुख जिसका ऐसा महाजन' ही होता है। प्रमुख के, 'ख के ऊपर के अनुस्वार को विभक्ति का चिह्न और आगे के विसर्ग को विराम का सूचक मानें (जैसा कि इस लेख में और जगह भी है) तो महाजनं

जेकप्रमुखं ही शुद्ध पाठ हो सकता है क्योंकि समाहार में नपुंसक भी हो सकता है। इस लेख में विसर्ग चाहे व्यर्थ लगे हों किंतु अनुस्वार कहीं व्यर्थ नहीं है। 'महाजनः जेकप्रमुखः' या 'महाजनं जेकप्रमुखं' दोनों का अर्थ महाजन संघ ही हो सकता है, न कि एक व्यक्ति। गुजरात में पंचायत या बिरादरी के अर्थ में 'महाजन' पद अब तक व्यवहार में आता है, जैसे आज महाजन मिला, महाजन ने यह आज्ञा दी (आज महाजन भेलुं थयुं, महाजने एवी आज्ञा आपी) आदि। यह लेख गुजरात की सीमा के निकट का है। महाजन शब्द के इस अर्थ का यह बहुत प्राचीन उदाहरण है। अकेले जेक (जेंतक) का आगर उत्पन्न करना और मंदिर बनाना होता तो मंदिर बनाने के लिये महाजन की आज्ञा क्यों ली जाती जैसा कि लेख (पंक्ति ९) में स्पष्ट है। महाजन (महाजनों के संघ) की आज्ञा से जे[न्त]क महत्तर ने श्री अरण्यवासिनी (देवी) का देवकुल बनाया जो नाना देशों से आए हुए अट्ठारह बैतालिकों (स्तुतिगायकों) से विख्यात और नित्य आए हुए धन-धान्य-संपन्न मनुष्यों की भीड़ से भरा पूरा था। उसकी प्रतिष्ठा करके चिर काल तक पालना होने की कामना की गई है। आगे शायद लिखा है कि जेंतक महत्तर यमदूतों को आता हुआ देख कर देवुवक सिद्धायतन में अग्नि में प्रविष्ट हुआ। दो जगह नाम 'जेक' ही दिया है, तीसरी जगह 'जेंतक' है, 'जेक' लौकिक भाषा का (जेका) और जेंतक संस्कृत शैली का (जयंतक) रूपांतर है।

संवत् का अंश बड़े महत्त्व का है। पहला अक्षर 'स' है जो सैकड़े बताने का संकेत है। और शिलालेखों में 'संवत्सो' लिखा मिलता है जिसका भी यही अर्थ है। आगे सात का अंक पुरानी शैली का वर्त्तमान एक के अंक का सा है। स के आगे ७ आने से अर्थ हुआ ७००। आगे ३ का अंक होने से संवत् ७०३ का अभिप्राय है। यह संवत् विक्रम संवत् ही है क्योंकि इन प्रांतों में उसीका प्रचार था। राजपूताने के लेखों में जिस संवत् के साथ कोई विशेष उल्लेख न हो उसे विक्रम संवत् माना जाता है। लिपि का काल भी

यही बतलाता है। आगे विराम चिह्न के अनंतर 'कतिक' पढ़ा जाता है जिसका अर्थ कार्तिक है आगे इ की मात्रा है। जो दि (=दिन) या ति (=तिथि) का अंश हो सकती है किंतु पत्थर टूट गया है।

शीलादित्य नाम के साथ लेख में वंश का निर्देश नहीं किया है जिससे संदेह हो सकता है कि यह शीलादित्य कौन और किस वंश का था? परंतु यह शिलालेख मेवाड़ देश में मिला है और उस समय मेवाड़ में गुहिलवंशियों का राज्य हो गया था; जिससे इतना जाना जा सकता है कि यह शीलादित्य गुहिल हो और इसकी पुष्टि इससे होती है कि उसी प्रांत में, जहाँ हमारे शीलादित्य का शिलालेख मिला है, गुहिलवंशी अपराजित[२] का भी शिलालेख मिला है और वह शिलालेख इस शिलालेख के अत्यंत समीप के समय का है; उसमें गुहिल वंश का निर्देश स्पष्टतया किया गया है। यथा—

"राजा श्रीगुहिलान्वयामलपयोराशौ स्फुरद्दीधिति-
ध्वस्तध्वान्तसमूहदुष्टसकलव्यालावलेपान्तकृत्।
श्रीमानित्यपराजितः क्षितिभृतामभ्यर्चितो मूर्धभि-
र्वृत्तस्वच्छतयैव कौस्तुभमणिर्जातो जगद्भूषणम्॥"

यह अपराजित का शिलालेख संवत् ७१८ का है और हमारा लेख संवत् ७०३ का है, अपराजित के लेख से केवल पंद्रह वर्ष पूर्व का है; इससे यह भी प्रतीत होता है कि अपराजित का पिता शीलादित्य हो तो कुछ असंभव नहीं। इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि मेवाड़ के लेखों में अपराजित का पिता शील लिखा मिलता है। आटपुर के संवत् १०३४ के गुहिल शक्तिकुमार के लेख[३] की वंशावली में अपराजित का पिता शील लिखा हुआ है. यथा—

"यस्यान्वये जगति भोजमहेन्द्रनाग-
शीलापराजितमहेन्द्रजयैकवीराः॥"

२ देखो, एपि० इंडि०, जिल्द ४, पृ० ३१।
३ देखो, इंडि० एंटि०, जिल्द ३९, पृष्ठ १८१।

इस पद्य में उत्तरोत्तर पुत्रों के नाम हैं, जैसे भोज का पुत्र महेंद्र-नाग, महेंद्रनाग का पुत्र शील, उसका पुत्र अपराजित और उसका पुत्र महेंद्र। इससे स्पष्ट है कि अपराजित का पिता शील था, और इस शील का नाम केवल शक्तिकुमार के दानपत्र में ही नहीं किंतु मेवाड़ के दूसरे भी बहुत से शिलालेखों में लिखा मिलता है[४]।

उक्त लेखों से अपराजित का पिता शील सप्रमाण सिद्ध है। अब इस बात का विचार करना है कि अपराजित का पिता शील और हमारे शिलालेख का शीलादित्य क्या ये भिन्न भिन्न दो व्यक्ति हैं किंवा दोनों एक ही व्यक्ति हैं ? इसका निर्णय करने के लिये कुछ अधिक युक्तियों की आवश्यकता नहीं है; इसके लिये तो केवल एक यही प्रमाण पर्याप्त होगा कि अपराजित के शिलालेख से शीलादित्य का शिलालेख अत्यंत समीप का है, केवल पंद्रह १५ वर्ष का अंतर है जितना कि पिता पुत्र में अंतर हुआ करता है। इनके पिता पुत्र होने को फिर यह प्रमाण अधिक पुष्ट करता है कि दोनों के शिलालेख उसी एक देश में उपलब्ध हुए हैं। अब रहा शील और शीलादित्य यों भिन्न भिन्न रीति से नाम निर्देश। इस विषय में यह समाधान है कि एक ही व्यक्ति को शील और शीलादित्य लिखने की प्रथा प्रथम से चली आती है, दूसरे कई वंशों के शिलालेखों भी में एक ही राजा का पूरे नाम और नाम के एकदेश से व्यवहार पाया जाता है। इसी वंश के मूलपुरुष गुहदत्त का नाम भिन्न भिन्न प्रकार से लिखा मिलता है, कहीं गुहिल, कहीं गुहादित्य, कहीं गुहदत्त और कहीं ग्रहादित्य। आटपुर के संवत् १०३४ के लेख में 'गुहदत्त'; चित्तौड़, अचलेश्वर और राणपुर के संवत् १३३१, १३४२ और १४९६[५] के शिलालेखों में 'गुहिल'; और कुंभलगढ़ के संवत् १५१७ के शिला-लेख[६] में गुहिल और गुहदत्त दोनों का निर्देश किया है—

४. देखो चित्तौड़गढ़ का संवत् १३३१ का (भावनगर इन्स्क्रुपशन्स पृ० ७४–७७), और अचलेश्वर का संवत् १३४२ का शिलालेख (इंडि० एंटि० जि० १६, पृ० ३४७-५१)।

५. भावनगर इंस्क्रुपशंस पृ० ११४--१५। ६. यह अभी छपा नहीं है।

"गुहप्रदानाद्गुहदत्तनामा
वंशोऽयमुक्तो गुहिलश्च कैश्चित् ॥"

राजसमुद्र की प्रशस्ति में 'गुहादित्य', मूहणोत नैणसी की ख्यात में 'गुहादित' जो 'गुहादित्य' का अपभ्रंश रूप है, और डूँगरपुर के रावल पुंजा के अप्रकाशित शिलालेख में ग्रहादित (ग्रहादित्य) लिखा है। इसी गुहदत्त से प्रवृत्त हुए वंश का कथन गुहिलपुत्र, गोभिलपुत्र, गूहिलोत और गौहिल्य शब्दों से किया गया है। वर्तमान समय में गुहिलवंशी गुहिलोत वा गेहलोत कहलाते हैं। यह शब्द संस्कृत 'गुहिलपुत्र' शब्द से बिगड़ कर बना है, प्रथम 'गुहिलपुत्र' शब्द का अपभ्रंश 'गुहिलउत' हुआ; तदनंतर संधि होकर गुहिलोत बन गया। उसी गुहिलोत शब्द के स्थान में गेहलोत और गैलोत भी कहा जाने लगा। मूँहणोत नैणसी अपनी ख्यात के आरंभ में लिखता है, 'श्री आदि गेहलोत'। गुहिलपुत्र शब्द का प्रयोग विक्रमी संवत् १३३५ के शिलालेख[७] में, जो चित्तौड़गढ़ में मिला था और अभी उदयपुर विक्टोरिया हाल में है, किया गया है—

"श्रीएकलिङ्गहराराधनपाशुपताचार्यहारीत-
राशि...क्षत्रियगुहिलपुत्रसिंहलब्धमहोदयाः"

इसमें सिंह को, जो मेवाड़ के राजाओं की वंशपरंपरा में है, गुहिलपुत्र लिखा है।

भेराघाट के आल्हणदेवी (हंसपाल के पौत्र, वैरिसिंह के पुत्र विजयसिंह की कन्या) के कलचूरि संवत् ९०७ (विक्रम संवत् १२१३, ईसवी सन् ११५६) के शिलालेख[८] में 'गोभिलपुत्र' लिखा है—

७—इंडि० एंटि० जि० ३९, पृ० १८९।

८—देखो एपि० इंडि० जिल्द २ पृष्ठ ११-१२।

"अस्ति प्रसिद्धमिह गोभिलपुत्रगोत्रं
तत्राजनिष्ट नृपतिः किल हंसपालः।"

इसमें हंसपाल को, जो मेवाड़ के राजाओं की वंशावली में है, 'गोभिलपुत्र' लिखा है। इसका अपभ्रंश होकर 'गोहिलोत,' और 'गूहिलोत' ये शब्द प्रचलित हुए हैं। उक्त प्राकृत रूप 'गूहिलोत' शब्द का प्रयोग आसिकादुर्ग (जिसे अब हाँसी कहते हैं) के वि० संवत् १२२४ (ई० स० ११६८) के शिलालेख[1] के तीसरे श्लोक में किया गया है—

"गूहिलोतान्वयव्योम मण्डनैकशरच्छशी।"

यह पद्य चाहमान पृथ्वीराज के मामा किल्हण के वर्णन में है जिसे पृथ्वीराज ने आसिकादुर्ग का रक्षक नियत किया था।

वि० सं० १३३१ (ई० स० १२७४) के चित्तौड़गढ़ के तथा कुंभलगढ़ के संवत् १५१७ के शिलालेखों में अपत्यार्थक तद्धित का 'य' प्रत्यय लगा कर 'गौहिल्य' शब्द का प्रयोग किया गया है—

"यस्मादयं गुहिलवर्णनया प्रसिद्धां
गौहिल्यवंशभवराजगणोऽत्र जातिम्॥"

हमारा शीलादित्य गुहिलवंशी है, तथापि शीलादित्य नाम के अनेक राजा हो जाने से कितने एक ऐतिहासिक पुरुष भ्रम में पड़ कर काठियावाड़ के शीलादित्य को इससे मिला देते हैं। परंतु काठियावाड़ में भी शीलादित्य नाम के छः राजा हुए हैं जो वलभीपुर के स्वामी थे। उनमें अंतिम राजा का नाम भी शीलादित्य था। कई लोग वलभीपुर के शीलादित्य को गुहिलवंशी मान कर गुहिलों का आदि स्थान वलभीपुर बतलाते हैं।

कर्नल टॉड साहिब भी वलभीपुर के अंतिम राजा शीलादित्य को गुहिलवंश का मूलपुरुष मानकर गुहिलोतों का आदि स्थान वलभीपुर बतलाते हैं परंतु वह शीलादित्य हमारे शिलालेख का

१—यह असल शिलालेख एडिनबर्ग के रायल स्काटिश म्युज़ियम में है। (इंडि० एंटि० जि० ४१, पृ० १९)

शीलादित्य नहीं है। क्योंकि वलभीपुर के अंतिम राजा छठे शीलादित्य का एक दानपत्र वलभी(गुप्त)संवत् ४४७ (विक्रमी संवत् ८२३,ई० स० ७६६) का मिला है,[१०] जिससे जाना जाता है कि उक्त संवत् तक वलभीपुर का राज्य विद्यमान था। एक जैन लेखक लिखता है कि "वीर संवत् ८२५ में वलभी के राज्य का नाश हुआ[११]।" यह वीर संवत् नहीं, विक्रम संवत् होना चाहिए। इससे पाया जाता है कि विक्रमी नवम शताब्दी के आरंभ में सिंध के अरबों द्वारा वलभी का राज्य नष्ट हुआ हो। वलभीपुर के अंतिम राजा शीलादित्य का समय विक्रम संवत् ८२३ निश्चित है, और हमारे शिलालेख के शीलादित्य का समय ७०३ है, इनमें एक सौ बीस वर्ष का अंतर है; हमारा शीलादित्य १२० वर्ष पहले हुआ है और वलभीपुर का शीलादित्य उससे १२० वर्ष पीछे हुआ है। तो वे दोनों एक कैसे हो सकते हैं ?

अतएव यह शीलादित्य मेवाड़ का राजा, वंश के स्थापक गुहिल से पाँचवाँ वंशधर और नाग का पुत्र तथा अपराजित का पिता था।

जिस महाजन संघ का मुखिया जेंतक था उसको वटनगर से निकला हुआ (विनिर्गत) कहा गया है। महाजनों तथा अन्य लोगों के उपनाम प्रायः अपने निकास की भूमि—उनके पूर्वजों की जन्म-भूमि— का स्मरण दिलाया करते हैं। राजपूताने में बहुत सी जातियों के गोत्रनाम उनके अभिजन अर्थात् पूर्वजों के निवास के सूचक हैं। जिस वटनगर से जेंतक आदि आए थे वह कौन सा है यह विचारणीय है। यह वटनगर सामोली से थोड़ी ही दूरी पर का सिरोही राज्य का वसंतगढ़ नामक प्राचीन नगर है। वहाँ से मिले हुए परमार राजा पूर्णपाल के समय के विक्रम संवत् १०९९ के लेख में उसे वटपुर और वटनगर कहा है[१२] और एक जगह उस स्थान का निर्देश 'वटेषु'

१०—फ्लीट, गुप्त इंस्क्रिपशंस्, पृष्ठ १७८।

११—टॉड राजस्थान, पं० गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा संपादित, खंड १, पृष्ठ ३१८।

१२—एपि० इंडि०, जिल्द ९, पृष्ठ ११।

पद से किया है। वहीं से मिले हुए राजा वर्मलात के विक्रम संवत् ६८२ के शिलालेख में उसे वटाकर स्थान कहा है[13]। वहाँ अब भी बड़ के पेड़ बहुत हैं। साधारण दृष्टि से वटनगर नाम गुजरात के बड़नगर से मिलता हुआ होने से यह कल्पना हो सकती है कि जेंतक आदि महाजनों के पूर्वपुरुष बड़नगर से आए हों, किंतु बड़नगर नाम पुराना नहीं है और न किसी प्राचीन लेख में मिलता है। उसका प्राचीन नाम आनंदपुर था जो पुराने लेखों में मिलता है।

आरण्यकगिरि कहाँ तथा कौन सा है इसका पता लगाना कठिन है। सामोली गाँव के पास की पहाड़ी भूमि में ही कहीं वह होना चाहिए। जेंतक आदि महाजनों ने वहाँ 'आगर' उत्पन्न किया था जो वहाँ के लोगों का जीवन कहा गया है। 'आगर' संस्कृत आकर (खनि, खान, कान) का अपभ्रंश है। राजपूताने में नमक की खान को 'आगर' कहते हैं। महाजनों ने अपने जातिस्वभावसिद्ध व्यवसाय से खोज कर वहाँ आरण्यक पर्वत में 'आगर' उत्पन्न किया। खान का काम चल निकलने पर दूर दूर के महाजन वहाँ आकर बस गए, उनकी आज्ञा से स्थान के नाम पर अरण्यवासिनी देवी का देवकुल (मंदिर) बनाया गया। नाना देशों से अठारह वैतालिकों के आने से विख्याति होने तथा धन धान्य से हृष्ट पुष्ट प्रविष्ट जनों की नित्य भीड़ भाड़ होने के उल्लेख से न केवल मंदिर की किंतु नगर की भी समृद्धि जान पड़ती है। देवकुल, देवल, देउल, देहरा सबका अर्थ देवमंदिर होता है। जेंतक को महत्तर की उपाधि (पदवी) थी। महत्तर राजकर्मचारियों में बड़ा ऊँचा पद था। दक्षिण के राष्ट्रकूटों के लेखों में 'महत्तराढीन् सम्बोधयति' लिखा मिलता है। इसका अपभ्रंश 'महता' उपाधि है जो ब्राह्मण, खत्री, महाजन, कायस्थ, पारसी आदि कई जातियों के पुरुषों के नाम के साथ उनके पुराने मान की सूचक होकर अब तक लगती चली आती है। फारसी में महतर बहुत ही प्रतिष्ठित अधिपति का सूचक है, जैसे चित्राल के महतर।

१३—एपि० इंडि०, जिल्द ६, पृ० १८७।

अंत की डेढ़ पंक्ति का जो अभिप्राय हमने समझा है उसके अनुसार जान पड़ता है कि जेंतक ने वृद्धावस्था आने पर (यमदूतों को देख कर) देवुवक नामक सिद्ध स्थान पर चितारोहण करके शरीर त्याग किया[१४]। संभव है कि संवत् देवी के मंदिर की स्थापना का न होकर जेंतक के शरीरत्याग का हो ।

लेख का पाठ[१] ।

(पंक्ति) १ ओं[२] नमः ॥ पुनातु दिनकृ[३]मरीचिविच्छुरितपद्मपत्र-
च्छविर्दुरितमाशुश्च[४]ण्डिका[५]पद्-
२ यं[६] ॥ हरे[७]शिखिशिखाभ[८]केसरस्थितमपास्त[९]रज-
नूपुराभ[१०]याः च्छुरित देविभावस-
३ टाः[११] असुरोरस्थलशूल:[१२]विनिर्भिन[१३]मुद्गिररुधिर-
निवहं । मवालोक्य[१४] केसरिवहतिति--

१४—देखो इसी संख्या में विविध-विषय, 'आत्मघात' ।

१ राय बहादुर पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा की तैयार की हुई छाप से । साक्षात् पत्थर से भी पाठ मिलाकर ठीक कर लिया गया है ।

२ सात के अंक का सा सांकेतिक चिह्न काम में लिया गया है ।

३ पढ़ो, दिनकृन्म° ।

४ पढ़ो, °माशु च° । °माशु नश्च° है क्या ?

५ 'ण्ड' पंक्ति के ऊपर टूटक की भांति खोदा गया है ।

६ चण्डिकापादपद्मद्वयं हो सकता है ।

७ पढ़ो, हरेः ।

८ शिखाभ° के 'ख' में 'ल' का भ्रम हो सकता है ।

९ °मपाम्भर° भी पढ़ सकते हैं, किंतु 'स्त' स्पष्ट है ।

१० पढ़ो, °भया ।

११ यहां विराम चिह्न चाहिए । यह पृथ्वी छंद है, प्रथम चरण तो 'छवि' पर समाप्त होता है किंतु आगे अक्षरों के कमी बढ़ती होने से चरणों का विभाग स्पष्ट नहीं ।

१२ पढ़ो, °रःस्थलं ।

१३ °विनिर्भिन्न° चाहिए ।

१४ अवालोक्य या यदालोक्य चाहिए । पाद पूर्ण होने पर भी अवालोक्य की

४ रश्चचापलममप्येव भयमुद्रि[15]जनिव:[16] ॥ जयति विजयी रिपूनां[17] देवद्विजगुरु--

५ जणानंन्दी:[18] श्रीशीलादित्यो[19] नरपति[20] स्वकुला-वर[21]चन्द्रमा पृथ्वी:[22] ॥ जयति[23]वट-

६ नगरविनिर्गत महाजनं[24] जेकप्रमुखं:[25] । येनास्य लोक[26]जीवनं आगर[27] मु--

७ आदि मारण्यकुगिरौ:[28] । नानादिदेशमागत अष्टा-[29] दशवेतालिलेक विख्यातं:[30] ॥

'निवह' के साथ संधि कर दी हो।

१५ °मुद्रिजत्रिव (°मुद्रि जान इव) है क्या ?

१६ इस छंद का पता नहीं चलता, न उत्तरार्ध का अर्थ स्पष्ट है। 'यदालोक्य केसरी वहति तिरश्चां चापलमप्येव भयमुद्रिजत्रिव(मुद्रि जान इव)' हो सकता है।

१७ पढ़ो, रिपूणां ।

१८ पढ़ो, जनानन्दी ।

१९ विरामचिह्न चाहिए ।

२० पढ़ो, °पतिः ।

२१ पढ़ो, °कुलाम्बर° ।

२२ पढ़ो, °माः पृथ्व्याम् । यह आर्या छंद है परंतु उत्तरार्ध में 'श्री' अधिक है और, नरपतिः, पढ़ने से छंद टूटता है ।

२३ आर्या छंद है। प्रथम चरण में एक मात्रा अधिक है। उत्तरार्ध में गड़बड़ है।

२४ महाजनः (नो) भी हो सकता है।

२५ जेन्तकप्रमुखः भी हो सकता है। पंक्ति १० में जेन्तक पूरा नाम है । यहां खोदने में 'न्त' रह गया है जिसे जोड़ने से छंद पूरा हो जाता है।

२६ 'लोकस्य जीवन' पाठ शुद्ध होता क्योंकि 'अस्य' पृथक् है, समास में नहीं। सुधारने से छंद टूटता है।

२७ पढ़ो, °नमागर° ।

२८ पढ़ो, °मुत्पादितमारण्यकगिरौ ।

२९ नानाविदेशसमागताष्टादश° चाहिए, परंतु इसमें छंदोभंग होता है। छंद आर्या ही है।

३० पढ़ो, °वैताालिकलोकविख्यातम् ।

८ धनधान्यहृष्टपुष्टविष्ट[३१]जननित्यसंबाधं ॥ एभिर्गुणै
युतं[३२] तत्र [जे]--

९ कमहतर[३३] श्रीअरण्यवासिण्या[३४] देवकुलं चक्रे
महाजनादिष्ट[३५] ॥ देवी [द]...

१० प्राप्यंमनुपालयतु[३६] चिरं:[३७] स च जेंतकमहतर:
आ [स]... ... ...

११ वस्वतदूता समवेत्त[३८]। देवुवक सिधायत[ ][३९] ... .

१२ लनं प्रविष्ट[४०]॥ ७०० ३॥ कति [र्का][४१].. ... ...

---

३१ °पुष्टप्रविष्ट° पढ़ने से छंद और अर्थ दोनों की रक्षा होता है।

३२ पढ़ो °र्णैयु'तं।

३३ पढ़ो, जेकिमहत्तरः, आठवीं पंक्ति के अंत में °न्त° का स्थान नहीं है।

३४ पढ़ो, वासिन्या।

३५ पढ़ो, °दिष्टः। यह गद्य है या पद्य ठीक कहा नहीं जा सकता, 'एभिर्गुणै-र्यु'तं तत्र' अनुष्टुभ् का प्रथम चरण हो और '°वकुलं चक्रे महाजना दिष्टः' आर्या का चौथा चरण!

३६ प्रतिष्ठाप्यमनु° हो सकता है। पालयन्तु भी हो सकता है।

३७ पढ़ो, चिरम्। विरामचिह्न चाहिए।

३८ 'वैवस्वतदूतान् समवेक्ष्य' हो सकता है।

३९ 'सिद्धायतने' हो सकता है।

४० ज्वलनं प्रविष्टः हो सकता है।

४१ पढ़ो, कार्तिक।

२२—विविध विषय।

[लेखक—पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बी० ए०, अजमेर]

(पत्रिका भाग १, पृष्ठ २२० के आगे)

(८) आत्मघात।

आत्मघात करना महापाप माना जाता है। आत्मघातियों के लिये आशौच, जलदान, पिंडदान आदि उत्तर कर्मों का, पातकियों की तरह, निषेध किया गया है[१]। गौतम स्मृति में इस निषेध के वचन में आत्मघात की प्रचलित रीतियाँ बताई गई हैं—प्राय, अनाशक, शस्त्र, अग्नि, विष, उदक, उद्बंधन, प्रपतन[२]। 'प्राय' का अर्थ भूखा रहकर मरना होता है,[३] वही अर्थ 'अनाशक' का है, इसलिये यहाँ पर गौतम के टीकाकारों ने प्राय का अर्थ महाप्रस्थानगमन अर्थात् शरीर त्याग पर्यंत हिमालय की यात्रा करना, जैसा पांडवों ने किया था[४], किया है। अनाशक = अनशन = भूखा रहकर मरना। शस्त्र, अग्नि, विष, उदक (= जल) स्पष्ट हैं। उद्बंधन गले में फाँसी लगाकर मरना और प्रपतन (= भृगुपतन) ऊँचे पहाड़ पर से कूदकर प्राण देना है। किंतु पति के साथ सती के सहमरण को पातक नहीं माना है[५]

---

१ व्यापादयेद् वृथात्मानं स्वयं योऽग्न्युदकादिभिः।
विहितं तस्य नाशौचं नाग्निर्नाप्युदकादिकम्॥ (कूर्मपुराण)

२ प्रायोऽनाशकशस्त्राग्निविषोदकोद्बंधनप्रपतनैश्चेच्छताम् (गौतम)

३ अहं वः प्रतिजानामि न गमिष्याम्यहं पुरीम्।
इहैव प्रायमासिष्ये श्रेयो मरणमेव च॥ (वाल्मीकिरामायण ४।२३।१२)

४ महाध्वनिक = महाप्रस्थानयात्री।

५ ऋग्वेदवादात्साध्वी स्त्री न भवेदात्मघातिनी (ब्रह्मपुराण)
यहाँ पर ऋग्वेदवाद से अभिप्राय 'इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा संविशन्तु। अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे, (मंडल १०।१८।७) मंत्र से है। यहां पर "योनिमग्नेः" पाठ से सतीदाह

और असाध्यरोगी और असमर्थों के आत्मघात को उतना बुरा नहीं कहा गया है[६] ।

ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं कि राजाओं अथवा अन्य जनों ने अग्नि में या गंगा आदि पुण्य नदियों में प्राण दे दिए। रामायण में जहाँ दशरथ कौसल्या को मुनिकुमार के शब्दवेधी बाण से मारे जाने पर अंधमुनि के शाप की कथा कह रहे हैं वहाँ मुनिदंपती का दुःख से चितारोहण कहा गया है[७] । राजा शूद्रक अग्नि में जलकर मरा था[८] । चंदेल राजा यशोवर्मा का पुत्र धंगदेव गंगा में डूबकर मरा

का समर्थन किया जाता था किंतु प्राचीन पाठ 'अग्रे' है। वैदिक काल में कभी कभी सतीदाह होता था जैसा कि और कई सभ्य, असभ्य जातियों में था। हेराडोटस ने थ्रेसी, सीथियन और हेरुली जातियों के दृष्टांत दिए हैं और वीनहोल्ड ने जर्मनी के; किंतु यह पूर्णतया प्रचलित न वहाँ था, न यहाँ। वैदिक काल में यह रीति प्राचीन हो चली थी (इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्। धर्मं पुराणमनुपालयंती,—अथर्ववेद १८।३।१) और स्त्री को प्रेत के पास केवल लिटा कर दस्तूर पूरा कर लिया जाता था, फिर देवर उसे हाथ पकड़ कर उठा लेता था (उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि। हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ,—ऋग्वेद १०।१८।७, अथर्व १८।३।२; अथास्य भार्यामुप संवेशयन्ति।...उत्थापयति,—बोधायन गृह्यसूत्र १।७।७ से १।८।३-५)। वैदिक आर्यों में सतीदाह साधारणतः नहीं होता था। विष्णुस्मृति में भी 'मृते भर्तरि ब्रह्मचर्यं तदारोहणं वा' में जीवित रहकर ब्रह्मचर्य को मुख्य और सहमर को गौण कहा है।

६ वृद्धः शौचस्मृतेलुप्तः प्रत्याख्यातभिषक्क्रियः। आत्मानं घातयेद् यस्तु भृग्वग्न्यनशनाम्बुभिः। तस्य त्रिरात्रमाशौचं (आदिपुराण), गच्छेत महापथं वापि तुषारगिरिमादरात्...सर्वेन्द्रियविमुक्तस्य स्वव्यापाराक्षमस्य च। प्रायश्चित्तमनुज्ञातमग्निपातो महापथः। (ये वाक्य निबन्धों से लिए गए हैं) अनुष्ठानासमर्थस्य वानप्रस्थस्य जीर्यतः। भृग्वग्निजलसंपातैर्मरणं प्रविधीयते (रघुवंश ६।८१ पर मल्लिनाथ की टीका में उद्धृत)

७ वाल्मीकि, अयोध्याकांड ६४।६६, रघुवंश ६।८१

८ मृच्छकटिक नाटक, प्रस्तावना।

था[९]। गुजरात का सोमेश्वर (आहवमल्ल) सोलंकी एकाएक दाहज्वर चढ़ने तथा नैरोग्य होने की आशा न होने से दक्षिण की गंगा समान तुंगभद्रा नदी में जलसमाधि लेना निश्चित कर मंत्रियों की सम्मति से वहाँ गया और शिव की आराधना करते करते जल-निमग्न हो परलोक को गया[१०]। सामोली के गुहिल शीलादित्य के समय के सं० ७०३ के शिलालेख से जाना जाता है कि जेंतक महत्तर वैवस्वत के दूतों को आता हुआ देखकर किसी सिद्धायतन में अग्नि में प्रविष्ट हुआ[११]। बल्लालसेन रचित 'अद्भुतसागर' की भूमिका में लिखा है कि गौडेंद्र (बल्लालसेन) ने शक संवत् १०९० (ई० स० ११६८) में इस ग्रंथ का प्रारंभ किया किंतु समाप्त होने को पूर्व ही पुत्र (लक्ष्मणसेन) को गद्दी पर बिठाकर, ग्रंथ पूर्ण करने का भार उसपर डाल, गंगा में अपने दान के जल के प्रवाह से यमुना का संगम बनाकर, वह स्त्रीसहित स्वर्ग को गया और उसके पुत्र लक्ष्मणसेन के उद्योग से अद्भुतसागर पूर्ण हुआ[१२]। लाहौर के राजा जयपाल ने भी वृद्धावस्था में मुसलमानों से हारकर लज्जित हो कर अग्नि में जलकर प्राणत्याग किया था[१३]। प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट ने 'यदि वेदाः प्रमाणं' कह कर पूर्वपक्ष में भी वेद की प्रामाणिकता में शंका करने की नास्तिकता के प्रायश्चित्त में तुषाग्नि में जलकर प्राण दिए थे यह कथा प्रसिद्ध है।

इससे जान पड़ता है कि कई लोग आत्मघात को पाप और "अंधेरे से घिरे हुए असुरों के लायक लोकों"[१४] में पहुँचानेवाला

---

९ एपि० इंडि० जिल्द १, पृ० १४६, श्लोक ५५।

१० विक्रमांकदेवचरित, सर्ग ४ श्लोक ४६-६८।

११ इसी संख्या में पहले।

१२ अद्भुतसागर की भूमिका; पं० गौरीशंकर ओझा, सोलंकियों का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० १५ टिप्पण; प्राचीन लिपिमाला, द्वितीय संस्करण, पृ० १८४-५, टिप्पण २।

१३ तारीख यमीनी, इलियट, जिल्द २, पृ० २७।

१४ असुर्या नाम ते लोका अंधेन तमसाऽवृताः ॥

जान कर भी इन कारणों से उसको स्वीकार करते थे— (१) किसी असाध्य दुःख वा रोग के क्लेशों से बचने के लिये, (२) किसी ऐसी लज्जा से बचने के लिये जिसको मिटाने की उन्हें आशा न हो, (३) वीरों के लायक़ शस्त्र से मृत्यु पाने का मौका न पाकर, (४) किसी बड़े अपराध के प्रायश्चित्त के लिये। इन सबका कारण यही है कि वीर लोग--सभी देशों में और सभी कालों में—खटिया पर पड़कर मरने से युद्ध में मरना अच्छा मानते आए हैं और कीर्ति नष्ट होना मरने से भी कष्टतर समझते रहे हैं।

महाभारत, कर्णपर्व, में भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि का हराया जाना और मरण सुनकर धृतराष्ट्र संजय से कहते हैं—

संजम ! यदि मैं ऐसे दुःखों से नष्ट नहीं होता तो अवश्य मेरा अटूट हृदय वज्र से भी कड़ा है। संबंधी, जातिवाले, और मित्रों का यह पराजय सुनकर मेरे सिवा ऐसा मनुष्य कौन है जो प्राण न छोड़े ? मैं विष खाना, आग में जल मरना, पहाड़ के शिखर से कूदना (स्मृतियों का भृगुपतन) हिमालय में गलने जाना, पानी में डूब मरना, या भूखे रहकर मरना अच्छा मानता हूं, परंतु संजय ! कष्ट-मय दुःखों को नहीं सह सकूंगा[१५]।

भीष्म ने दुर्योधन को उपदेश दिया है कि—

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ (यजुर्वेद ४० । ३)

उपनिषदों के भाष्यकारों ने यहाँ पर 'आत्महनः' को ब्रह्मज्ञान में ध्यान न लगाकर इंद्रियपूजा में लगे हुए लोगों के अर्थ में लिया है परंतु भवभूति ने उत्तररामचरित में जनक के मुख से इसका अर्थ 'आत्मघाती' ही कहलवाया है।

१५· ईदृशैर्यद्यहं दुःखैर्न विनश्यामि संजय ॥
वज्राद्दृढतरं मन्ये हृदयं मम दुर्भिदम् ।
ज्ञातिसंबन्धिमित्राणामिमं श्रुत्वा पराभवम् ।
को मदन्यः पुमाँल्लोके न जह्यात्सूत जीवितम् ॥
विषमग्निं प्रपातं च पर्वताग्रादहं वृणे ।
महाप्रस्थानगमनं जलं प्रायोपवेशनम् ।
न हि शक्ष्यामि दुःखानि सोढुं कष्टानि संजय ॥

(भारत, कर्णपर्व, ५।३०-३२)

कीर्ति की रक्षा करो, कीर्ति ही परम बल है; जिस मनुष्य की कीर्ति नष्ट हो गई है उसका जीना निष्फल है। जब तक मनुष्य की कीर्ति नष्ट नहीं होती तब तक वह जीता है; हे गांधारी के पुत्र, जिसकी कीर्ति नष्ट हो गई वह रहता ही नहीं[१६]।

शांतिपर्व में लिखा है कि क्षत्रिय के लिये यह अधर्म है कि खटिया पर मरे। जो क्षत्रिय दीनता से रोता हुआ, बलगम और पित्त बहाता हुआ, शरीर को बिना छिदाए मरता है तो प्राचीन बातों को जाननेवाले उसके उस कर्म को नहीं सराहते। क्षत्रियों का घर में मरना, वीरों का कायरों की तरह मरना, प्रशंसित नहीं है, वह अधर्म और दया के योग्य है। यह दुःख है, यह कष्ट है, कैसा पाप है—यों कराहता हुआ, मुँह बिगाड़े हुए, दुर्गंधियुक्त, पास बैठे हुओं का सोच करता हुआ, बार बार नीरोगों की दशा की ईर्षा करता है या मृत्यु चाहता है। वीर अभिमानी और बुद्धिमान् ऐसी मृत्यु के लायक नहीं है। युद्ध में मार काट करके मित्रों से आदर किया गया, तीक्ष्ण शस्त्रों से कटा हुआ क्षत्रिय मृत्यु के लायक होता है। बल और क्रोध से भरा हुआ शूर वीर युद्ध करता है और शत्रुओं से काटे जाते हुए अपने अंगों की परवाह नहीं करता। यों युद्ध में मृत्यु पाकर वह लोक-पूजित श्रेष्ठ धर्म को प्राप्त करके इंद्र का सलोक होता है[१७]।

आश्चर्य की बात है कि वीरों के मरण के बारे में जो विचार

---

१६ कीर्त्तिरक्षणमातिष्ठ कीर्त्तिर्हि परमं बलम्।
नष्टकीर्त्तेर्मनुष्यस्य जीवितं ह्यफलं स्मृतम्॥
यावत्कीर्त्तिर्मनुष्यस्य न प्रणश्यति कौरव।
तावज्जीवति गान्धारे नष्टकीर्त्तिर्न जीवति॥१॥ (भारत, सभापर्व, २२२।१०,११)

१७ अधर्मः क्षत्रियस्यैष यच्छय्यामरणं भवेत्।
विसृजञ्श्लेष्मपित्तानि कृपणं परिदेवयन्॥
अविक्षतेन देहेन प्रलयं योऽधिगच्छति।
क्षत्रियो नास्य तत्कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः॥
न गृहे मरणं तात क्षत्रियाणां प्रशस्यते।

महाभारत में हैं । उन्हीं विचारों पर यूरोप की प्राचीन जाति नार्थमैन[१८] के रिवाज भी बने हुए थे । कार्लाइल लिखते हैं[१९]—

"पुराने नार्थमैन की वीरता बेशक बड़े जंगलीपन की थी । स्नारो लिखता है कि वे युद्ध में न मरने को लज्जा और कष्ट गिनते थे और जब मौत अपने आप आती जान पड़ती तो वे अपने मांस में काट काट कर घाव कर लेते इसलिये कि ओडिन देवता उन्हें युद्ध में मरा जान कर उनका स्वागत करे । पुराने राजा, जब वे मरनेवाले होते, अपना देह एक जहाज़ में रखवाते । जहाज़ में आग सुलगाई जाती और जहाज़ खे दिया जाता कि समुद्र में पहुँच कर एकदम भभक उठै जिससे वृद्ध वीर अपने स्वरूप के अनुसार आकाश के नीचे समुद्र पर दफ़न हो जाय ! यह जंगली खूंखार वीरता थी, पर एक प्रकार की वीरता अवश्य थी, मैं कहता हूँ कि वीरता न होने से तो अच्छी थी ।"

शौण्डीराणामशौण्डीर्यमधर्मं कृपणं च तत् ॥
इदं कृच्छ्रमहो दुःखं पापीय इति निष्टनन् ।
प्रतिध्वस्तमुखः पूतिरमात्याननुशोचयन् ॥
अरोगाणां स्पृहयते मुहुर्मृत्युमपीच्छति ।
वीरो दृप्तो मनस्वी च नेदृशं मृत्युमर्हति ॥
रणेषु कदनं कृत्वा सुहृद्भिः प्रतिपूजितः ।
तीक्ष्णैः शस्त्रैरभिक्लिष्टः क्षत्रियो मृत्युमर्हति ॥
शूरो हि सत्वमन्युभ्यामाविष्टो युद्ध्यते भृशम् ।
कृत्यमानानि गात्राणि परैर्नैवावबुध्यते ॥
स संख्ये निधनं प्राप्य प्रशस्तं लोकपूजितम् ।
स्वधर्मं विपुलं प्राप्य शक्रस्यैति सलोकताम् ॥

(महाभारत, शान्तिपर्व ९७ । २३—३०)

१८ नार्थमैन आर्य जाति की पश्चिमी शाखा के लोग थे जो जर्मनी, स्वीडन नार्वे, डेनमार्क आदि देशों में बस कर इंगलैंड पर चढ़ गए थे । इनके पुराणों में ओडिन थार आदि बलप्रधान देवों की कथाएं हैं । अँगरेज़ी सप्ताह के दिनों के कई नाम इनके देवताओं के नामों पर रक्खे गए हैं ।

१९ कार्लाइल, हीरो एण्ड डिविनिटी, पृष्ठ २१ ।

जैसा बिंब-प्रतिबिंब भाव पुरानी जातियों की चालों में मिलता है वैसा ही देश विदेश के कवियों की भाषा में भी मिलता है। यहाँ पर एक उदाहरण दिया जाता है। स्कॉट ने किसी अज्ञात कवि की यह कविता उद्धृत की है—

Sound, sound the clarion, ring the fife,
To all the sensual world proclaim;—
One crowded hour of glorious life
Is worth an age without a name.

इससे ठीक मिलता हुआ भाव महाभारत, उद्योग-पर्व मे है जहाँ विदुर ने अपने दुर्बल-मना पुत्र को उपदेश दिया है (१३३। १४-१५)—

अलातं तिन्दुकस्येव मुहूर्तमपि हि ज्वल।
मा तुषाग्निरिवानर्चिर्धूमायस्व जिजीविषुः॥
मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्।

घास फूस के पलीते की तरह घड़ी भर ही भभक उठ; प्राण बचाने की आशा में तुस की आग की तरह बिना चमके धुँधुँआता मत रह। घड़ी भर जलना अच्छा है, चिर काल तक धुआँ देना अच्छा नहीं।

(१०) गोसाईं तुलसीदासजी के रामचरितमानस और संस्कृत कवियों के काव्यों में बिंबप्रतिबिंब-भाव।

रुधिर गाढ़ भरि भरि जमेउ, ऊपर धूरि उड़ाइ।
जिमि अँगार राशीन्ह पर मृतकधूम रह छाइ॥

(लंका कांड)

स छिन्नमूलः क्षतजेन रेणु-
स्तस्योपरिष्टात्पवनावधूतः।
अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य
पूर्वोत्थितो धूम इवावभासे॥

(कालिदास, रघुवंश ७। ४३)

(११) चाणूर अंध्र ।

विष्णुसहस्रनाम[1] में विष्णु के हज़ार नामों में से एक 'चाणूरान्ध्र-

---

1 महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय २५४ (कुंभघोणं संस्करण) = अध्याय १४६ (प्रतापचंद्र राय का संस्करण) । महाभारत के सब पते कुंभघोणं संस्करण ही से दिए जायँगे ।

विष्णुसहस्रनाम, भीष्मस्तवराज, गीता, अनुस्मृति और गजेंद्रमोक्ष ये महाभारत के पंचरत्न कहे जाते हैं, इनमें से विष्णुसहस्रनाम (अनुशासन-पर्व, अध्याय २५४) भीष्मस्तवराज (शांतिपर्व, अध्याय ४६) श्रीमद्भग-वद्गीता (भीष्म-पर्व, अध्याय २५-४२) और अनुस्मृति (शांतिपर्व, अध्याय २१०, अनुगीता दूसरी चीज़ है, आश्वमेधिकपर्व, अध्याय १७-५१) तो वहां हैं, किंतु गजेंद्रमोक्ष का कहीं महाभारत में पता नहीं है । गजेंद्रमोक्ष जो पंचरत्नों में पढ़ा जाता है वह श्रीमद्भागवत में है (स्कन्ध, ८ अध्याय २-४)

कुछ समय बीता हिंदी के एक कवितामय पत्र में यह बात उठाई गई थी कि एक प्रसिद्ध प्रेस के छपे भागवत में 'विप्राद् द्विषड्गुणयुतात्०—' इत्यादि श्लोक नहीं छपा है सो यह स्मार्त पंडितों की चालाकी है । सांप्रदायिकों पर पुराणों में जोड़ देने का दोषारोपण तो सदा से होता आया है, स्मार्तों पर छाँट कर श्लोक निकाल देने का यह कलंक नया है । प्रेस के स्वामी ने क्षमा माँग ली । इस श्लोक को निकालने से स्मार्तों का क्या बन जाता और रहने से क्या बिगड़ता था ? यदि वैष्णव गुणयुक्त ब्राह्मण से श्वपच को अच्छा मानते हैं तो मानते रहें, स्मार्त भी मानते हैं, करके न वैष्णवों ने दिखाया, न स्मार्तों ने । उसी समय उसी पत्र में एक राज्यरत्न महाशय ने एक नई बात निकाली थी कि नारदपंचरात्र महाभारत में था, जैसा कि अकबर के समय के उसके अनु-वाद रज़मनामे से प्रकट है, पीछे स्मार्तों ने ही उसे महाभारत में से निकाल दिया । बात यह है कि महाभारत के अनुक्रमणिकापर्व आदि के अनुसार कहीं नारदपंचरात्र का ठूँसने की गुंजाइश नहीं, न कहीं महाभारत की कथा या उपाख्यानों में उसका बंध बैठता है । जैसे गजेंद्रमोक्ष भारत में पांचवां रत्न कहलाता है किंतु उसमें कहीं न होकर भागवत में है, वैसे नारदपंच-रात्र पृथक् ग्रंथ है । उसके उपक्रम, उपसंहार, प्रश्नोत्तर, कथाप्रसंग किसी में महाभारत का गंध नहीं । अकबर के समय में फ़ारसी जाननेवाले मुसलमान अनुवादकर्ता को जो कह दिया गया वही उसने मान लिया, महाभारत की पोथियों से आधुनिक रीति पर छान बीन कहां की गई थी ? हरिवंशपुराण

निषूदन'[२] भी है । इसका अर्थ होता है चाणूर नामक अंध्र को मारने-वाला । यही अर्थ शांकर भाष्य में किया है[३] । चाणूर मथुरा के राजा कंस का प्रसिद्ध मल्ल था जिसे श्रीकृष्ण ने मारा था[४] । उसे अंध्र

पृथक् ग्रंथ है किंतु महाभारत का खिल माना जाता है, उसकी कथाएँ भी भारत की ही कही जाती हैं, भागवत का गजेंद्रमोक्ष भी भारत का ही कहा जाता है, यों नारदपंचरात्र भी भारत का ही कहा जाता होगा । नारदपंचरात्र को कोई महाभारत से निकाल कर क्या ले लेता जब कि भागवतधर्म, पांच-रात्रागम, ऐकांतिक धर्म, सात्वतधर्म या भक्तिमार्ग महाभारत में स्थान स्थान पर बिखरा हुआ है ? महाभारत के शांतिपर्व में जो नारायणीयाख्यान (अध्याय ३४४-३४८ आदि) है उसीमें कथा है कि नर नारायण ऋषियों ने श्वेतद्वीप में इस धर्म का उपदेश किया, वहां से नारद इसे लाए और 'पंचरात्रानुशब्दित' करके इसका प्रचार किया । इसी से यदि नारदपंचरात्र को महाभरात के अंतर्गत कहा जाय तो कह सकते हैं । नारदपंचरात्र में द्वादश स्कंधों के भागवतपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, विष्णुपुराण, गीता और महाभारत का नामोल्लेख है । नारायणीय उपाख्यान के मूल पाठ में हंस को प्रथम अवतार, कूर्म को दूसरा, मत्स्य को तीसरा कहा है । फिर वराह आदि गिन कर राम दाशरथि (आठवां), सात्व (कृष्ण) नवां और कल्कि दसवां गिना गया है । नारदपंचरात्र में बुद्ध को नवाँ अवतार गिन कर आरंभ में हंस को छोड़ दिया गया है । इससे सिद्ध होता है कि नारदपंचरात्र का मूल उपादान महाभारत में होने पर भी वह पीछे का ग्रंथ है । रज़म नामे के अनुवादकर्त्ताओं को यही कह दिया गया होगा कि नारदपंचरात्र महाभारत में है । यों ही सांप्रदायिक खैंचतान के दिनों में पवित्रं ते विततं, प्र तद् विष्णोः, इत्यादि श्लोक, या प्रक्षिप्त अथवा कल्पित मंत्र, वेद से मिलती हुई भाषा में बनाए जाकर खिल, परिशिष्ट या 'इति श्रुतिः' तक की छाप से काम दे दिया करते थे, अब पदपाठ, सर्वानुक्रम, शाखाभेद, भाष्य आदि की पूरी जांच होने, प्राचीन पोथियों के विदेशों के पुस्तकालयों या सरकारी पुस्तकालयों में पहुँचने और कई प्रतियों से शोध कर पाठों के छप जाने से वह व्यवसाय बंद हो गया है ।

२ महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय २२४, श्लोक १०३ ।

३ श्रीवाणीविलास प्रेस, श्रीरंगं का स्मारक संस्करण, जिल्द १३ पृष्ठ १३८ (श्लोक १०१ का भाष्य) ।

४ महाभारत, उद्योगपर्व, अध्याय, १३० श्लोक ४१, श्रीमद्भागवत स्कंध १०,

कहने के दो ही अर्थ हो सकते हैं, या तो वह अंध्र नामक वर्णसंकर (प्रतिलोम) जाति का हो जो वैदेहिक से कारावरी में उत्पन्न होता है[५] या वह अंध्रदेश का निवासी हो[६], दूसरा अर्थ अधिक उचित जान पड़ता है क्योंकि अंध्र जाति मृगया से जीविका करनेवाली और नगरों से बाहर रहनेवाली कही गई है[७], मल्ल नहीं। सो अंध्रदेश पहले भी एक राममूर्त्ति उत्पन्न कर चुका है।

अध्याय ४४। हरिवंश, अध्याय ८६, में भी इसके मारे जाने की कथा है। महाभारत, सभापर्व, में चाणूर और अंध्रक नामक दो राजा भी कहे गए हैं जो सभाप्रवेश में युधिष्ठिर के साथ थे (अध्याय ४, श्लोक १२ और ३०)।

५ मनुस्मृति १०। ३६।

६ अंध्र या आंध्र देश तथा उसके निवासी दोनों के लिए आता है। यह तेलंग (तेलगु-भाषी) देश है जिसमें मद्रास के उत्तरी सरकार विभाग, विजयानगरम्, विज़गापटम् (विशाखपत्तन) आदि प्रांत हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के शुनःशेप उपाख्यान में लिखा है कि विश्वामित्र ने जब शुनःशेप को नरमेध से बचा कर अपना पुत्र बनाया तब उसके पचास पुत्रों ने इसे स्वीकार न किया। विश्वामित्र के शाप से वे और उनके वंशज अंध्र पुंड्र, शबर, पुलिंद और मूतिब हुए (ऐतरेय ८। १८)। शांखायन श्रौतसूत्र में पुलिंदों का नाम नहीं है, और मूतिब के स्थान पर मूचिप है। ऐतरेय में उन्हें विश्वामित्र ने शाप दिया है कि 'अंतान् वः प्रजा भक्षीष्ट' अर्थात् तुम्हारी संतान (सीमा +) अंत देशों को भोगे और ब्राह्मण में उन्हें उदंत्य (सीमाप्रांतवासी) और 'दस्यूनां भूयिष्ठाः' कहा है। इसका यही अर्थ है कि ये जातियां ऐतरेय ब्राह्मण के काल में आर्यों की निवास भूमि के सीमाप्रांतों पर रहती थीं। कृष्णा और गोदावरी का मध्यभाग अंध्र या आंध्र अनार्यों का वासस्थान था।

७ वैदेहिकादन्ध्रमेदौ बहिर्ग्रामप्रतिश्रयौ (मनु० १०। ३६), सुत्रो वैदेहकादन्ध्रो बहिर्ग्रामप्रतिश्रयः (महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय ८३, श्लोक ११)।

२३-अशोक की धर्मलिपियाँ।

[लेखक —रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, बाबू श्यामसुंदर दास बी० ए०, और पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बी० ए०]

भारतवर्ष के २५०० वर्ष पूर्व के इतिहास की जानकारी के लिये प्रियदर्शी राजा अशोक के लेख बड़े महत्त्व के हैं। इनसे उस समय की राज्यव्यवस्था, राजनीति, राजविस्तार, धार्मिक विचार, भाषा तथा लोगों की रहन सहन आदि का बहुत अच्छा पता चलता है। ईसवी सन् के ३२३ वर्ष पूर्व के जून मास में यूनानी विजयी सिकंदर (एलिगजेंडर) का देहांत बैबिलन में हुआ। इसके अनंतर उसके बड़े बड़े सेनापतियों ने उसके विस्तृत राज्य का बटवारा आपस में कर लिया, पर वे बहुत दिनों तक उन प्रदेशों को अपने हाथ में न रख सके जिन्हें सिकंदर ने जीता था। ऐसा जान पड़ता है कि मौर्यवंश के संस्थापक चंद्रगुप्त ने स्वदेश को यवनों (यूनानियों) से छीन लेने में बड़ा यत्न किया था। चंद्रगुप्त ने मगध के राजा नंद को अपने गुरु प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ चाणक्य (विष्णुगुप्त कौटिल्य) की सहायता से मार-कर तथा नंदवंश का मूलोच्छेद कर, उसके राज्य-सिंहासन को ईसवी पूर्व सन् ३२२ में अधिकृत किया। इसने २४ वर्ष तक राज्य किया। उस समय पाटलिपुत्र मगध की राजधानी था। चंद्रगुप्त का राज्य नर्मदा से लेकर हिंदूकुश तक फैला हुआ था। इसके अनंतर उसका पुत्र बिंदुसार ईसवी पूर्व सन् २९८ में राजा हुआ। किसीके मत से इसने २५ वर्ष और किसीके मत से २८ वर्ष राज्य किया। ईसवी पूर्व सन् २७३ में इसका पुत्र अशोक (अशोकवर्धन) इस विस्तृत राज्य का अधिकारी हुआ। कहते हैं कि इसने ४० वर्ष राज्य किया और इसके पीछे इसका पौत्र दशरथ पाटलिपुत्र की गद्दी पर बैठा। शिलालेखों में

अशोक के केवल एक पुत्र तिवर का उल्लेख मिलता है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह गद्दी पर बैठा अथवा अपने पिता के जीवन-काल में ही मर गया। पुराणों के अनुसार उसके पुत्र कुनाल ने उसके पीछे आठ वर्ष राज्य किया। कुनाल का पुत्र संप्रति भी राजा हुआ। बौद्ध दंतकथाओं के अनुसार अशोक का एक और पुत्र महेंद्र था, तथा एक कन्या संघमित्रा थी। कोई कोई महेंद्र और संघमित्र को उसका भाई और बहिन कहते हैं।

फाहियान अपने यात्रा विवरण में लिखता है कि "नगर (पाटलिपुत्र) में अशोक राजा का प्रासाद और सभाभवन है। सब असुरों के बनाए हैं। पत्थर चुनकर भीत और द्वार बनाए हैं। सुंदर खुदाई और पच्चीकारी है। इस लोक के लोग नहीं बना सकते। अब तक वैसे ही हैं।"[1] इस प्रासाद और सभा-भवन का पता पटने में जो खुदाई हुई है उससे कुछ कुछ लगना माना जाता है। अशोक के बनवाए हुए संघारामों (मठों) का चिह्न अब कहीं देखने में नहीं आता। उसके बनवाए हुई स्तूपों में से कई अच्छी अवस्था में और कई टूटे फूटे मिलते हैं। फाहियान का कथन है कि उसने ८४००० स्तूप बनवाने के लिये सात स्तूपों को गिरवाया था। वास्तव में वह कितने स्तूप बनवा सका इसका ठीक ठीक पता नहीं चलता है। स्तंभों की अवस्था स्तूपों से अच्छी है। ये अधिक संख्या में मिलते हैं। इनमें से अनेक ऐसे भी मिले हैं जिनपर लेख खुदे हुए हैं। इनके अतिरिक्त चट्टानों पर भी उसके खुदवाए हुए अनेक प्रज्ञापन मिलते हैं। कुछ गुफाएँ भी मिली हैं जिन्हें अशोक ने आजीविक नामक भिक्षुओं को रहने के लिये दिया था। उसके पौत्र दशरथ की दान की हुई गुफाएँ भी मिली हैं। सारांश यह है कि अशोक की कीर्ति का बहुत बड़ा अंश अब तक वर्तमान है। जितने अभिलेखों का अब तक पता चला है उनसे यह अनुमान सहज ही में किया जा सकता है कि इस राजा को इस बात की बड़ी रुचि थी कि वह अपनी आज्ञाओं को चट्टानों और

(१) नागरीप्रचारिणी सभा का संस्करण। पृष्ठ ५८।

स्तंभों पर खुदवाए जिसमें वे चिरस्थायिनी हों तथा प्रजा और उसके अधिकारी वर्ग को सदा उपदेश और अनुशासन देती रहें ।

अब तक अशोक के १३२ अभिलेखों का पता चला है जिन्हें हम पांच मुख्य भागों में विभाजित कर सकते हैं अर्थात्–(क) प्रधान शिलाभिलेख, (ख) गौण शिलाभिलेख, (ग) प्रधान स्तंभाभिलेख, (घ) गौण स्तंभाभिलेख, और (ङ) गुहाभिलेख । अशोक ने स्वयं अपने अभिलेखों के लिये 'धर्मलिपि' शब्द का प्रयोग किया है, इसलिये इस लेख के शीर्षक पर वही ऐतिहासिक नाम दिया गया है ।

(क) प्रधान शिलाभिलेखों में १४ प्रज्ञापन हैं जो निम्नलिखित स्थानों में मिलते हैं—

(१) चौदहों प्रज्ञापन **कालसी** नाम के गाँव से, जो संयुक्त प्रदेश के देहरादून ज़िले में है, लगभग डेढ़ मील दक्षिण की ओर जमुना और टोंस के संगम पर एक विशाल चट्टान पर खुदे हैं । इसी चट्टान पर लेखों के ऊपर हाथी की एक मूर्ति भी खुदी है जिसके नीचे 'गजतमे' (= सबसे श्रेष्ठ गज) लिखा है ।

(२) चौदहों प्रज्ञापन काठियावाड़ में जूनागढ़ रियासत की उसी नाम की राजधानी से आध मील पर **गिरनार** की ओर जानेवाली सड़क पर, एक अलग खड़ी हुई चट्टान पर खुदे हैं । उसके पास ही सुदर्शन तालाब था । अशोक की धर्मलिपियोंवाली चट्टान पर ही महाक्षत्रप राजा रुद्रदामन् के समय का शक संवत् ७२ में सुदर्शन तालाब के टूटने और पीछे उसकी पाल फिर बँधवाने का लेख, तथा महाराज स्कंदगुप्त का लेख भी खुदा है ।

यहां पर तेरहवें प्रज्ञापन के नीचे 'व स्वेतो हस्ति सवालोकसुखाहरो नाम' अर्थात् 'सब लोकों को सुख ला देनेवाला श्वेत हस्ती' ये अक्षर खुदे हैं ।

बौद्धों के यहां श्वेत हस्ती अति पवित्र और पूजनीय माना जाता है । बुद्ध की जन्मकथाओं में लिखा है कि उसकी माता मायादेवी को स्वप्न हुआ था कि एक श्वेत गज स्वर्ग से उतरकर उसके मुँह में घुसा और

पीछे बुद्ध गर्भस्थ हुए। इसीसे श्वेत हस्ती बुद्ध का सूचक है और कालसी, गिरनार और धौली की चट्टानों पर उसके नाम का उल्लेख तथा चित्र या मूर्ति दी गई है।

(३) इन प्रज्ञापनों की तीसरी प्रतिलिपि उड़ीसा के पुरी ज़िले में भुवनेश्वर से सात मील दक्खिन **धौली** नाम के गाँव के पास अश्वत्थामा पहाड़ी की चट्टान पर खुदी है। यहाँ केवल ११ प्रज्ञापन हैं, ११ वाँ, १२ वाँ और १३ वाँ प्रज्ञापन नहीं है। इस चट्टान के ऊपर हाथी की सामने की आधी मूर्ति कोर कर बनाई हुई है तथा यहां छठे प्रज्ञापन के अंत में 'सेतो' (= श्वेतः) शब्द भी लिखा है।

(४) चौथी प्रतिलिपि मद्रास प्रांत के गंजाम नगर से १८ मील उत्तर-पश्चिम को **जौगड़** के पुराने किले में एक चट्टान पर खुदी है। यहाँ भी केवल ११ प्रज्ञापन वर्त्तमान हैं, ११ वाँ, १२ वाँ और १३ वाँ प्रज्ञापन नहीं है।

(५) पाँचवीं प्रतिलिपि चौदह प्रज्ञापनों की पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत के पेशावर ज़िले की युसुफ़ज़ई तहसील में **शहबाज़गढ़ी** गाँव के पास एक चट्टान पर खुदी मिली है। यह पहाड़ी पेशावर से ४० मील उत्तर-पूर्व है।

(६) छठी प्रतिलिपि पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत के हज़ारा ज़िले में अबटाबाद नगर से १५ मील उत्तर की ओर **मानसेरा** में मिली है। यहां दो चट्टानों पर केवल पहले १३ प्रज्ञापन हैं, १४ वाँ नहीं है।

(७) सातवाँ स्थान जहाँ ये प्रज्ञापन मिलते हैं बंबई प्रांत के थाना ज़िले में **सोपारा** (प्राचीन शूर्पारक) नगर है। यहां केवल आठवें प्रज्ञापन का कुछ अंश मिला है।

शहबाज़गढ़ी और मानसेरा की प्रतिलिपियाँ तो खरोष्ठी लिपि में खुदी हैं, जो दाहिनी ओर से बाँई ओर लिखी जाती है, शेष पाँचों स्थानों की प्रतिलिपियाँ ब्राह्मी लिपि में हैं।

(ख) **गौण शिलाभिलेखों** में (१) पहले तो दो कलिंग प्रज्ञापन हैं जो **धौली** और **जौगड़** में उन्हीं चट्टानों पर विद्यमान हैं।

(२) दूसरा प्रज्ञापन जो "ब्रह्मगिरि प्रज्ञापन" के नाम से प्रसिद्ध है निम्नलिखित सात स्थानों में मिलता है—

(१) **ब्रह्मगिरि**—उत्तर मैसूर के चितलदुर्ग ज़िले में ।

(२) **सिद्धापुर**—उत्तर मैसूर के चितलदुर्ग ज़िले में ।

(३) **जतिंग-रामेश्वर**—उत्तर मैसूर के चितलदुर्ग ज़िले में ।

(४) **मासकी**—निज़ाम राज्य के रायचूर ज़िले में ।

(५) **सहसराम**—बिहार के शाहाबाद ज़िले में ।

(६) **रूपनाथ**—मध्य प्रदेश के जबलपुर ज़िले में ।

(७) **बैराट**—राजपूताना के जयपुर राज्य में ।

(३) तीसरा **"भाबरा"** प्रज्ञापन बैराट नगर (जयपुर राज्य) के पास की पहाड़ी पर के बौद्ध संघाराम में एक पत्थर पर खुदा था । यह पत्थर अब कलकत्ते की बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के भवन में प्रिंसेप की मूर्त्ति के सामने सुरक्षित है ।

(ग) प्रधान स्तंभाभिलेख सात हैं और निम्नलिखित स्थानों में मिलते हैं—

(१) **देहली-सिवालिक**—देहली के निकट फीरोज़ाबाद के पुराने नगर के कटरे में एक स्तंभ पर सातों प्रज्ञापन खुदे हैं । सन् १३५६ ई० में सुलतान फीरोज़शाह तुगलक ने अंबाला ज़िले के **टोपरा** नामक स्थान से इस लाट को बड़े यत्न से उठवाकर यहाँ खड़ा कराया था ।

(२) **देहली-मीरट**—देहली के पास छोटी पहाड़ी पर एक स्तंभ पर दूसरा, तीसरा, चौथा और पाँचवाँ प्रज्ञापन खुदा है । पहले प्रज्ञापन का भी कुछ अंतिम अंश वर्तमान है । सन् १३५६ ई० में सुलतान फीरोज़शाह तुगलक ने इस लाट को भी **मीरट** से उठवा कर "कुश्क शिकार" (शिकार का महल) में खड़ा करवाया था । यह गिर गया था तब सन् १८६७ में भारत गवर्मेंट ने इसे उसी स्थान के निकट पुनः खड़ा करवाया है ।

(३) **एलाहाबाद** के किले में एक स्तंभ पर पहले

६ प्रज्ञापन विद्यमान हैं। ऐसा जान पड़ता है कि सुलतान फीरोज़शाह तुगलक ने ही इस लाट को **कौशांबी** से उठवा कर यहां खड़ा करवाया हो। इसी लाट पर कौशांबी प्रज्ञापन और महारानी का प्रज्ञापन भी है। इसी पर सम्राट् समुद्रगुप्त का लेख खुदा है। यह स्तंभ कई बार गिरा और खड़ा किया गया। जब जब यह नीचे पड़ा रहा तब तब लोग इसपर स्थान स्थान पर नाम, संवत् आदि खोदते रहे। इस पर महाराजा वीरबल का भी लेख है।

(४) **रधिया (लौरिया अरराज)**—बिहार के चंपारन ज़िले के लौरिया नाम के गाँव के पास रधिया (रहरिया) से अढ़ाई मील पर अरराज महादेव के मंदिर से एक मील दक्षिण-पश्चिम में एक स्तंभ पर पहले ६ प्रज्ञापन हैं।

(५) **मथिया—(लौरिया नवंदगढ़)** बिहार के चंपारन ज़िले के लौरिया ग्राम के पास मथिया से ३ मील उत्तर को पहले ६ प्रज्ञापन एक स्तंभ पर खुदे हैं।

(६) **रामपुरवा**—बिहार के चंपारन ज़िले के रामपुरवा गाँव के निकट केवल पहले चार प्रज्ञापन एक स्तंभ पर वर्तमान हैं।

(घ) **गौण स्तंभाभिलेखों** की संख्या ५ है। ये निम्नलिखित स्थानों में वर्तमान हैं—

(१) **सारनाथ**—बनारस से साढ़े तीन मील उत्तर सारनाथ नाम के प्रसिद्ध स्थान में।

(२) **कौशांबी**—एलाहाबाद किले में उसी स्तंभ पर जिस पर ६ प्रधान स्तंभाभिलेख हैं। ऊपर "ग (३)" देखो।

(३) **साँची**—मध्य भारत के भोपाल राज्य के साँची नाम के स्थान में।

(४) **रुम्मिनीदेई**—नैपाल तराई में भगवानपुर से २ मील उत्तर और बस्ती ज़िले के दुल्हा स्थान से ६ मील उत्तर-पूर्व।

(५) **निगलिवा**—नैपाल तराई में बस्ती ज़िले के उत्तर निगलिवा सागर के किनारे उसी नाम के गाँव के पास।

(ङ) अशोक के तीन गुहाभिलेखों का भी पता चला है। ये बिहार के गया नगर के पास बराबर पहाड़ी पर हैं।

ऊपर जो वर्णन दिया गया है उससे स्पष्ट है कि अशोक की धर्मलिपियाँ उत्तर में पेशावर, दक्षिण में मैसूर, पूर्व में पुरी और पश्चिम में गिरनार तक मिलती हैं। इन चारों दिशाओं के अंतिम स्थानों को यदि सरल रेखाओं से जोड़कर हिसाब लगाया जाय तो यह विदित होगा कि ये अशोक की धर्मलिपियाँ वर्तमान भारतवर्ष के दोतिहाई भाग से अधिक पर फैली हुई हैं।

विद्वानों में बहुत दिनों तक इस बात पर विवाद चलता रहा कि इन लिपियों का "देवानं पिय पियदसी" राजा कौन है। यद्यपि विद्वानों ने यह मत स्थिर कर लिया था कि ये उपाधियां मौर्यवंशी राजा अशोक की ही हैं, तो भी थोड़े दिन हुए मासकी में एक अभिलेख के खंड में "असोकस" नाम मिलने से इस विषय के समस्त विवादों का अब अंत हो गया है और अब यह पूर्णतया निश्चय हो गया है कि ये सब लेख राजा अशोक के ही हैं।

केवल एक सिद्धापुर के लेख में ही लिपिकार का नाम "पड़" मिलता है।

इन अभिलेखों में से कितनों ही में अशोक के राज्याभिषेक से गणना करके उन आज्ञाओं के लिखे जाने के वर्ष भी दिए हैं। ऐसे उल्लेख अभिषेक के ९ वें वर्ष से लेकर २७ वें वर्ष तक के मिलते हैं। जिन लेखों में ऐसे वर्ष नहीं दिए हैं उनके विषय में विद्वानों के भिन्न भिन्न विचार हैं।

इन सब १३२ अभिलेखों का संग्रह ऊपर लिखे विभाग और क्रम के अनुसार आगे दिया जाता है। प्रत्येक अभिलेख के जितने रूप मिलते हैं वे सब एक दूसरे के नीचे ज्यों के त्यों एक एक शब्द करके दे दिए गए हैं जिसमें भिन्न भिन्न पाठों का ज्ञान हो जाय। पत्थर पर जहाँ पंक्ति समाप्त होती है वहाँ उसकी संख्या अंतिम अक्षर से कुछ ऊपर बतला दी गई है। नीचे प्रत्येक शब्द का संस्कृत रूप और उसके

नीचे हिंदी अनुवाद भी दे दिया है। मूल में जहाँ पाठभेद है वहाँ संस्कृत में प्रत्येक पाठ का अनुवाद क्रम से दिया गया है और हिंदी में भी जहाँ आवश्यकता हुई वहाँ वैसा किया गया है। इन लेखों की भाषा अपने अपने प्रांत की उस समय की प्राकृत या साधारण बोल चाल की भाषा है जिसका विद्वानों ने 'पाली' नाम रख दिया है। संस्कृत अनुवाद में प्राकृत शब्दों का शुद्ध प्रतिरूपक दिया गया है और हिंदी अनुवाद में जहाँ तक हो सका है, उसी प्राकृत या संस्कृत शब्द से निकला हुआ या मिलता हुआ शब्द दिया गया है। विभक्तियों तक का पूरा हिंदी अनुवाद दिया गया है। उसमें जो अर्थ को स्पष्ट करने के लिये अपनी ओर से जोड़ा गया है वह [ ] ऐसे कोष्ठकों में दिया है, और जो विभक्ति प्रत्यय आदि वर्तमान हिंदीशैली में नहीं प्रयुक्त होते वे ( ) ऐसे कोष्ठक में दिए गए हैं और जहाँ आवश्यक हुआ वहाँ = (तुल्यता) चिह्न देकर ठीक अर्थ कर दिया गया है। मूल में जहाँ पर किसी पाठ में कुछ शब्द अधिक हैं अथवा और पाठों से भिन्न स्थान पर हैं वहाँ उनका अनुवाद ऐसे { } कोष्ठक में दिया है जिससे उसे छोड़कर पढ़ने से शेष पाठों का अनुवाद क्रम से मिल जायगा और केवल उन्हींको पढ़ने से उस पाठ के उसी अंश का अनुवाद हो जायगा।

मूल में जहाँ किसी स्थान के प्रज्ञापन में कुछ ऐसे शब्द हैं जो दूसरे स्थानों के पाठ में नहीं मिलते तो वहाँ उनके नीचे दूसरे स्थान के पाठ में स्थान खाली छोड़ दिया गया है। जहाँ पर किसी पाठ में कुछ अक्षर अस्पष्ट हैं वा टूट गए हैं वहाँ...यह चिह्न कर दिया गया है। अस्पष्ट पाठों की जगह कल्पित या संदिग्ध पाठ [ ] ऐसे कोष्ठक में देने की रीति है। किंतु हमने वैसा नहीं किया क्योंकि दूसरे स्थान के पाठों में वे अक्षर या शब्द ठीक ठीक मिल जाते हैं। किसी किसी स्थान के पाठ में विरामचिह्न की खड़ी लकीर बिना किसी नियम और प्रयोजन के कहीं कहीं खुदी है, वह निरर्थक होने से हमने छोड़ दी है। ऐसे ही कहीं कहीं बिना प्रयोजन के शब्दों को बीच में स्थान खाली छोड़कर अलग

अलग लिखा है। यह भी हमने नहीं दिखाया, क्योंकि प्रत्येक पद को अलग लिखने की चाल वर्तमान छापे के समय की है। हमने व्याकरण के अनुसार पदच्छेद किया है, परंतु जहाँ समास है वहाँ पूरा पद मिलाकर लिखा है। प्रत्येक प्रज्ञापन के मूल और संस्कृत तथा हिंदी शब्दानुवाद के अंत में सारे प्रज्ञापन का स्वतंत्र अनुवाद दे दिया गया है तथा कुछ आवश्यक टिप्पण दे दिए हैं। इन अभिलेखों का संपादन इस क्रम और व्यवस्था के अनुसार इसलिये किया गया है कि जिसमें सबको इनके अध्ययन करने में सुगमता हो।

अंत में पहले परिशिष्ट में (च) अशोक के पौत्र **दशरथ** के तीन **गुहाभिलेख** दे दिए गए हैं। साथ ही (छ) अशोक की **महारानी कारुविकी का** भी एक **अभिलेख** दिया गया है। [ऊपर ग (३) देखो।] इस प्रकार अशोक के वंश के उन सब अभिलेखों का संग्रह कर दिया गया है जिनका अब तक पता चला है और जो गिनती में १३६ हैं।

ऐसा विचार है कि पत्रिका में प्रसिद्ध हो जाने के अनंतर अशोक की धर्मलिपियों का एक संस्करण पुस्तकाकार छपवा दिया जाय। उसके साथ ही विस्तृत भूमिका, विशेष टिप्पण, शब्दकोश, व्याकरण और अभिलेखों के चित्र देने का भी विचार है। वहीं पर इस विषय पर जिन जिन विद्वानों ने जहाँ कहीं जो कुछ लिखा है उसकी विस्तृत सूचनिका भी दी जायगी। इस समय इतना ही परिचय देकर हम हिंदी और इतिहास के प्रेमियों की सेवा में पुण्यश्लोक महाराज धर्माशोक अशोकवर्धन की धर्मलिपियां उपस्थित करते हैं।

(क) प्रधान शिलाभिलेख ।

[क–१ पहला प्रज्ञापन ।]

कालसी	१	इयं	धंमलिपि			देवानं	पियेना
गिरनार	२	इयं	धंमलिपी			देवानं	प्रियेन[1]
धौली	३	इयं	. . . .	. . . . . सि	पवतसि	देवानं	पिये .
जौगड़	४	इयं	धंमलिपी	खपिंगलसि	पवतसि	देवानं	पियेन
शाहबाज़गढ़ी	५	अयं	ध्रमदिपि			देवन	प्रिअस
मानसेरा	६	अयि	ध्रमदिपि			देवन	प्रियेन
संस्कृत-अनुवाद		इयं	धर्मलिपिः	कपिंजले	पर्वते	देवानां	प्रियेण प्रियस्य
हिंदी-अनुवाद		यह	धर्मलिपि	कपिंजल (पर)	पर्वत पर	देवताओं के	प्रिय(ने) प्रिय(की)

कालसी	७	पियदसिना		लेखिता	हिदा	ना	किछि	जिवे
गिरनार	८	प्रियदसिना	राञा	लेखापिता	इध	न	किं(२)चि	जीवं
धौली	९	. . . . .	. जिना	लिखा	.	.	. .	जीवं
जौगड़	१०	पियदसिना	लाजिना	लिखापिता	हिद	नो	किछि	जीवं
शाहबाज़गढ़ी	११		रञो	लिखपितु	हिद	नो	किचि	जिवे
मानसेरा	१२	प्रियद्रशिन	र.न .	लिखपित	हिद	नो	किछि	जिवे
संस्कृत-अनुवाद		प्रियदर्शिना	राज्ञा राज्ञः	लेखिता।	इह	न	कश्चित्	जीवः
हिंदी-अनुवाद		प्रियदर्शी (ने)	राजा ने राजा की	लिखाई।	यहां	नहीं	कोई	जीव

कालसी	१३	आलभितु	पजोहितविये[1]	नो	पि	चा	समाजे	कटविये
गिरनार	१४	आरभित्पा	प्रजूहितव्यं[3]	न		च	समाजो	कतव्यो
धौली	१५	आलभितु	पजोहि..[1]	नो	पि	च	समा.	....
जौगढ़	१६	आलभितु	पजोहितविये[1]	नो	पि	च	समाजे	कटविये
शहबाज़गढ़ी	१७	अरभितु	प्रयुहोतवे	नो	पि	च	समज	कटव
मानसेरा	१८	अरभित .	प्रयु[1]होतविये	नो	पि	च	समज	कटविय
संस्कृत-अनुवाद		आलभ्य	प्रहोतव्यः।	न	अपि	च	समाजः	कर्तव्यः
हिंदी-अनुवाद		मारकर	होमा जाय।	न	भी	और	समाज	किया जाय।

कालसी	१९	बहुका	हि	दोसा	समाजसा		देवानं	पिये
गिरनार	२०	बहुकं	हि	दोषं[(४]	समाजम्हि	पसति	देवानं	प्रियो
धौली	२१	. . .	.	. .	. . . .	. . .	. . .	. .
जौगड़	२२	बहुकं	हि	दोसं	समाजसि	दखति	देवानं	पिये
शहबाज़गढ़ी	२३	बहुक	हि	दोषं	सम . स		देवन	प्रियो
मानसेरा	२४	बहुक	हि	दोष	समजस		देवनं	प्रिये
संस्कृत-अनुवाद		बहुकान् बहुकं	हि	दोषान् दोषं	समाजस्य समाजे	{पश्यति}	देवानां	प्रियः
हिंदी-अनुवाद		बहुत	ही	दोषों को दोष को	समाज के समाज में	{देखता है}	देवताओं का	प्रिय

कालसी	२५	पियदसी	लाजा	दखति	अथि	पि	चा	एकतिया
गिरनार	२६	प्रियदसि	राजा[१]		अस्ति	पि	तु	एकचा
धौली	२७	. . . . .	. .		. .	.	.	. तिया
जौगड़	२८	पियदसी	लाजा		अथि	पि	चु	एकतिया
शहबाज़गढ़ी	२९	प्रिअद्रशि	रय	देखति	अस्ति	पि	च	एकतिए
मानसेरा	३०	प्रियद्रशि	रज	. ख .	अस्ति	पि	चु[२]	एकतिय
संस्कृत-अनुवाद		प्रियदर्शी	राजा	पश्यति।	अस्ति (=सन्ति)	अपि	च तु	एकत्यं (=एके)
हिंदी-अनुवाद		प्रियदर्शी	राजा	देखता है।	हैं	भी	और तो	कोई कोई

कालसी	३१	समाज	साधुमता	देवानं	पियसा	पियदसिसा	लाजिने(२)
गिरनार	३२	समाजा	साधुमता	देवानं(६)	प्रियस	प्रियदसिनो	राञो
धौली	३३	समाजा	साधुमता	देवा	. . . (२)	पियदसिने	लाजिने
जौगड़	३४	समाजा,	साधुमता	देवानं	पियस(२)	पियदसिने	लाजिने
शहबाज़गढ़ी	३५	समये	स्रेस्तमति	देवन	प्रिअस	प्रिअद्रशिस	रञो
मानसेरा	३६	समज	सधुमत	देवन	प्रियस	प्रियद्रशिने	रजिने
संस्कृत-अनुवाद		समाजा:	साधुमता: श्रेष्ठमता:	देवानां	प्रियस्य	प्रियदर्शिन:	राज्ञ: ।
हिंदी-अनुवाद		समाज	अच्छे माने गए	देवताओं के	प्रिय(के)	प्रियदर्शी(के)	राजा के ।

कालसी	३७	पुले	महानससि	देवानं	पियसा	पियदसिसा
गिरनार	३८	पुरा	महानसम्हि(७)	देवानं	प्रियस	प्रियदसिनो
धौली	३९	. . .	मह . . .	. . नं	. . .	पिय . . .
जौगढ़	४०	पुलुवं	महानससि	देवानं	पियस	पियदसिने
शहबाज़गढ़ी	४१	पुर	महनससि	देवनं	प्रिअस	प्रिअद्रशिस
मानसेरा	४२	पुर	महनससि	देवन	प्रि . स	प्रि . . शिस
संस्कृत-अनुवाद		पूर्वं	महानसे	देवानां	प्रियस्य	प्रियदर्शिनः
हिंदी-अनुवाद		पहले	रसोई-घर में	देवताओं के	प्रिय(के)	प्रियदर्शी(के)

कालसी	४३	लजिने	अनुदिवसं	बहुनि	पानसहसानि	आलभियिसु
गिरनार	४४	राञो	अनुदिवसं	ब(८)हूनि	प्राणसतसहस्रानि	आरभिसु
धौली	४५	. .	. . . . .	. . नि	पानसतस . . .	आलभियिसु
जौगड़	४६	लाजिने	अनुदिवसं	बहूनि	पानसतसहसानि	आलभियिसु
शहबाज़गढ़ी	४७	रञो	अनुदिवसो	बहुनि	प्रणशतसहस्रनि	अरभियिसु
मानसेरा	४८	र(३)जिने	अनुदिव .	बहुनि	प्रणशतसहस्रनि	अर f. सु
संस्कृत-अनुवाद		राज्ञः	अनुदिवसं	बहूनि	प्राणशतसहस्राणि प्राणसहस्राणि	आलभ्यन्त
हिंदी-अनुवाद		राजा के	दिन दिन	बहुत	सौओं सहस्रों प्राणी सहस्रों प्राणी	मारे जाते थे

कालसी	४९	सुपठाये	से	इदानि	यदा	इयं	धंमलिपि	लेखिता	तदा
गिरनार	५०	सूपाथाय(६)	से	अज	यदा	अयं	धंमलिपी	लिखिता	
धौली	५१	सूपठाये(३)	से	अज	अदा	इयं	धंमलिपी	लिखिता	
जौगड़	५२	सूपठाये(३)	से	अज	अदा	इयं	धंमलिपी	लिखिता	
शहबाज़गढ़ी	५३	सुपठये	सो	इदनि	यद	अयं(२)	ध्रमदिपि	लिखित	तद
मानसेरा	५४	सुपथ्रये	से	इ . नि	..	अयि	ध्रमदिपि	लिखित	तद
संस्कृत-अनुवाद		सूपार्थाय	तन्	इदानीं अद्य	यदा	इयं	धर्मलिपिः	लिखिता लेखिता	तदा
हिंदी-अनुवाद		शोरबे के लिये	सो	अब आज	जब	यह	धर्मलिपि	लिखी गई लिखाई गई	तब

कालसी	५५	तिंनि	येवा	पानानि	आलभियंति(३)		दुवे	मजुला	
गिरनार	५६	ती	एव	प्रा(१०)णा	आरभरे	सूपाथाय	द्वो	मोरा	
धौली	५७	तिंनि	. .	. . .	.लभिय.		.	. .	
जौगड़	५८	तिंनि	येव	पानानि	आलभियंति		दुवे	मजूला	
शहबाज़गढ़ी	५९	त्रयो	वो	प्रण	हंञंति			मजुर	दुबि२
मानसेरा	६०	तिनि	ये.	प्रणनि	अ.भि . ति .		दुवे२	मजु(४)र	
संस्कृत-अनुवाद		त्रय:	एव	प्राणा:	आलभ्यन्ते हन्यन्ते	{सूपार्थाय}	द्वौ	मयूरौ	{द्वौ}
हिंदी-अनुवाद		तीन	ही	प्राणी	मारे जाते हैं	{शोरबे के लिये}	दो	मोर	{दो}

कालसी	६१	एके	मिगे	से	पि	च	मिगे	नो	धुवे	एतानि
गिरनार	६२	एको	मगो	सो	पि(११)		मगो	न	धुवो	एते
धौली	६३	..	..	.	..	.	...	.	..	..
जौगढ़	६४	एके	मिगे	से	पि	चु	मिगे	नो	धुवं	एतानि
शहबाज़गढ़ी	६५		म्रुगो१	सो	पि		म्रुगो	नो	ध्रुवं	एत
मानसेरा	६६	एके१	म्रिगे	से	पि	चु	म्रिगे	नो	ध्रुवं	एतनि
संस्कृत-अनुवाद		एकः	मृगः{एकः} ।	सः	अपि	च	मृगः	न	ध्रुवः ।	एते
हिंदी-अनुवाद		एक	मृग{एक} ।	सो	भी	और	मृग	नहीं	नियत[है]।	। ये

कालसी	६७	पि	च	तिनि	पानानि			नो	आलभियिसंति
गिरनार	६८	पि		त्री	प्राणा		पछा	न	आरभिसरे(१२)
धौली	६९	.		तिनि	पानानि		पछा	नो	आलभियिसंति(४)
जौगड़	७०	पि	चु	तिनि	पानानि(४)		पछा	नो	आलभियिसंति(५)
शहबाज़गढ़ी	७१	पि			प्रण	त्रयो	पच	न	अरभिशंति
मानसेरा	७२	पि	चु	तिनि	प्रणनि		पच	नो	अरभि . .
संस्कृत-अनुवाद		अपि	च	त्रयः	प्राणाः	{त्रयः}	पश्चात्	न	आलप्स्यन्ते ।
हिंदी-अनुवाद		भी	और	तीन	प्राणी	{तीन}	पीछे	न	मारे जायंगे ।

[हिंदी अनुवाद ।]

देवताओं के प्रिय[1] प्रियदर्शी राजा ने यह धर्मलिपि लिखवाई[2] । यहां (इस राज्य में) कोई जीव मार

---

१ देवानं पियो (सं० देवानां प्रियः) का शब्दार्थ तो देवताओं का प्यारा है किंतु ईसवी सन् पूर्व तीसरी शताब्दी में यह महाराजाओं की आदर-सूचक उपाधि थी। यहां पर इसका अर्थ महाराजाधिराज ही है। अशोक के पौत्र दशरथ और सिंहल के राजा तिष्य (तिस्स) की भी यही उपाधि मिलती है। अशोक के आठवें प्रज्ञापन में शहबाज़गढ़ी, कालसी और मानसेरा के पाठ में 'देवानां पिया' और गिरनार के पाठ में 'राजानो' एक ही अर्थ में व्यवहार किया गया है। राजाओं के लिये अपने पुण्य कर्मों से देवताओं का प्रिय होना उनके महत्व का सूचक था। गुप्तों के सिक्कों पर भी सुचरितों से दिव अर्थात् देव-वास-स्थान को जीतने का उल्लेख इसी अभिप्राय से किया गया है। विजितावनिरवनीपतिः कुमारगुप्तो दिवं जयति । क्षितिमवजित्य सुचरितैः कुमारगुप्तो दिवं जयति । राजाधिराजः पृथिवीमवित्वा दिवं जयत्यप्रतिवार्यवीर्यः इत्यादि ।

'देवानां प्रियः' में समास होने पर भी षष्ठी विभक्ति का लोप न होने का उल्लेख पाणिनि ६।३।२१ पर के एक वार्तिक में है जिससे पाया जाता है कि कात्यायन और पतंजलि के समय में इस शब्द का बुरा अर्थ न था। किंतु पिछले वैयाकरणों ने 'देवानां प्रिय इति चः' इस वार्तिक में 'मूर्खे' जोड़ दिया है। इन्होंने मूल सूत्र के 'आक्रोशे' (निंदा में) पद को इधर खैंचकर देवानां प्रिय का अर्थ मूर्ख, यज्ञपशु के समान, आदि किया है और 'देवप्रिय' समस्त पद अच्छे अर्थ में रक्खा है। यदि 'आक्रोशे' पद को उस सूत्र के सभी वार्तिकों में जोड़ें तो वाचोयुक्ति, आमुष्यायण (अमुक का पुत्र) आदि भी अर्थ निंदावाचक होने चाहिएं परंतु ऐसा नहीं है। जान पड़ता है कि बौद्धों के विद्वेष से ब्राह्मणों ने बौद्ध राजाओं की इस मानसूचक उपाधि का उपहास किया है क्योंकि काशिका, सिद्धहैम व्याकरण आदि में न यह अर्थ दिया है और न वार्तिक में 'मूर्खे' यह जोड़ है। मनोरमा के कर्ता भट्टोजिदीक्षित देवानां प्रिय' के अच्छे अर्थ 'ब्रह्मज्ञानी, जो यज्ञादि नहीं करते' और बुरे अर्थ 'देवपशु' की दुविधा, में डगमगाते रह गए हैं।

२ जौगड़ के पाठ में 'कपिंजल पर्वत पर' इतना अधिक है जो प्रज्ञापन के खोदे जाने के स्थान के नाम का उल्लेख है। धौली में

कर[3] होम (बलि) न करना चाहिए और न समाज[4] करना चाहिए। देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा समाज में अनेक दोषों को देखता है, यद्यपि कुछ समाज[5] (ऐसे) हैं (जो) देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा को अच्छे लगते हैं[6]। पहले देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के रसोई-घर में शोरबा बनाने के लिये प्रति दिन हज़ारों जीव मारे जाते थे, पर आज से जब यह धर्मलिपि लिखी गई केवल तीन जीव (अर्थात्) दो मोर[7] और एक हरिन, मारे जाते हैं,[8] (इनमें भी) हरिन (का मारना) नियत नहीं है। भविष्यत् में ये तीन जीव भी नहीं मारे जायंगे[8]।

भी जिस पहाड़ पर प्रज्ञापन खोदा गया है उसका नाम दिया था किंतु वहाँ के अक्षर जाते रहे हैं केवल पर्वत के नाम के आगे अधिकरण का चिह्न 'सि' (स्मिन्) और पवतसि (पर्वत पर) इतना ही बचा है।

३ मारने के लिये आ + लभ् धातु जिसका शब्दार्थ 'पास से छूना, पकड़ना या पाना' होता है वैदिक काल से संस्कृत में काम में आता है, उसी का यहाँ प्रयोग है।

४ नाटक, कुश्ती के दंगल, पशुओं की लड़ाई पर बाज़ी लगाना, मांस मद्य की खान-पान-गोष्ठी आदि समाज के कई अर्थ हो सकते हैं। यहां गोष्ठी का अर्थ ही अधिक संगत है जहां खाने के लिये हिंसा की जाती हो।

५ इन दूसरे प्रकार के समाजों में धर्मानुकूल व्यवहार और धर्मचर्चा होती होगी।

६ 'श्रेष्ठ लोगों के संमत' (शहबाज़गढ़ी) 'साधु पुरुषों के संमत' यह भी अर्थ हो सकता है।

७ प्राचीन काल में मोर खाने के काम में आता था। वाल्मीकि रामायण में जहां भरद्वाज ने भरत की पहुनाई की है वहां खाद्य पदार्थों में मोर का मांस भी गिनाया है (अयोध्याकाण्ड, सर्ग ९१, श्लोक ६८)

८ गिरनार पाठ में यहाँ 'आरभरे' है जिसे संकृत आलेभिरे (= मारे गए) का रूप मानें तो आशंसा में भूतकाल (पाणिनि ३।३। १३२) मान सकते हैं; या आलभ्मेरन् (= मारे जांयगे) विधि का रूप हो सकता है। उसी पाठ के भविष्यत् के अर्थ में भी आरभिसरे दिया है (अंत का पद)।
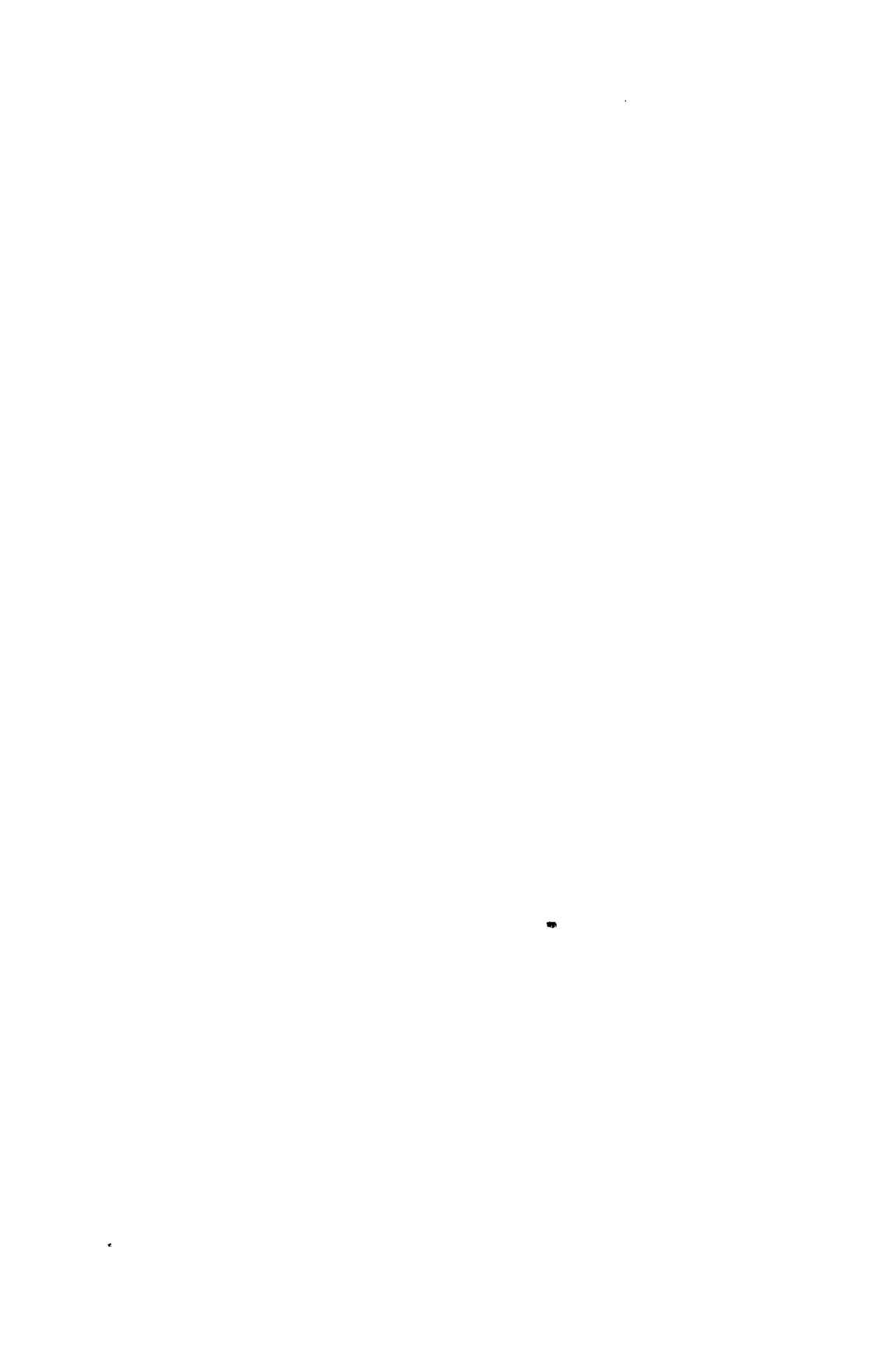
२४—पाणिनि की कविता।

कुछ नए श्लोक।

[लेखक—पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी बी० ए, अजमेर]

यह तो सब जानते हैं कि पाणिनि संस्कृत भाषा के सर्वप्रधान और सर्वमान्य वैयाकरण थे। संस्कृत साहित्य में कई श्लोक और श्लोकखंड भी पाणिनि के नाम से प्रसिद्ध हैं। कुछ श्लोक तो वे हैं जो सुभाषित-संग्रहों में पाणिनि के नाम से दिए हैं। उनमें से कोई श्लोक एक सुभाषित-संग्रह में पाणिनि के नाम से दिया है तो दूसरे में बिना नाम के अथवा किसी और कवि के नाम पर दिया है[1]। इनमें से कुछ अलंकार, छंद या रचना-विशेष के उदाहरणों की तरह भी, पाणिनि के नाम से या नाम के बिना ही, दिए हुए मिलते हैं। ये तो एक प्रकार के अवतरण हुए जो रचना की विशेषता के कारण चुने जाकर दिए गए हैं। दूसरी तरह के अवतरण वे श्लोक या श्लोकखंड हैं जो व्याकरण, कोश वा अलंकार ग्रंथों में यह दिखाने को दिए गए हैं कि कवि पाणिनि ने साधारण व्याकरण के नियमों के विरुद्ध प्रयोगों या विलक्षण शब्दों का व्यवहार किया है। मानों इन उदाहरणों को देते समय ग्रंथकार मुसकरा कर चिराग तले अँधेरे की कहावत को समझा रहा है, अथवा कथा के बैंगन दूसरे और खाने के दूसरे होने का प्रमाण दे रहा है, या पाणिनि के राजमार्ग से इधर उधर भटक जानेवाले छोटे मनुष्यों को सहारा देने के लिये

---

(१) सुभाषितावलियों में कई श्लोक यों भिन्न भिन्न नामों से दिए मिलते हैं।

ढाढ़स दिलाता है कि भाई, डरते क्यों हो, बड़े बड़े ऐसा लिख गए हैं तो तुम भी बेधड़क रहो। पतंजलि अपने महाभाष्य में कह गए हैं कि 'छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति'[२] अर्थात् कवि वेद की तरह प्रयोग करने में स्वतंत्रता दिखाते हैं, वे व्याकरण के नियमों से बँधे नहीं रहते। ध्यान से देखा जाय तो पिछले व्याकरण का इतिहास कवियों की स्वतंत्रता को व्याकरण के नियमों की परतंत्रता से पटाने का ही इतिहास है। पाणिनि ने 'भाषा' (= प्रयोग की संस्कृत भाषा) के नियम बना कर वैदिक भाषा को अपवाद बना दिया, बहुलं छंदसि, छंदसि उभयथा, अन्येभ्योऽपि दृश्यते आदि कह कर लक्ष्य प्रयोग और लक्षण नियमों को मिलाने का यत्न किया। पीछे के वैयाकरणों ने जहाँ प्रयोग और नियम में विषमता पाई वहाँ यदि बड़ा आदमी हुआ तो आर्ष प्रयोग कह कर किनारा कसा, कुछ प्रतिष्ठित कवि हुआ तो सूत्र को कुछ ढीला कर उसके लिये रास्ता निकाल दिया, और ऐसा वैसा हुआ तो अपाणिनीय या प्रमाद कह कर आँखें दिखा दीं। पिछले वैयाकरण तो ऐसे प्रयोगों को खींचखाँच कर सूत्रों के शिकंजे में से निकालने के ही यत्न में रहे, किंतु प्रयोग करनेवाले अपनी स्वतंत्रता से हाथ नहीं धो बैठे, यहाँ तक कि व्याकरण के उदाहरणों की कड़ियां जोड़ कर क्लिष्ट महाकाव्य बनाने का बीड़ा उठानेवाले भट्टि के से कवि भी कहीं कहीं उच्छृंखल हो निकले। अस्तु। पाणिनि की जितनी कविता इस प्रकार उस समय तक मिली थी उसका सबसे पूर्ण प्रतीकसंग्रह डाकृर टामस ने अपने कवींद्रवचनसमुच्चय[३] के संस्करण की भूमिका में कर दिया है।

---

(२) पाणिनि १।४।३ पर महाभाष्य।

(३) महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री को नेपाल में ताड़पत्रों पर लिखी हुई एक खंडित सुभाषितावलि मिली जिसका नाम, प्रथम श्लोक के आश्रय पर, कवींद्रवचनसमुच्चय रक्खा गया। इसका लिपिकाल बारहवीं शताब्दी ईसवी का है, अतएव यह सुभाषितावली अब तक मिली हुई सब सुभाषितावलियों से पुरानी है। डाकृर टामस ने 'बिब्लोथिका इंडिका' में इसे संपादित किया है

इस प्रश्न पर मतभेद है कि पाणिनि वैयाकरण और पाणिनि कवि एक ही व्यक्ति हैं या भिन्न भिन्न। कई लोग[४] पाणिनि के व्याकरण की प्राचीन वेदतुल्य भाषा और इन श्लोकों की सालंकार और परिमार्जित रचना को देखकर मानते हैं कि ऋषिकाल का वैयाकरण पाणिनि सुकवि पाणिनि नहीं हो सकता। वे कहते हैं कि यदि ये एकही हों तो या तो प्राचीन काल के वैयाकरण पाणिनि को घसीट कर प्रौढालंकृत काव्यकाल में लाना पड़ेगा, जो संभव नहीं; या सालंकार संस्कृत काव्ययुग को बहुत पुराना मानना होगा जिसके लिये वे तैयार नहीं। दूसरा पक्ष[५] कहता है कि दोनों एक ही हैं, वैदिक और प्राचीन साहित्य का व्याकरण बनाते समय पाणिनि सूत्रकाल की संक्षिप्त और प्राचीन भाषा लिखता है और काव्य में प्रांजल और स्फीत रचना करता है। वह शुष्क और खूसट वैयाकरण ही न था, सरस कवि भी था। इस मतभेद का समाधान अभी न हुआ, न कभी होगा। तो भी कविता बहुत ही कृत्रिम मालूम पड़ती है, उसे पाणिनि की मानते खटका होता है।

संस्कृत-साहित्य की परंपरागत प्रसिद्धि यही रही है कि दोनों एक हैं। यद्यपि भोजप्रबंध में कालिदास, माघ, भवभूति, बाण आदि सबको भोज की सभा में मान कर महाकवि कालिदास को ज्योतिर्विदाभरण, नलोदय[६] और हास्यार्णव का कर्ता मानकर, तथा हनुमन्नाटक को रामदूत हनुमान् के द्वारा शिलाओं पर खोदा हुआ मानकर वह प्रसिद्धि कई जगह अप्रामाणिक सिद्ध हो गई है, तथापि इस बात पर वह कैसी है यह देख लेना चाहिए।

और इसमें जिन कवियों के श्लोक उल्लिखित हैं उनके उपलब्ध काव्यों और फुटकर श्लोकों के प्रतीकों का पूर्ण परिचय भूमिका में दे दिया है। देखभाल और जानकारी के लिये यह संग्रह अमूल्य है।

(४) डाक्टर भंडारकर, पीटर्सन आदि।

(५) डाक्टर आफरेक्ट, पिशल आदि।

(६) नलोदय नारायण के पुत्र रविदेव का बनाया हुआ है (भंडारकर की रिपोर्ट, सन् १८८३-४, पृ० १६)।

सूक्तिमुक्तावली और हारावलि[७] में राजशेखर का एक श्लोक दिया है जिसमें व्याकरण और जांबवतीजय काव्य के कर्ता पाणिनि की एकता मानी गई है—

स्वस्ति पाणिनये तस्मै यस्य रुद्रप्रसादतः।
आदौ व्याकरणं काव्यमनु जांबवतीजयम्॥

सदुक्तिकर्णामृत[८] में एक श्लोक है जिसमें सुबंधु (वासवदत्ताकार), (रघुकार) कालिदास, हरिचंद्र (= भट्टारहरिचंद्र, जिसकी गद्यरचना को बाण ने हर्षचरित के आरंभ में सराहा है), शूर (? अश्वघोष, आर्यशूर), भारवि (किरातार्जुनीयकार) और भवभूति के साथ साथ दाक्षीपुत्र को श्लाघ्य कवियों में गिना है[९]। दाक्षीपुत्र वैयाकरण पाणिनि ही है[१०]।

सूत्रकाल और काव्यकाल का भेद अभी तक कल्पित ही है। काव्यकाल कहाँ तक पीछे हटाया जा सकता है यह कह नहीं सकते। क्या वेदों में अलंकार और कविता नहीं है? पाणिनि के समय में

---

(७) राजशेखर कन्नौज के प्रतिहार राजा महेंद्रपाल का गुरु महेंद्रपाल के ईसवी सन् ९०७, ९०९ के शिलालेख मिले हैं, इससे राजशेखर का समय निश्चित है। सुभाषितावलियों में 'विशिष्टकविप्रशंसा' के कई चमत्कारी श्लोक राजशेखर के कहे जाते हैं उनमें से यह एक है।

(८) वटुदास के पुत्र श्रीधरदास ने शक संवत् ११२७ (सन् १२०५ ई०) में सदुक्तिकर्णामृत नामक बड़ा भारी सुभाषितसंग्रह बनाया। इसमें प्रत्येक विषय के पाँच ही पाँच श्लोक हैं, वे विशेष कर बंगाल के कवियों के ही हैं। बिब्लोथिका इंडिका में पंडित रामावतार पांडेय के संपादकत्व में इसका एक ही अंक छप कर रह गया। वटुदास राजा लक्ष्मणसेन का सामंत और श्रीधरदास उसका मांडलिक था।

(९) सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमते
धृतिर्दाक्षीपुत्रे हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम्।
विशुद्धोक्तिः शूरः प्रकृतिमधुरा भारविगिर-
स्तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते॥

(१०) सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः (महाभाष्य, पाणिनि १।१।२० पर)

कितना संस्कृत वाङ्मय था? बिना प्रयोग की प्रचुरता के तो व्याकरण नहीं बनता। मंत्र ब्राह्मण रूप वेद की जितनी शाखाएं अब मिलती हैं उस समय उससे कहीं अधिक उपलब्ध थीं। पाणिनि ने पुराने और नए ब्राह्मणों और कल्पों में भेद किया है[११] जिसे व्याख्याकार ने यह कह कर समझाया है कि पाणिनि याज्ञवल्क्य आदि के तुल्यकाल थे[१२]। किसी विषय पर रचे हुए (अधिकृत्य कृत) ग्रंथों के प्रसंग में पाणिनि ने शिशुक्रंदीय (बच्चों के चिल्लाने के विषय का ग्रंथ), यमसभीय (यम की सभा का वर्णन), इंद्रजननीय (इंद्र की उत्पत्ति का ग्रंथ) का तो नाम ही दिया है और दो दो व्यक्तियों के नाम जोड़ कर बने हुए ग्रंथों के अस्तित्व की भी सूचना दी है[१३]। यदि 'आदि' से बताए हुए गणपाठों के सारे शब्द पाणिनि के समय ही के माने जाँय और पीछे से जोड़े हुए न समझे जाँय तो और भी कई नाम मिल जाते हैं[१४]। भारत और महाभारत की, पाराशर्य और कर्मंद के भिक्षुसूत्र और शिलालि और कृशाश्व के नटसूत्रों की पाणिनि ने चर्चा की है[१५]। इतने भारी वाङ्मय के रहते क्या उस समय अलंकृत काव्यों और प्रौढ़ कवियों का होना असंभव है? सब अलंकारों की रानी

---

(११) पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु, पाणिनि ४।३।१०५।

(१२) उसीका वार्तिक—याज्ञवल्क्यादिभिस्तुल्यकालत्वात्।

(१३) अधिकृत्य कृते ग्रन्थे (पाणिनि, ४।३।८७) शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्र-जननादिभ्यश्छः (४।३ ८८)। द्वन्द्व, जैसे अग्निकाश्यपीय (महाभाष्य में)

(१४) काशिका में प्रद्युम्नाभिगमनीय है, और किसी किसी प्रति में सीता-न्वेषणीय नाम भी मिलता है। प्रद्युम्नाभिगमनीय, सीतान्वेषणीय ये दोनों गणरत्नमहोदधि में भी हैं। सीतान्वेषणीय रामायणविषयक ग्रंथ ही हो सकता है। किंतु 'आकृतिगणों' में जिनका नाम सूत्रपाठ में आया है या जो गणपाठ के नामकर्ता पद हैं, उन्हींका विचार करना निरापद है।

भट्ट यज्ञेश्वर की गणरत्नावली में किरातार्जुनीय और विरुद्धभोजनीय (कोई पथ्यापथ्य ग्रंथ ?) भी मिलते हैं।

(१५) पाणिनि ४।३।११०–११, ६।२।३८।

उपमा का पाणिनि ने अपने सूत्रों में कई प्रकार उल्लेख किया है[१६]।

क्षेमेंद्र ने सुवृत्ततिलक में पाणिनि के उपजाति छंदों की प्रशंसा की है[१७]। अब तक जितने पाणिनि के सुंदर श्लोक मिले हैं उनमें उपजाति ही अधिक रमणीय हैं।

रुद्रट[१८] कृत काव्यालंकार की टीका में नमिसाधु[१९] ने उपजाति छंद का एक चरण पाणिनि के 'पातालविजय' काव्य में से दिया है और कहा है कि महाकवि भी व्याकरण विरुद्ध प्रयोग कर बैठते हैं। फिर उसी बात को पुष्ट करने के लिये "उसी कवि का" एक और श्लोक दिया है किंतु वह किस काव्य में से है यह उल्लेख नहीं किया।

अमरकोश की टीका पदचंद्रिका में रायमुकुट[२०] ने उपजाति छंद का एक चरण 'यह जाम्बवती [काव्य] में पाणिनि ने [लिखा है]' ऐसा लिख कर उद्धृत किया है जिसमें कवि और काव्य दोनों का नाम है, फिर आधा अनुष्टुप् और आगे चलकर आधा उपजाति 'जाम्बवतीविजय काव्य में' से दिया है किंतु महाकवि का नाम नहीं दिया। एक कातंत्र धातुवृत्ति में भी मिला है[२१]।

---

(१६) उपमानानि सामान्यवचनैः (२।१।५५) तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम् (२।३।७२), उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे (२।१।५६), तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः (५।१।११५) इत्यादि।

(१७) स्पृहणीयत्वचरितं पाणिनेरुपजातिभिः। चमत्कारैकसाराभिरुद्यानस्येव जातिभिः॥ (काव्यमाला, गुच्छक २, पृष्ठ ५३)

(१८) काव्यालंकार और शृंगारतिलक का कर्ता। इसका समय दसवीं शताब्दी ईसवी से पहले का है। इसने त्रिपुरवध नामक काव्य भी बनाया हो।

(१९) नमिसाधु (श्वेतांबर जैन) ने सं० ११२५ विक्रमी (ई० स. १०६९) में काव्यालंकार की टीका लिखी।

(२०) गोविंद के पुत्र बृहस्पति (उपनाम रायमुकुट) ने शक सं० १३५३ (ई० सन् १४३१) में पदचंद्रिका बनाई। इसमें बहुत कवियों के उदाहरण और वैयाकरण और कोशकारों के मत और नाम हैं।

(२१) टामस, कवींद्रवचन समुच्चय का शुद्धिपत्र X। (प्रतीकमात्र)

अब तक की खोज से तो पाणिनि के इतने ही श्लोकखंड उद्धृत किए हुए मिले हैं। **मैंने एक अर्ध, एक चरण, और चार पूरे यों छ श्लोकों का और पता लगाया है।**

वर्धमान के गणरत्नमहोदधि[२२] में 'जाम्बवतीहरण' में से एक उपजाति का अर्ध दिया हुआ है, जिसे भी पाणिनिकृत न मानने का कोई कारण नहीं है।

शाके १०९५ (ई० स० ११७२) में शरणदेव ने दुर्घटवृत्ति नामक व्याकरण का ग्रंथ बनाया[२३]। यह शरणदेव संभवतः बौद्ध[२४] हो क्योंकि इसने आरंभ में सर्वज्ञ[२५] को प्रणाम किया है और कई बौद्ध ग्रंथों से अवतरण दिए हैं, यह बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन की सभा में था जैसा कि इस प्रसिद्ध श्लोक में कहा गया है—

> गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापतिः।
> कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य च॥

इस श्लोक का 'शरण' यही शरणदेव है इसका प्रमाण यह है कि कवि जयदेव के गीतगोविंद के अंत में जिस श्लोक में उमापति-धर, जयदेव (स्वयं), गोवर्धन (आर्यासप्तशतीकार), धोयी (पवनदूत

---

(२२) एगलिंग का संस्करण, पृष्ठ १२। वर्धमान सिद्धराज जयसिंह के समय में था।

(२३) शाकमहीपतिवत्सरमाने एकनभोनवपंचविताने।
दुर्घटवृत्तिरकारि मुदे वः कण्ठविभूषणहारलतेव॥ (त्रिवेंद्रम संस्कृत सिरीज, का संकरण पृ० १)।

कश्मीर की पुस्तकों के सूचीपत्र में डाक्टर स्टाइन ने इस ग्रंथ को सर्वरक्षित विरचित 'दुर्घटवृत्तिप्रतिसंस्कार, लिखा है किंतु इस श्लोक के रहते भी न मालूम इसका निर्माणकाल शक सं० १४०१ (ई० सन् १४७९) कैसे मान लिया। उज्ज्वलदत्त भी इस ग्रंथ को सर्वरक्षित कृत ही मानता था (टिप्पण ३१ देखो)। चाहे शरणदेव कृत दुर्घटवृत्ति कहो चाहे प्रतिसंस्करण करनेवाले सर्वरक्षित को (टिपण २६ देखो) इसका कर्ता मानो, ग्रंथ यह एक ही है।

(२४) व्याकरण पर प्रौढ स्वतंत्र ग्रंथ और व्याख्यान लिखनेवाले बहुत से बौद्ध और जैन हुए हैं।

(२५) नत्वा शरणदेवेन सर्वज्ञं ज्ञानहेतवे। (पृ० १)

कर्ता) और श्रुतिधर का उल्लेख है उसी में कहा है कि 'शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुते' अर्थात् दुरूह (दुर्घट) पदों को सुलझाने (पिघलाने) में शरण श्लाघनीय है।

सर्वरक्षित ने ग्रंथकार की प्रार्थना पर ग्रंथ को प्रतिसंस्कृत और संक्षिप्त किया[२६]। श्री सर्वरक्षित नाम के वैयाकरण के मत का इसने उल्लेख भी किया है[२७]। जगह जगह पर मार्कंडेय पुराण की सप्तशती (दुर्गापाठ) के अवतरण 'इति चण्डी'[२८] कह कर देने के कारण संभव है कि यह बंगाल का निवासी हो। वहाँ मैत्रेय रक्षित नामक वैयाकरण भी हुए हैं जिनके मतों का उल्लेख दुर्घटवृत्ति में भी है[२९]। दुर्घटवृत्ति का अवतरण रायमुकुट की पदचंद्रिका में[३०] और शब्दकौस्तुभ में भी[३१] मिलता है। इस ग्रंथ में पाणिनि के सूत्रपाठ के क्रम से उन 'दुर्घट' सूत्रों का विवेचन किया गया है जो उदाहरणों में नहीं घटते। एक सूत्र देकर किसी कवि का प्रयोग दिया है और पूछा है कि यह कैसे सिद्ध हुआ? फिर जोड़ तोड़ मिलाकर उस प्रयोग में सूत्र का समन्वय किया गया है। यह तो हुई प्रयोगों को

---

(२६) वाक्याच्छरणदेवस्य छात्रानुग्रहपीडया।
श्रीसर्वरक्षितेनैषा संक्षिप्य प्रतिसंस्कृता ॥ (पृष्ठ० १)टिप्पण २३, देखो ३१

(२७) पृष्ठ, १७।

(२८) पृष्ठ १८ आदि ११ जगह।

(२९) एक जगह केवल 'मैत्रेय' और बीसों जगह 'रक्षित' नाम से। मैत्रेय रक्षित ने धातुपाठ पर 'धातुप्रदीप' और काशिका की टीका जिनेंद्र बुद्धि के न्यास पर 'तंत्रप्रदीप' की रचना की है। यह भी बौद्ध था।

(३०) द्वितीयकांड में गुर्विणी पद की व्याख्या में (पं० दुर्गाप्रसाद जी की सूची, भंडारकर की सन् १८८३-४ की रिपोर्ट का परिशिष्ट, पृ० ४७२)

(३१) प्रौढ़ मनोरमा में भी दुर्घटः, दुर्घटवृत्तिकृत, कश्चिद् दुर्घटवृत्तिकारः यों तीन तरह से इसी ग्रंथ का उल्लेख है। उज्ज्वलदत्त की उणादि सूत्रवृत्ति में 'इति दुर्घटे रक्षितः' लिखा है उसका अभिप्राय 'इति दुर्घटवृत्तौ सर्वरक्षितः' ही है, दुर्घट नामक वैयाकरण या व्याकरण ग्रंथ और उसपर किसी और रक्षित की वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं।

व्याकरण के नियमों के अधीन माननेवाले पक्ष की बात, वस्तुतः इसमें कुछ 'दुर्घट' प्रयोगों का विवेचन है जो पेचीले हैं, साधारण दृष्टि से सूत्रों से सिद्ध नहीं होते, वहाँ पर सूत्रों को खींचखांच कर प्रयोग को यथाशक्ति सिद्ध किया गया है । अस्तु । इस ग्रंथ में कई कवियों के अवतरण और कई वैयाकरणों के मत दिए गए हैं । एक जगह[१२] (पाणिनि ४।३।२३पर) 'पुरातन' शब्द के साधुत्व का विचार उठा है । वहां पर 'बाधकान्यव निपातनानि भवन्ति,' 'कालदुष्टा एवापशब्दाः,' इत्यादि से समाधान का यत्न करके महाभाष्य के प्रमाण से दिखाया है कि 'अबाधकान्यपि निपातनानि भवन्ति' । फिर 'जाम्बवतीविजय काव्य में 'पाणिनि' ने तीन जगह जहाँ जहां 'पुरातन' पद का प्रयोग किया है वह उद्धृत किया है । एक श्लोक दूसरे सर्ग का, एक चौथे सर्ग का, और एक अट्ठारहवें सर्ग का कहा गया है ।

पुरुषोत्तम देव ने वैदिक भाषा के उपयोगी सूत्रों को छोड़कर बाकी पाणिनि सूत्रों पर भाषावृत्ति नामक टीका लिखी है । पुरुषोत्तम और भाषावृत्ति का हवाला दुर्घटवृत्ति में कई जगह मिलता है । भाषावृत्ति के टीकाकार सृष्टिधर का कहना है कि भाषावृत्ति राजा लक्ष्मणसेन की आज्ञा से रची गई और दुर्घटवृत्ति में उसका हवाला होने से पुरुषोतम का लक्ष्मणसेन के आश्रित होना सिद्ध होता है । यह भी बौद्ध था । जिनेंद्र बुद्धि के न्यास, पुरुषोत्तम की भाषावृत्ति और मैत्रेय रक्षित के धातुप्रदीप को बंगाल में पाणिनीय तंत्र के एकमात्र ज्ञाता श्रीशचंद्र चक्रवर्ती ने संपादन और वरेंद्र अनुसंधान समिति ने प्रकाशित करके संस्कृत के प्रेमियों का बड़ा उपकार किया है । हारावली कोश, गणवृत्ति आदि कई ग्रंथ पुरुषोत्तम के बनाए हैं । इस भाषावृत्ति में पाणिनि ३।२।१६२ पर 'छिदुर' शब्द के उदाहरण में एक उपजाति का चरण 'इति जाम्बवतीविजयकाव्ये पाणिनिः' उल्लेख के साथ, और पाणिनि २।४।७४ पर 'बोभोतु' के उदाहरण में एक अनुष्टुप्

(१२) पृष्ठ ८२.

जिसका प्रतीक कातंत्रधातुवृत्ति में भी है (देखो ऊपर टिप्पण २१) 'इति पाणिने जाम्बवतीविजयकाव्यम्' कह कर दिया है।

पाणिनि रचित काव्य का नाम केवल नमिसाधु ने 'पातालविजय' दिया है, राजशेखर ने जाम्बवतीजय, रायमुकुट ने जाम्बवती और जाम्बवतीविजय, वर्धमान ने जाम्बवतीहरण और शरणदेव और पुरुषोत्तम ने जाम्बवतीविजय दिया है। रायमुकुट ने एक जगह कवि और काव्य दोनों का नाम दिया है, शरणदेव और पुरुषोत्तम ने भी वैसा ही किया है। **शरणदेव ने तो यहाँ तक पता दिया है कि इस काव्य में कम से कम अट्ठारह सर्ग थे।** पातालविजय और जाम्बवतीविजय एक ही काव्य के दो नाम हैं क्योंकि इसमें श्रीकृष्ण के जाम्बवती से विवाह करने की कथा होगी और उसके लिये श्रीकृष्ण अवश्य पाताल में गए होंगे। हाँ, नमिसाधु के भरोसे दो पृथक् काव्य भी मान सकते हैं।

सुभाषितसंग्रहों के सारे पाणिनि के श्लोक इसी जाम्बवतीविजय काव्य के हों यह आवश्यक नहीं। और भी कई प्रसिद्ध कवियों के श्लोक इन सुभाषितसंग्रहों में ऐसे हैं जो उनके प्रचलित काव्यों में नहीं मिलते।

अब यहाँ पर पाणिनि के अब तक जाने हुए श्लोकों तथा श्लोक-खंडों की पूरी सूची दी जाती है। जो श्लोक या खंड नए मिले हैं उन पर (*) संकेत है, खंडों के लिये (खं०) का संकेत है। सब श्लोक पूरे दिए गए हैं और उनका भावार्थ हिंदी गद्य में भी दे दिया गया है कि पत्रिका के पाठकों को रुचिकर हो। टिप्पणियों में पूरे पते दे दिए हैं।

❀ (१)

अस्ति प्रतीच्यां दिशि सागरस्य वेलोर्मिगूढे हिमशैलकुक्षौ।
पुरातनी विश्रुतपुण्यशब्दा महापुरी द्वारवती च नाम्ना॥

पश्चिम दिशा में समुद्र की लहरों से आलिंगित बरफीले पहाड़ की कोख में प्राचीन और प्रसिद्ध द्वारका नामक महापुरी है।

❀ (२)

अनेन यत्रानुचितं धराधरैः पुरातनं साजलतं (?) महीक्षिताम्।
ददर्श सेतुं महतो जरन्तया (?) विशीर्णसीमन्त इवोदय (?क) श्रिय।॥

पाठ बहुत अशुद्ध है। ठीक अर्थ नहीं समझ पड़ता। भाव यह हो सकता है कि जहाँ पहले रामावतार में समुद्र पर सेतु बाँधा था वहां इस (कृष्ण) ने उसे जीर्ण अवस्था में ऐसा देखा मानो जल (?) लक्ष्मी (से ?) की माँग बिखरी हुई हो।

❀ (३)

त्वया सहार्जितं यच्च यच्च सख्यं पुरातनम्।
चिराय चेतसि पुरस्तरुणीकृतमद्य मे॥

जो मित्रता मैंने तेरे साथ संपादन की और जो कुछ पुरानी है आज वह बहुत दिनों पीछे मेरे चित्त में फिर नई सी हो गई।

❀ (४) (सं०)

बार्हद्रथं येन विवृत्तचक्षुर्विहस्य सावज्ञमिदं बभाषे।

इसीसे अवज्ञा के साथ आंखें बदल कर हँसते हँसते बार्हद्रथ को यों कहा।

---

(१) शरणदेव की दुर्घटवृत्ति, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज, पृष्ठ ८१ (पाणिनिसूत्र ४।३।२३ पर) 'तथा च जाम्बवतीविजये पाणिनिनोक्तम्'''इति द्वितीयसर्गे।'

(२) वहीं,'''इति चतुर्थे।'

(३) वहीं,'''इत्यष्टादशे।'

(४) गणरत्नमहोदधि, एगलिंग का संस्करण, पृष्ठ १२।

(५) (खं०)

सन्ध्यावधूं गृह्य करेण भानुः ।

सूर्य अपनी संध्यारूपिणी बहू का हाथ पकड़ कर—

(६) (खं०)

स पार्षदैरम्बरमापुपूरे ।

उस (शिव) ने अपने गणों से आकाश को भर दिया।

(७) (खं०)

पयः पृषन्तिभिः स्पृष्टा ला(वा?)न्ति वाताः शनैः शनैः ।

पानी के फुँहारों से छुई हुई हवा धीरे धीरे चल रही है।

(८) (खं०)

स सृक्किणीप्रान्तमसृक्प्रदिग्धं प्रलेलिहानो हरिणारिरुच्चकैः ।

लोहू लगे हुए होठों के कोनों को चाटता हुआ वह सिंह—

(९)

हरिणा सह सख्यं ते बोभूत्विती यदब्रवीः ।

न जाघटीति युक्तौ तत्सिंहद्विरदयोरिव ॥

---

(५) नमिसाधु कृत रुद्रट के काव्यालंकार की टीका। "महाकवि भी अपशब्दों का प्रयोग करते हैं जैसे पाणिनि के पातालविजय में"। यहाँ पर बाल की खाल निकालने वालों के मत में 'गृह्य' की जगह 'गृहीत्वा' चाहिए।

(६) अमरकोश की टीका पदचंद्रिका, रायमुकुट कृत। "इति जाम्बवत्यां पाणिनिः"। अमरकोश कांड १, वर्ग १, श्लोक ३१ में शिव के गण के लिये 'पारिषद' शब्द आया है। उसका रूपांतर 'पार्षद' पाणिनि ने प्रयोग किया है।

(७) वहीं। 'इति जाम्बवतीविजयवाक्यम्'। अमरकोश कांड १, वर्ग १०, श्लोक ६ में 'पृषत्' शब्द जल के बिंदु के लिये नपुंसक लिंग दिया है। पाणिनि ने स्त्रीलिंग ह्रस्व इकारांत पृषन्ति काम में लिया है। यहाँ केवल काव्य का नाम है, कवि का नहीं।

(८) वहीं। अमरकोश कांड २ वर्ग ६, श्लोक ६१ में होठों के कोनों के लिये सृक्वन् पद नपुंसक लिंग दिया है, पाणिनि ने ईकारांत स्त्रीलिंग 'सृक्वणी' व्यवहृत किया है। आफ्रेक्ट ने हलायुध की अभिधानरत्नमाला की सूची में भी इसका उल्लेख किया है।

(९) रामनाथ की कातंत्र धातुवृत्ति में पुरुषोत्तम की भाषावृत्ति में (वहाँ सख्यं - लड़ाई छपा है!)

जो तूने यह कहा है कि हरि से तेरी मित्रता हो तो यह युक्ति में संघटित नहीं होता जैसे कि सिंह और हाथी की।

(१०)

गतेऽर्धरात्रे परिमन्दमन्दं गर्जन्ति यत्प्रावृषि कालमेघाः।
अपश्यती वत्समिवेन्दुबिम्बं तच्छर्वरी गौरीव हुंकरोति॥

पावस में आधी रात बीत जाने पर मेघ धीरे धीरे गरजते हैं, मानों रात गौ है, चंद्रमा उसका बछड़ा है, बछड़े को (बादलों में छिपे हुए चांद को) न देख कर गौ रँभा रही है।

(११)

तन्वङ्गीनां स्तनौ दृष्ट्वा शिरः कम्पयते युवा।
तयोरन्तरसंलग्नां दृष्टिमुत्पाटयन्निव॥

कोमलांगी नारियों के स्तनों को देख कर जवान आदमी सिर धुनता है, जैसे कि उनमें निगाह फँस गई है, उसे हिला हिला कर उखाड़ रहा है।

(१२)

उपोढरागेन विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽतिरागाद् गलितं न लक्षितम्॥

चंद्रमा (नायक) ने रात्रि (नायिका) का मुख (प्रदोषकाल-वदन), जिसमें तारे (आँख की पुतलियाँ) चंचल हो रहे थे, राग (ललाई-प्रीति) बढ़ जाने से यों पकड़ा कि अधिक राग (ललाई-प्रीति) के कारण उसे सामने से अंधकाररूपी वस्त्र (दुपट्टा) सारे का सारा खिसका जाता हुआ जान ही न पड़ा।

---

(१०) नमिसाधुकृत रुद्रट के काव्यालंकार की टीका। 'तस्यैव कवेः'। यहाँ 'अपश्यन्ती' चाहिए।

(११) कवींद्रवचनसमुच्चय में पाणिनि के नाम से, दशरूपक और वाग्भट के अलंकार में बिना नाम।

(१२) सदुक्तिकर्णामृत में नाम से, जल्हण की सूक्तिमुक्तावलि में नाम से, वल्लभदेव की सुभाषितावलि में नाम से, शार्ङ्गधरपद्धति में नाम से; सुभाषितरत्नकोश, सूक्तिमुक्तावली, सारसंग्रह, ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धन), अलंकारसर्वस्व (रुय्यक), काव्यानुशासन (हेमचंद्र), और अलंकारतिलक में बिना नाम।

(१३)

पाणौ पद्मधिया मधूकमुकुलभ्रान्त्या तथा गण्डयो-
र्नीलेन्दीवरशङ्कया नयनयोर्बन्धूकबुद्ध्याधरे ।
लीयन्ते कबरीषु बान्धवजनव्यामोहबद्धस्पृहा
दुर्वारा मधुपाः कियन्ति सुतनु स्थानानि रक्षिष्यसि ?

भला सुंदरी ! तुम अपने कितने अंगों को इन भौंरों से बचाओगी ? ये ते पीछा नहीं छोड़ते दिखाई देते । हाथों को कमल, कपोलों को महुए की कलियां, आंखों को नील कमल, अधर को बंधूक और केश-पाश को अपने भाई बंधु समझ कर वे चढ़े चले आते हैं ।

(१४)

असौ गिरेः शीतलकन्दरस्थः
पारावतो मन्मथचाटुदक्षः ।
घर्मालसाङ्गीं मधुराणि कूजन्
संवीजते पक्षपुटेन कान्ताम् ॥

पहाड़ की शीतल गुफा में बैठ कर काम के चोचलों में निपुण कबूतर मीठी बोली बोल कर गर्मी से व्याकुल कबूतरी को अपने पंखों से पंखा झल रहा है ॥

(१५)

उद्बु (? द्ब) द्धेभ्यः सुदूरं घनजनिततमःपूरितेषु द्रुमेषु
प्रोद्ग्रीवं पश्य पादद्वयनमितभुवः श्रेण्यः फेरवाणाम् ।
उल्कालोकैः स्फुरद्भिर्निजवदनदरीसर्पिभिर्वीक्षितेभ्य-
श्च्योतत्सान्द्रं वसाम्भः कुथितशववपुर्मण्डलेभ्यः पिबन्ति ॥

देखिए, बादलों के छाने से अँधेरा हो रहा है । पेड़ों से लाशें लटक रही हैं, उनसे मज्जा बह रही है । शृगालों के मुँह से आग

(१३) सदुक्तिकर्णामृत में नाम से, कवीन्द्रवचनसमुच्चय में बिना नाम, शार्ङ्गधरपद्धति और पद्यरचना में अचल के नाम से, अलंकार शेखर में बिना नाम ।

(१४) सदुक्तिकर्णामृत में नाम से ।

(१५) वहीं, नाम से ।

निकला करती है, उसीके प्रकाश में लाशों को देखकर शृगालों की पाँत की पाँत, गर्दन ऊँची किए और पृथ्वी को पैरों से चाँप कर, घनी मज्जा को पी रही है।

(१६)

कल्हारस्पर्शगर्भैः शिशिरपरिचयात्कान्तिमद्भिः कराग्रै-
श्चन्द्रेणालिङ्गितायास्तिमिरनिवसने स्रंसमाने रजन्याः।
अन्योन्यालोकिनीभिः परिचयजनितप्रेमनिःस्यन्दिनीभि-
र्दूरारूढे प्रमोदे हसितमिव परिस्पष्टमाशासखीभिः॥

शिशिर ऋतु आ गई है। चंद्रमा की किरणें शीतल और प्रकाशमान हो गई हैं। चंद्रमा (नायक) ने अपनी किरणों (हाथों) को बढ़ाकर रात्रि (नायिका) का आलिंगन किया, उसका अंधकाररूपी वस्त्र खिसकने लगा, इसपर दिशाएँ (उसकी सखियाँ) बहुत आनंदित होने से खिलखिला कर हँस पड़ीं, चारों ओर प्रकाश फैल गया।

(१७)

उच्चस्पत्ताभिघातं ज्वलितहुतवहप्रौढधाम्नश्चितायाः
क्रोडाद् व्याकृष्टमूर्तेरहमहमिकया चण्डचञ्चुग्रहेण।
सद्यस्तप्तं शवस्य ज्वलदिव पिशितं भूरि जग्ध्वार्धदग्धं
पश्यान्तः प्लुष्यमाणः प्रविशति सलिलं सत्वरं गृध्र वृद्धः।

चिता धधक रही है। अधजले मुर्दे का मांस झपटने के लिये गीधों में होड़ाहोड़ी हुई। एक बुड्ढे गीध ने औरों को डैनों की मार से भगा दिया और चोंच से पकड़ कर मांस खैंच लिया। वह जल्दी से बहुत सा जलता हुआ मांस खा गया और भीतर जलने लगा तो दौड़ कर ठंढक के लिये पानी में घुस रहा है!

(१८)

पाणौ शोणतले तनूदरि दरक्षामा कपोलस्थली
विन्यस्ताञ्जनदिग्धलोचनजलैः किं म्लानिमानीयते।

---

(१६) वहीं, नाम से।

(१७) वहीं, नाम से।

(१८) वहीं, नाम से, कवीन्द्रवचनसमुच्चय में बिना नाम।

मुग्धे चुम्बतु नाम चञ्चलतया भृङ्गः क्वचित्कन्दली-
मुन्मीलन्नवमालतीपरिमलः किं तेन विस्मार्यते ॥

सखी खंडिता नायिका से कहती है—कृशोदरि! लाल हथेलियों पर कृश कपोल को रख कर काजलवाले आँसुओं से उसे क्यों म्लान कर रही हो? भोली! भौंरा चंचलता से कहीं जाकर कंदली को चख आवे किंतु क्या इससे वह नई खिली मालती के सुवास को कभी भूल जाता है?

(१९)

मुखानि चारूणि घनाः पयोधरा नितम्बपृथ्व्यो जघनोत्तमश्रियः ।
तनूनि मध्यानि च यस्य सोऽभ्यगात्कथं नृपाणां द्रविडीजनो हृदः ॥

जिनके सुंदर वदन, घन स्तन, भारी नितंब, उत्तम जघन और कृश मध्यभाग हैं—वे द्रविड़ देश की स्त्रियाँ राजाओं के मन से कैसे निकल गईं?

(२०)

क्षपाः क्षामीकृत्य प्रसभमपहृत्याम्बु सरितां
प्रताप्योर्वीं कृत्स्नां तरुगहनमुच्छोष्य सकलम् ।
क्व संप्रत्युष्णांशुर्गत इति समालोकनपरा—
स्तडिद्दीपालोका दिशि दिशि चरन्तीह जलदाः ॥

बरसात का वर्णन है। जिसने रातों को कृश (छोटी) कर दिया, बलात्कार से नदियों का पानी चुरा लिया (सुखा दिया), सारी पृथ्वी को संतप्त कर दिया, जंगल के सारे वृक्षों को सुखा दिया, ऐसा अपराधी सूर्य अब कहाँ चला गया—इसी लिये बिजली के दीपक हाथ में लिए लिए मेघ सब दिशाओं में खोज करते फिर रहे हैं!

---

(१९) वहीं नाम से।

(२०) सूक्तिमुक्तावलि, सुभाषितावलि, शार्ङ्गधरपद्धति, सभ्यालंकरण संयोग शृंगार, पद्यरचना में नाम से; सदुक्तिकर्णामृत में श्रीकंठ के नाम से, कवींद्रवचनसमुच्चय और सुभाषितरत्नकोश में बिना नाम।

(२१)

अथास्तसादास्तमनिन्द्यतेजा जनस्य दूरोज्झितमृत्युभीतेः ।
उत्पत्तिमद् वस्तु विनाश्यवश्यं यथाहमित्येवमिवोपदेष्टुम् ॥

सूर्य का अस्त हो गया, मानों उन लोगों को जिन्होंने मृत्यु का डर बिलकुल छोड़ दिया है यह उपदेश देने के लिये कि जिस वस्तु की उत्पत्ति होती है उसका विनाश अवश्य होता है, जैसे कि मेरा ।

(२२)

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद् दधानार्द्रनखक्षताभम् ।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार ॥

शरद ऋतु (नायिका) ने सूर्य (नायक) का संताप (तपन-जलन) बहुत बढ़ा दिया—क्यों न हो, वह उज्ज्वल पयोधरों (मेघों-स्तनों) पर ताज़ा नखक्षत के समान इंद्र (प्रतिनायक) का धनुष दिखा रही है और सकलंक चंद्रमा (प्रतिनायक) को प्रसन्न (निर्मल-आनंदित) कर रही है ।

(२३)

निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो मुखं निशायामभिसारिकायाः ।
धारानिपातैः सह किं नु वान्तश्चन्द्रोयमित्यार्ततरं ररास ॥

रात को बादल ने बिजली की आँख से अभिसारिका का मुख देखा । देखकर उसे संदेह हुआ कि कहीं मैंने जलधाराओं के साथ चंद्रमा को तो नहीं गिरा दिया है । इसपर वह और भी अधिक कड़कने (रोने पीटने) लगा ।

*(२४)

प्रकाश्य लोकान् भगवान् स्वतेजसा प्रभाद्दरिद्रः सवितापि जायते ।
अहो चला श्रीर्बलमानदा (?) महो स्पृशन्ति सर्वं हि दशा विपर्यये ॥

---

(२१) सुभाषितावलि में, नाम से ।

(२२) सुभाषितावलि में नाम से, काव्यालंकारसूत्र (वामन), ध्वन्यालोक टीका (अभिनवगुप्त), अलंकारसर्वस्व और साहित्यदर्पण में बिना नाम ।

(२३) सुभाषितावलि में नाम से, कुवलयानंद, अलंकार कौस्तुभ, प्रताप-रुद्रयशोभूषण (टीका) में बिना नाम ।

(२४) सुभाषितावलि में नाम से ।

अपने तेज से सब लोकों को प्रकाशित करके सूर्य भी अंत में प्रभा से रहित हो जाता है। लक्ष्मी चंचल है, सभी को विपरीत काल में बल और मान को घटानेवाली दशा आ जाती है। (मूल कुछ अस्पष्ट है।)

(२५)

विलोक्य संगमे रागं पश्चिमाया विवस्वतः ।
कृतं कृष्णं मुखं प्राच्या न हि नार्यो विनेर्ष्यया ॥

सूर्य से संगम होने पर पश्चिम दिशा का राग (प्रेम-ललाई) देख कर पूर्व दिशा ने अपना मुँह काला (अँधियारा) कर लिया। भला कभी स्त्रियाँ ईर्ष्यारहित हो सकती हैं ?

(२६)

शुद्धस्वभावान्यपि संहतानि निनाय भेदं कुमुदानि चन्द्रः ।
अवाप्य वृद्धिं मलिनान्तरात्मा जड़ो भवेत्कस्य गुणाय वक्रः ।

चंद्रमा ने शुद्ध स्वभावयुक्त और मिलकर रहनेवाले कुमुदों में भी भेद डाल दिया, उन्हें खिला दिया। भला जिसका पेट मैला हो, जो जड़ (जलमय) और टेढ़ा हो वह बढ़कर किसे निहाल करेगा ?

(२७)

सरोरुहाक्षीणि निमीलयन्त्या रवौ गते साधु कृतं नलिन्या ।
अक्ष्णां हि दृष्टापि जगत्समग्रं फलं प्रियालोकनमात्रमेव ॥

सूर्य अस्त हो गया, नलिनी ने कमलरूप नेत्र मूँद लिए, बहुत भला किया। आँखों से चाहे सब कुछ देखते रहें किंतु उनका फल तो प्रिय को देखना मात्र ही है न ?

* (२८) खं०

करीन्द्रदर्पच्छिदुरं मृगेन्द्रम् ।

गजराजों के दर्प के दमनशील मृगराज के ।

---

(२५) वहीं, नाम से, शार्ङ्गधरपद्धति में 'कस्यापि'।

(२६) वहीं, नाम से।

(२७) वहीं, नाम से।

(२८) पुरुषोत्तम की भाषा-वृत्ति में नाम से ।

२५—अनंद विक्रम संवत् की कल्पना।

(लेखक—रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, अजमेर)

उदयपुर के कविराजा श्यामलदासजी ने मेवाड़ का इतिहास 'वीरविनोद' लिखते समय 'पृथ्वीराजरासे' की ऐतिहासिक दृष्टि से छानबीन की। जब उन्होंने उसमें दिए हुए संवतों तथा कई घटनाओं को अशुद्ध पाया तब उन्होंने उसको उतना प्राचीन न माना जितना कि लोग उसको मानते चले आते थे। फिर ईसवी सन् १८८६ में उन्होंने उसकी नवीनता के संबंध में एक बड़ा लेख[1] एशिआटिक सोसाइटी, बंगाल, के जर्नल (पत्रिका) में छपवाया और उसीका आशय हिंदी में भी 'पृथ्वीराज-रहस्य की नवीनता' के नाम से पुस्तकाकार प्रसिद्ध किया, जिससे पृथ्वीराजरासे के संबंध में एक नई चर्चा खड़ी हो गई। पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने उसके विरुद्ध 'पृथ्वीराजरासे की प्रथम संरक्षा' नामक छोटी सी पुस्तक ई० स० १८८७ के प्रारंभ में छापी जिसमें 'पृथ्वीराजरासे' के कर्ता चंदबरदाई का प्रसिद्ध चौहान राजा पृथ्वीराज के समय में होना सिद्ध करने की बहुत कुछ चेष्टा, जिस तरह बन सकी, की, फिर उसीका अँग्रेज़ी अनुवाद एशिआटिक सोसाइटी बंगाल के पास भेजा परंतु उक्त सोसाइटी ने उसे अपने जर्नल के योग्य न समझा और उसको उसमें स्थान न दिया। इसपर पंड्या जी ने उसे स्वतंत्र पुस्तकाकार छपवा कर

---

(१) बंगाल एशि० सोसा० का जर्नल, ई० स० १८८६, हिस्सा तीसरा, पृ० ५-६५।

वितरण किया। उस समय तक पंड्याजी और राजपूताना आदि के विद्वानों में से किसी ने भी अनंद विक्रम संवत् का नाम तक नहीं सुना था।

पृथ्वीराजरासे में घटनाओं के जो संवत् दिए हैं वे अशुद्ध हैं यह बात कर्नल टॉड को मालूम थी, क्योंकि उन्होंने लिखा है "कि 'हाडाओं (चौहानों की एक शाखा) की ख्याति में [अष्टपाल] का संवत् ६८१ मिलता है (कर्नल टॉड ने १०८१ माना है) परंतु किसी आश्चर्य-जनक, तो भी एक सी, भूल के कारण सब चौहान जातियाँ अपने इतिहासों में १०० वर्ष पहले के संवत् लिखती हैं, जैसे कि बीसलदेव के अनहिलपुर पाटन लेने का संवत् १०८६ के स्थान पर ६८६ दिया है। परंतु इससे पृथ्वीराज के कवि चंद ने भी भूल खाई है और पृथ्वीराज का जन्म संवत् १२१५ के स्थान में १११५ में होना लिखा है; और सब तरह संभव है कि यह अशुद्धि किसी कवि की अज्ञानता से हुई है[२]"।

पंड्याजी ने कर्नल टॉड का यह कथन अपनी 'पृथ्वीराजरासे की प्रथम संरक्षा' में उद्धृत किया[३] और आगे चल कर उसकी पुष्टि में लिखा कि—"भाट और बड़वा लोग जो संवत् अपने लेखों में लिखते हैं उसमें और शास्त्रीय संवतों में सौ १०० वर्ष का अंतर है। अब मैं यह विदित करूंगा कि मैं किस तरह इन बड़वा भाटों के संवत् से परिज्ञात हुआ। ......। इस ग्रंथ (पृथ्वीराजरासे) को राजपूताने में सर्व-प्रिय और सर्वमान्य देख करके मुझे भी उसके क्रमशः पढ़ने और उसकी उत्तमता की परीक्षा करने की उत्कंठा हुई। जब कि मैं कोटे में था मैंने इसका थोड़ा सा भाग उस राज्य के इन प्रसिद्ध कविराज चंडीदान जी से पढ़ा कि जिनके बराबर आज भी कोई चारण संस्कृत भाषा का विद्वान् नहीं है। उसके पढ़ते ही मेरे अंतःकरण में एक नया प्रकाश हुआ और रासा मेरे मन के आकर्षण का केंद्र हुआ और मेरे मन के सब संदेह मिट गये। तदनन्तर बूंदी और अन्य स्थलों के चारण और भाट कवियों के आगे उस में लिखे संवतों के विषय में उन कविराजजी से मेरा एक बड़ा वाद हुआ। उसका सारांश यह हुआ कि चंडीदानजी ने सप्रमाण यह सिद्ध किया कि जब विक्रमी संवत प्रारंभ हुआ था तब वह संवत् नहीं कहलाता था किंतु शाक कहलाता था। परंतु जब शालिवाहन ने विक्रम को बँधुआ करके

---

(२) टॉड राजस्थान (कलकत्ते का छपा, अंग्रेज़ी), जि० २, पृ० ४००, टिप्पण।

(३) पृथ्वीराजरासे की प्रथम संरक्षा, पृ० २०।

मार डाला और अपना संवत चलाना और स्थापन करना चाहा तब सर्वसाधारण प्रजा में बड़ा कोलाहल हुआ। शालिवाहन ने अपने संवत् के चलाने का दृढ़ प्रयत्न किया परंतु जब उसने यह देखा कि विक्रम के शक को बंद करके मेरा शक नहीं चलेगा क्योंकि प्रजा उसका पक्ष नहीं छोड़ती और विक्रम को वचन भी दे दिया है अर्थात् जब विक्रम बंदीग्रह में था तब उससे कहा गया था कि जो तू चाहता हो वह मांग कि उसनें यह याचना कियी कि मेरा शक सर्वसाधारण प्रजा के व्यवहार में से बंद न किया जावे।......

"तदनंतर शालिवाहन ने आज्ञा कियी कि उसका संवत् तौ "शक" करके और विक्रम का "संवत्" करके व्यवहार में प्रचलित रहैं। पंडित और ज्योतिषियों नें तौ जो आज्ञा दियी गई थी उसे स्वीकार कियी परंतु विक्रम के याचकों अर्थात् आज जो चारण भाट राव और बड़वा आदि नाम से प्रसिद्ध हैं उनके पुरुषाओं ने इस बात को अस्वीकार करके विक्रम की मृत्यु के दिन से अपना एक पृथक विक्रमी शक माना। इन दोनों संवतों में सौ १०० वर्षों का अन्तर है। शालिवाहन के शक और शास्त्रीय विक्रमी संवत् में १३५ वर्षों का अंतर है। इन दोनों के अन्तरों में जो अन्तर है उस का कारण यह है कि भाट और वंशावली लिखनेवालों नें विक्रम की सब वय केवल १०० सौ वर्ष की ही मानी है। यह लोग यह नहीं मानते कि विक्रम नें १३५ वर्ष राज्य किया और न उसके राजगद्दी पर बैठने के पहिले भी कुछ वय का होना जो संभव है वह मानते हैं। इस प्रकार विक्रम के उस समय से दो संवत प्रारंभ हुवे, उनमें से जो पंडित और ज्योतिषियों नें स्वीकार किया वह "शास्त्रीय विक्रमी संवत्" कहलाया और दूसरा जो भाटों और वंश लिखनेवालों ने माना वह "भाटों का संवत" करके कहलाया। आदि में ही इस तरह मतान्तर हो गया और दो थोक इतने शीघ्र उत्पन्न हो गये। भाटों में अपने शक का प्रयोग अपने लेखों में किया। यह भाटों का शक दिल्ली और अजमेर के अंतिम चौहान बादशाह के राज्य समय तक कुछ अच्छा प्रचार को प्राप्त रहा और उसका शास्त्रीय विक्रमी संवत् से जो अंतर है उसका कारण भी उस समय तक कुछ लोगों को परिज्ञात रहा। तदनन्तर इस का प्रचार तौ प्रतिदिन घटता गया और शास्त्रीय विक्रमी संवत का ऐसा बढ़ता गया कि आज इसका नाम सुनते ही लोग आश्चर्य सा करते हैं। इस भाटों के शक का दूसरे राजपूतों के इतिहासों में प्रवेश होने की अपेक्षा चौहान शाखा के राजपूतों में अधिक प्रयोग होना देखने में आता है। यदि हम रासे में लिखे संवतों की भाटों के विक्रमी शक के नियमानुसार परीक्षा करें तौ सौ १०० वर्ष के एक से अंतर के हिसाब से वह शास्त्रीय विक्रमी संवत् से बराबर मिल जाते हैं और जो हम रासे के बनने के पहले और पिछले संवतों को भी इसी प्रकार से जांचें

तो हम हमारी उक्ति की सत्यता के विषय में तुरंत संतुष्ट हो जाते हैं। जैसे उदाहरण के लिये देखो कि हाडा राजपुत्रों की वंशावली लिखनेवाले हाडाओं के मूल पुरुष अस्थिपाल जी का असेर प्राप्त करने का सं० ९८१ (१०८१) और बीसलदेवजी का अनहलपुर पट्टन प्राप्त करने का सं० ९८६ (१०८६) वर्णन करते हैं। भाटों का यह एक अपना पृथक् शक मानना सत्य और योग्य है क्योंकि किसी का नाम वंशावली में मृत्यु होने पर ही लिखा जाता है[४]"।

इस प्रकार पंड्याजी ने कर्नल टॉड की बताई हुई चौहानों के इतिहासों (ख्यातों) और रासे में १०० वर्ष की अशुद्धि पर से विक्रम का एक नया संवत् खड़ा कर दिया जिसका नाम उन्होंने 'भाटों का संवत्' या 'भटायत संवत्' रक्खा और साथ में यह भी मान लिया कि उसमें १०० वर्ष जोड़ने से शास्त्रीय विक्रम संवत् ठीक मिल जाता है। इस संबंध में विक्रम की आयु १३५ वर्ष की होने, शालिवाहन के विक्रम को बंदी करने आदि की कल्पनाएँ अपना खंडन अपने आप करती हैं। पृथ्वीराजरासे और चौहानों की ख्यातों में जो थोड़े से संवत् मिलते हैं वे शुद्ध हैं वा नहीं इसकी जांच के साधन उस समय जैसे चाहिएँ वैसे उपस्थित न होने के कारण पंड्याजी को अपने उक्त कथन में विशेष आपत्ति मालूम नहीं हुई परंतु एक आपत्ति उनके लिये अवश्य उपस्थित थी जो पृथ्वीराजजी की मृत्यु का संवत् था। चौहानों की ख्यातों और पृथ्वीराजरासे में तो उनकी मृत्यु का शुद्ध संवत् नहीं मिलता परंतु मुसल्मानों की लिखी हुई तवारीखों से यह निर्णय हो चुका था कि तराइन की लड़ाई, जिसमें पृथ्वीराज की शहाबुद्दीन गोरी से हार हुई और वे कैद होकर मारे गए हिजरी सन् ५८७ (वि० सं० १२४८—४९) में हुई थी। पृथ्वीराजरासे में पृथ्वीराज का जन्म सं० ११९५ में होना और ४३ वर्ष की उम्र पाना लिखा है। यदि पंड्याजी के कथन

---

(४) वही, पृ० ४३-४५। अवतरण में पंड्याजी की लेखनशैली ज्यों की त्यों रक्खी है। जो पद मोटे अक्षरों में हैं उनके नीचे पंड्याजी की पुस्तक में रेखा खिँची हुई है।

के अनुसार इस संवत् ११११ को भटायत संवत् मानें तो उनका देहांत वि० सं० (१००+ ११११+४३=) १२५८ में होना मानना पड़ता है। यह संवत् उनके देहांत के ठीक संवत् (१२४८—४९) से ९ या १० वर्ष पीछे आता है। इस अंतर को मिटाने के लिये पंड्याजी को पृथ्वीराजरासे के पृथ्वीराज का जन्म-संवत् सूचित करने-वाले दोहे के 'एकादस सै पंच दह' पद में आए हुए पंचदह (पंचदश) शब्द का अर्थ 'पांच, करने की खैंचतान में 'दह' (दश) शब्द का अर्थ 'दस' न कर 'शून्य' करने की आवश्यकता हुई और उसके संबंध में यह लिखना पड़ा कि "हमारे इस कहने की सत्यता के विषय में कोई यह शंका करै कि "दश" से शून्य का ग्रहण क्यों किया जाता है। तो इसके उत्तर में हम कहते हैं कि यहां "दश" शब्द के यह दोनों (दस और शून्य) अर्थ हो सकते हैं। और इन दोनों में से किसी एक अर्थ का प्रयोग करना कवि के अधिकार की बात है[१]"। 'दस' का अर्थ 'शून्य' होता है वा नहीं इसका निर्णय करना हम इस समय तो पाठकों के विचार पर ही छोड़ते हैं। यहाँ पंड्याजी की प्रथम संरक्षा का, जिसकी भूमिका ता० १-१-१८८७ ई० को लिखी गई थी, शोध समाप्त हुआ और **उस तारीख तक तो 'अनंद विक्रम संवत्' की कल्पना का प्रादुर्भाव भी नहीं हुआ था।**

पृथ्वीराजरासे की प्रथम संरक्षा छपवा कर उसी साल (ई० स० १८८७ में) पंड्याजी ने पृथ्वीराजरासे का आदि पर्व छपवाना प्रारंभ किया। ऊपर हम लिख चुके हैं कि पृथ्वीराजरासे और चौहानों की ख्यातों में दिए हुए संवतों में से केवल पृथ्वीराज की मृत्यु का निश्चित संवत् फ़ारसी तवारीखों से पहले मालूम हुआ था। उसमें भी रासे के उक्त संवत् को पंड्याजी के कथनानुसार भटायत संवत् मानने पर भी ९—१० वर्ष का अंतर रह जाता है। इसीसे पंड्याजी को 'दह' (दश) का अर्थ 'शून्य' और 'पंचदह'

(१) वही, पृ० ४६-४७

(पंचदश) का 'पांच' मानना पड़ा जो उनको भी खटकता था। ई० सं० १८८८ के एप्रिल महीने में पंड्याजी से पहली बार मेरा मिलना उदयपुर में हुआ। उस समय मैंने उनसे 'पंचदह' (पंचदश) का अर्थ 'पांच' करने के लिये प्रमाण बतलाने की प्रार्थना की जिस पर उन्होंने यही उत्तर दिया कि 'चंद के गूढ आशय को समझने-वाले विरले ही चारण भाट रह गए हैं, तुम लोगों को ऐसे गूढ़ार्थ समझाने के लिये समय चाहिए, कभी समय मिलने पर मैं तुम्हें यह अच्छी तरह समझाऊँगा।' इस उत्तर से न तो मुझे संतोष हुआ और न पंड्याजी की खटक मिटी। फिर पंड्याजी को 'पंचदह' का अर्थ 'पांच' न कर किसी और तरह से उक्त संवत् की संगति मिलाने की आवश्यकता हुई। रासे में दिए हुए पृथ्वीराज के जन्म संवत् संबंधी दोहे—

एकादस सै पंचदह विक्रम साक अनंद।
तिहिंरिपु जय पुर हरन कौं भय प्रिथिराज नरिंद॥

में अनंद शब्द देख कर उस पर की टिप्पणी में उन्होंने 'नंद' का अर्थ 'नव', 'अनंद' का नवरहित, और उसपर से फिर 'नवरहित सौ' कर पृथ्वीराज के जन्म संबंधी रासे के संवत् में जो ९—१० वर्ष का अंतर आता था उसको मिटाने का यत्न किया और टिप्पण में लिखा कि—

"अब आप चंद की संवत् संबन्धी कठिनता को इस प्रकार समझने का प्रयत्न करें कि प्रथम तो रूपक ३५५ (एकादश सै पंचदह०) को बहुत ध्यान देकर पढ़ें। तदनंतर उसका अन्वय करके यह अर्थ करें कि (एकादस सै पंचदह) ग्यारह से पंद्रह (अनन्द विक्रम साक अथवा विक्रम अनन्द साक) अनन्द विक्रम का साक अथवा विक्रम का अनंद साक (तिहि) कि जिसमें (रिपुजय) शत्रुओं को विजय करने (पुरहरन) और नगर अथवा देशदेशान्तरों को हरन करने (कौं) को (प्रिथिराज नरिंद) पृथ्वीराज नामक नरेंद्र (भय) उत्पन्न हुए॥

"तदनन्तर इसके प्रत्येक शब्द और वाक्यखंड पर सूक्ष्म दृष्टि देकर अन्वेषण करें कि उसमें चंद की Archaic style प्राचीन गूढ़ भाषा होने के कारण संवत् संबंधी कठिनता कहाँ और क्या घुसी हुई है। कवि के

प्रतिकूल नहीं किंतु अनुकूल विचार करने पर आपकी न्याय-बुद्धि झट खोज कर पकड़ लावेगी कि विक्रम साक अनन्द वाक्यखंड में—और उसमें भी अनन्द शब्द में हम लोगों को इतने वर्षों से गड़बड़ा कर भ्रमा रखनेवाली चंद की लाघवता भरी हुई है। इतनी जड़ हाथ में आय जाने पर अनन्द शब्द के अर्थ की गहराई को ध्यान में लेकर पक्षपात रहित विचार से निश्चय कीजिये कि यहाँ चंद ने उसका क्या अर्थ माना है। निदान आपको समझ पड़ेगा कि अनंद शब्द का अर्थ यहां चंद ने केवल नव-संख्या-रहित का रक्खा है अर्थात् अ = रहित और नंद = नव ९। अब विक्रम साक अनन्द को क्रम से अनन्द विक्रम साक अथवा विक्रम अनन्द साक करके उसका अर्थ करो कि नव-रहित विक्रम का शक अथवा विक्रम का नव-रहित शक अर्थात् १००—९ = ९०। ९१ अर्थात् विक्रम का वह शक कि जो उसके राज्य के ९०। ९१ से आरंभ हुआ है। यहीं थोड़ी सी और उत्प्रेक्षा (!) करके यह भी समझ लीजिए कि हमारे देश के ज्योतिषी लोग जो सैकड़ों वर्षों से यह कहते चले आते हैं और आज भी वृद्ध लोग कहते हैं कि विक्रम के दो संवत् थे कि जिनमें से एक तो अब तक प्रचलित है और दूसरा कुछ समय तक प्रचलित रह कर अब अप्रचलित होगया है। और हमने भी जो कुछ इसके विषय की विशेष दंतकथा कोटा राज्य के विद्वान कविराज श्री चंडीदानजी से सुनी थी वह इस महाकाव्य की संरक्षा में जैसी की तैसी लिख दियी है और दूसरा अनन्द जो इस महाकाव्य में पयोग में आया है। इसी के साथ इतना यहां का यहीं और भी अन्वेषण कर लीजिये कि हमारे शोध के अनुसार जो ९०। ९१ वर्ष का अंतर उक्त दोनों संवतों का प्रत्यक्ष हुआ है उसके अनुसार इस महाकाव्य के संवत् मिलते हैं कि नहीं। पाठकों को विशेष श्रम न पड़े अतएव हम स्वयम् नीचे को कोष्टक में कुछ संवतों को सिद्ध कर दिखाते हैं:—

"पृथ्वीराजरासे के अनंद संवतों का कोष्टक

पृथ्वीराजजी का	रासे में लिखे अनन्द संवत में	सनन्द और अनन्द संवतों का अंतर जोड़ो	यह सनन्द संवत् हुआ
जन्म	११११५	९०। ९१	१२०५। ६
दिल्ली गोद जाना	११२२	९०। ९१	१२१२। ३
कैमास युद्ध	११४०	९०। ९१	१२३०। १
कन्नौज जाना	११५१	९०। ९१	१२४१। २
अंतिम लड़ाई	११५८	९०। ९१	१२४८। ९

.........."चंद के प्रयोग किये हुए विक्रम के अनन्द संवत् का प्रचार बारहवें शतक तक की राजकीय व्यवहार की लिखावटों में भी हमको प्राप्त हुआ है

अर्थात् हमको शोध करते करते हमारे स्वदेशी अंतिम बादशाह पृथ्वीराजजी और रावल समरसीजी और महाराणी पृथा बाइजी के कुछ पट्टे परवाने मिले हैं कि उनके संवत भी इस महाकाव्य में लिखे संवतों से ठीक ठीक मिलते हैं और पृथ्वीराजजी के परवानों में जो मुहर छाप है उसमें उनके राज्याभिषेक का सं० ११२२ लिखा है। इन परवानों के प्रतिरूप अर्थात् Photo हमने हमारी ओर से एशियाटिक सोसाइटी बंगाल को भेट करने के लिये हमारे स्वदेशी परम-प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डाक्टर राय बहादुर राजा राजेन्द्रलालजी मित्र एल० एल० डी०, सी० आई० ई० के पास भेजे हैं और उनके अक्रित्रिम (!) होने के विषय में हमारे परस्पर बहुत कुछ पत्रव्यवहार हुआ है। यदि हमारे राजा साहब अकस्मात् रोगग्रस्त न हो गये होते तो वे हमारे इस बड़े परिश्रम से प्राप्त किये हुए प्राचीन लेखों को अपने विचार सहित पुरातत्ववेत्ताओं की मंडली में प्रवेश किये होते। इन परवानों के अतिरिक्त हमको और भी कई एक प्रमाण प्राप्त होने की इच्छा है कि जिनको हम उस समय विद्वत् मंडली में प्रवेश करेंगे कि जब कोई विद्वान् उनको कृत्रिम होने का दोष देगा। देखिये जोधपुर राज्य के काव्यनिरूपक राजा जयचंदजी को सं० ११३२ में और शिवजी और सेतराम जी को सं० ११६८ में और जयपुर राज्यवाले पज्जूनजी को सं० ११२७ में होना आज तक निःसंदेह मानते हैं। और यह संवत् भी हमारे अन्वेषण किये हुए ९१ वर्ष के अंतर के जोड़ने से सनंद विक्रमी होकर संप्रत काल के शोध हुए समय से मिल जाते हैं। इस के अतिरिक्त रावल समरसी जी की जिन प्रशस्तियों को हमारे मित्र महामहोपाध्याय कविराज श्यामलदास जी ने अपने अनुमान को सिद्ध करने को प्रमाण में मानी है वह भी एक आंतरीय हिसाब से indirectly हमारे शोध किये इस अनन्दद संवत को और उसके प्रचार को पुष्ट और सिद्ध करती हैं[६]।"

इस प्रकार पंड्याजी ने जिस संवत् को 'पृथ्वीराजरासे की प्रथम संरक्षा' में 'भाटों का संवत्' या 'भटायत' संवत् माना था उसीका नाम उन्होंने 'अनंद विक्रम संवत्' रक्खा और पहले 'भटायत' संवत् में १०० जोड़ने से प्रचलित विक्रम संवत् का मिल जाना बतलाया था उसको पलट कर 'अनंद विक्रम संवत्' में ९० या ९१ मिलाने से प्रचलित विक्रम संवत् का बनना मान लिया। साथ में यह भी मान लिया कि ऐसा करने से पृथ्वीराजरासे तथा चौहानों की

(६) पृथ्वीराजरासा, आदि पर्व, पृ० १३९-४४।

ख्यातों में दिए हुए सब संवत् उन घटनाओं के शुद्ध संवतों से मिल जाते हैं और जोधपुर तथा जयपुर के राजाओं के जो संवत् मिलते हैं वे भी मिल जाते हैं और मेवाड़ के रावल समरसिंहजी की प्रशस्तियाँ भी उक्त संवत् (अनंद) की पुष्टि करती हैं। पंड्याजी के इस कथन का तथा उनके ऊपर उल्लेख किए हुए पृथ्वीराजजी समरसी जी तथा पृथाबाई के पट्टे परवानों की जाँच कुछ आगे चल कर करेंगे जिससे स्पष्ट हो जायगा कि उनका कथन कहाँ तक मानने योग्य है।

इसके पीछे बाबू श्यामसुंदरदासजी ने नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा की हुई ई० स० १९०० की हिंदी की हस्तलिखित पुस्तकों की खोज की रिपोर्ट, पुस्तकों के प्रारंभ और अंत के अवतरणों आदि सहित, अँग्रेज़ी में छापी जिसमें पृथ्वीराजरासे की तीन पुस्तकों के नोटिस हैं और अंत में पृथ्वीराजजी, समरसीजी तथा पृथाबाई के जिन पट्टे परवानों का उल्लेख पंड्याजी ने किया था उनकी प्रति-कृतियों (फोटो) सहित नकलें भी दी हैं। उसकी अंग्रेज़ी भूमिका में, जिसका हिंदी अनुवाद जयपुर के 'समालोचक' नामक हिंदी मासिक पुस्तक की अक्टूबर, नवंबर, दिसंबर सन् १९०४ ई० की सम्मिलित संख्या में भी छपा है, बाबूजी ने पंड्याजी के कथन को समर्थन करते हुए लिखा कि "चंद ने अपने ग्रंथ में ९०-९१ वर्ष की लगातार भूल की है। परंतु किसी बात का एक सा होना भूल नहीं कहलाता। इसलिये इस ९० वर्ष के सम अंतर के लिये कोई न कोई कारण अवश्य होगा।......। पृथाबाई का विवाह समरसी से अवश्य हुआ था,—लोग इसके विरुद्ध चाहे कुछ ही क्यों न कहें। परवानों का जो प्रमाण यहाँ दिया गया है वह बहुत ही पुष्ट जान पड़ता है और इसके विरुद्ध जो कुछ अनुमान किया जाय उस सबको हलका बना देता है।...... । परवानों और पत्रों की सत्यता में कोई संदेह नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनमें से एक दूसरे की पुष्टि करता है।.........। यह बात ऊपर बहुत ही स्पष्ट कर दी गई

है कि चंद की तिथियाँ कल्पित नहीं हैं, और न उसके महाकाव्य में दी हुई घटनाएँ ही मिथ्या हैं वरन् वे सब सत्य हैं। यह भी साबित किया जा चुका है कि ईसवी सन् की बारहवीं शताब्दी के लगभग राजपूताने में दो संवत् प्रचलित थे, एक तो सनंद विक्रम संवत् जो ईस्वी सन् के ५७ वर्ष पहले चलाया गया था और दूसरा अनंद विक्रम संवत् जो सनंद विक्रम संवत् में से ९२ वर्ष घटा कर गिना जाता था[७]।"

बाबूजी की वह रिपोर्ट यूरोप में पहुँची और वहाँ के विद्वानों ने उसे पढ़ कर नए, 'अनंद विक्रम संवत्' को इतिहास के लिये बड़े महत्त्व की बात माना। अनेक भाषाओं के विद्वान् प्रसिद्ध डाक्टर सर जी. ग्रिअर्सन ने भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के विद्वान् विंसेंट स्मिथ को इस संवत् की सूचना दी जिसपर उन्होंने अपने 'भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास' में पंड्याजी अथवा बाबूजी का उल्लेख न करके लिखा कि "सर जी. ग्रिअर्सन मुझे सूचित करते हैं कि नंदवंशी राजा ब्राह्मणों के कट्टर दुश्मन माने गए हैं और इसी लिये उनका राजत्वकाल बारहवीं शताब्दी में चंदकवि ने काल-गणना में से निकाल दिया। उसने विक्रम के अनंद (नंदरहित) संवत् का प्रयोग किया जो प्रचलित गणना से ९० या ९१ वर्ष पीछे है। नंद' शब्द का 'नव' के अर्थ में व्यवहृत होना पाया जाता है (१००—९ = ९१)[८]।" आगे चलकर उसी विद्वान् ने लिखा है कि "रासे में कालगणना की जो भूलें मानी जाती हैं उनका समाधान इस शोध से हो जाता है कि ग्रंथकर्ता ने अनंद विक्रम संवत् का प्रयोग किया है [जिसका प्रारंभ] अनुमान से ई० स० ३३ से है और इसलिये वह प्रचलित सनंद विक्रम संवत् से, जो ई० स० पूर्व ५८—५७ से [प्रारंभ हुआ था]

(७) एन्युअल् रिपोर्ट ऑन दी सर्च फॉर हिंदी मैनुसक्रिप्ट्स १९०० ई०, पृ.४-१०; और 'समालोचक' (हिंदी का मासिक पत्र), भाग ३ पृ. १६५-७१।

(८) विंसेंट स्मिथ; अर्ली हिस्टरी आफ् इंडिया, पृ० ४२, टिप्पण २।

६०-१ वर्ष पीछे है। अनंद और सनंद शब्दों का अर्थ क्रमशः 'नंदरहित' और 'नंदसहित' होता है और नंद ९० या ९१ का सूचक माना जाता है परंतु नव नंदों के कारण वह शब्द वास्तव में ९ का सूचक है[९]।"

नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा की हुई हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज की ई० स० १९०० से १९०३ तक की बाबू श्यामसुंदर-दासजी की अंग्रेज़ी रिपोर्ट की समालोचना करते समय डाक्टर रूडोल्फ होर्नली ने ई० स० १९०६ के रायल एशिआटिक सोसाइटी के जर्नल में लिखा कि "पृथ्वीराजरासे के प्रामाणिक होने को जो एक समय बिना किसी संदेह के माना जाता था पहले पहल कविराजा श्यामलदास ने ई० स० १८८६ में बंगाल एशिआ-टिक सोसाइटी के जर्नल में छपवाए हुए लेख में अस्वीकार किया और तब से उसपर बहुत कुछ संदेह हो रहा है जिसका मुख्य कारण उसके संवतों का अशुद्ध होना है। पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या का तलाश किया हुआ उसका समाधान उसी पुस्तक (रासे) से मिलता है। चंद बरदाई अपने आदि पर्व में बतलाता है कि उसके संवत् प्रचलित विक्रम संवत् में नहीं किंतु पृथ्वीराज के ग्रहण किए हुए उसके प्रकारांतर अनंद विक्रम संवत् में दिए गए हैं। इस नाम के लिये कई तर्क बतलाए गए हैं जिनमें से एक भी पूर्ण संतोषदायक नहीं है, तो भी वास्तव में जो ठीक प्रतीत होता है वह मि० श्यामसुंदरदास का यह कथन है कि यदि अनंद विक्रम संवत् का प्रारंभ प्रचलित विक्रम संवत् से, जो पहिचान के लिये सनंद विक्रम संवत् कहा जाता है, ९०-९१ वर्ष पीछे माना जावे तो रासे के सब संवत् शुद्ध मिल जाते हैं, इस-लिये यह सिद्ध होता है कि अनंद विक्रम संवत् में ३३ जोड़ने से ई० स० बन जाता है[१०]"।

---

(९) वही।

(१०) जर्नल ऑफ़ दी रॉयल एशिआटिक् सोसाइटी, सन् १९०६ ई०, पृ० ५००-१।

ई० स० १९१३ में डॉक्टर बार्नेट ने 'एंटिक्विटीज़ ऑफ् इंडिया' नामक पुस्तक प्रसिद्ध की जिसमें अनंद विक्रम संवत् का प्रारंभ ई० स० ३३ से होना माना है[११]।

विक्रम संवत् १९६७ में मिश्रबंधुओं ने हिंदी नवरत्न नामक उत्तम पुस्तक लिखी जिसमें चंद बरदाई के चरित्र के प्रसंग में रासे के संवतों के विषय में लिखा है कि "सन् संवतों का गड़बड़ अधिक संदेह का कारण हो सकता था पर भाग्यवश विचार करने से वह भी निर्मूल ठहरता है। चंद के दिए हुए संवतों में घटनाओं का काल अटकलपच्चू नहीं लिखा है वरन् इतिहास द्वारा जाने हुए समय से चंद के कहे हुए संवत् सदा ९० वर्ष कम पड़ते हैं और यही अंतर एक दो नहीं प्रत्येक घटना के संवत् में देख पड़ता है। यदि चंद के किसी संवत् में ९० जोड़ दें तो ऐतिहासिक यथार्थ संवत् निकल आता है। चंद ने पृथ्वीराज के जन्म, दिल्ली गोद जाने, कन्नौज जाने तथा अंतिम युद्ध के १११५, ११२२, ११५१, ११५८ संवत् दिए हैं और इनमें ९० जोड़ देने से प्रत्येक घटना के यथार्थ संवत् निकल आते हैं (पृथ्वीराजरासो, पृष्ठ १४०, देखिए)। प्रत्येक घटना में केवल ९० साल का अंतर होने से प्रकट है कि कवि इन घटनाओं के संवतों से अनभिज्ञ न था नहीं तो किसी में ९० वर्षों का अंतर पड़ता और किसी में कुछ और। ... ...। चंद पृथ्वीराज का जन्म १११५ विक्रम अनंद संवत् में बताता है। अतः वह साधारण संवत् न लिखकर 'अनंद' संवत् लिखता है। अनंद का अर्थ साधारणतया आनंद का भी कहा जा सकता है पर इस स्थान पर आनंद के अर्थ लगाने से ठीक अर्थ नहीं बैठता है। यदि आनंद शब्द होता तो आनंदवाला अर्थ बैठ सकता था। अतः प्रकट होता है कि चंद अनंद संज्ञा का कोई विक्रमीय संवत् लिखता है। वह अनंद संवत् जान पड़ता है कि साधारण संवत् से ९० वर्ष पीछे था। ... ...। अनंद संवत् किस प्रकार चला और साधारण संवत् से वह ९० वर्ष पीछे क्यों है इसके विषय में पंड्याजी ने कई तर्क दिए हैं पर दुर्भाग्यवश उनमें से किसी पर हमारा मत नहीं जमता है। बाबू श्यामसुंदरदासजी ने भी एक कारण बतलाया है पर वह भी हमें ठीक नहीं जान पड़ता। ... ... अभी तक हम लोगों को अनंद संवत् के चलने तथा उसके ९० वर्ष पीछे रहने का कारण नहीं ज्ञात है पर इतना ज़रूर जान पड़ता है कि अनंद संवत् चलता अवश्य था और वह साधारण संवत् से ९० या

(११) डा० बार्नेट; एंटिक्विटीज़ आफ् इंडिया, पृ० ६५

९१ वर्ष पीछे अवश्य था। उसके चलने का कारण न ज्ञात होना उसके अस्तित्व में संदेह नहीं डाल सकता [१२]।"

इस प्रकार पंड्याजी के कल्पना किए हुए 'अनंद विक्रम संवत्' को इंग्लैंड और भारत के विद्वानों ने स्वीकार कर लिया परंतु उनमें से किसीने भी यह जाँच करने का श्रम न उठाया कि ऐसा करना कहाँ तक ठीक है। राजपूताने में इतिहास की ओर दिन दिन रुचि बढ़ती जाती है और कई राज्यों में इतिहास-कार्यालय भी स्थापित हो गए हैं। ख्यातों आदि के अशुद्ध संवतों के विषय की चर्चा करते हुए कई पुरुषों ने मुझे यह कहा कि उन संवतों को अनंद विक्रम संवत् मानने से शायद वे शुद्ध निकल पड़ें। अतएव उसकी जाँच कर यह निर्णय करना शुद्ध इतिहास के लिये बहुत ही आवश्यक है कि वास्तव में चंद ने पृथ्वीराजरासे में प्रचलित विक्रम संवत् से भिन्न 'अनंद विक्रम संवत्' का प्रयोग किया है या नहीं, पंड्याजी के कल्पना किए हुए उक्त संवत् में ९० या ९१ जोड़ने से रासे तथा चौहानों की ख्यातों में दिए हुए सब घटनाओं के संवत् शुद्ध मिल जाते हैं या नहीं, ऐसे ही जोधपुर और जयपुर राज्यों की ख्यातों में मिलनेवाले संवतों तथा पृथ्वीराज, रावल समरसी तथा पृथाबाई के पट्टे परवानों के संवतों को अनंद विक्रम संवत् मानने से वे शुद्ध संवतों से मिल जाते हैं या नहीं। इसकी जाँच नीचे की जाती है।

'अनंद विक्रम संवत्' नाम।

कर्नल टॉड की मानी हुई चौहानों की ख्यातों और पृथ्वीराजरासे के संवतों में १०० वर्ष की अशुद्धि पर से उन संवतों की संगति मिलाने के लिये पंड्याजी ने ई० स० १८८७ में पृथ्वीराजरासे की प्रथम संरक्षा में तो एक नए संवत् की कल्पना कर उसका नाम 'भाटों का संवत्' या 'भटायत संवत्' रक्खा और प्रचलित विक्रम संवत् से उसका १०० वर्ष पीछे होना मान कर लिखा कि "यदि हम रासे में लिखे

---

(१२) मिश्रबंधु; हिंदी नवरत्न, पृ० ३१२-२४।

संवतों की भाटों के विक्रमी शक के नियमानुसार परीक्षा करें तो सौ १०० वर्ष के एक से अंतर के हिसाब से वह शास्त्रीय विक्रमीय संवत् से बराबर मिल जाते हैं"। इस हिसाब से पृथ्वीराज का देहांत, जो रासे में ४३ वर्ष की अवस्था में होना लिखा है, वि० सं० १२५८ में होना मानना पड़ता था। पृथ्वीराज का देहांत वि० सं० १२४८-४९ में होना निश्चित था जिससे भटायत संवत् से वह ९-१० वर्ष पीछे पड़ता था। इस अंतर को मिटाने के लिये 'एकादश सै पंचदह' में से 'पंचदह' (पंचदश) का गूढार्थ पांच' मानकर उसकी संगति मिलाने का उन्होंने यत्न किया जिसको साक्षर वर्ग ने स्वीकार न किया। तब उन्होंने उसी साल पृथ्वीराजरासे के आदि पर्व को छिपवाते समय टिप्पण में उस ९ वर्ष के फ़र्क को मिटाने के लिये पृथ्वीराज के जन्म-संबंधी रासे के दोहे 'एकादश सै पंचदह विक्रम शाक अनंद' में 'अनंद' शब्द का अर्थ 'नंद रहित' या 'नवरहित' कर अपने माने हुए भटायत संवत् के अनुसार पृथ्वीराज जी के देहांत संवत् को ठीक करने का उद्योग किया, परंतु ऐसा करने पर उक्त दोहे का अर्थ 'विक्रम का नव-रहित संवत् १११५ (अर्थात् ११०६) होता था, जिससे उन्होंने मूल में १०० का सूचक कोई शब्द न होने पर भी सौ रहित नव (अर्थात् ९१) कर उक्त संवत् का नाम 'अनंद विक्रम संवत्' रक्खा और लिखा कि "३५५ रूपक में जो अनंद शब्द प्रयोग हुआ है उस में किसी २ को कुछ संदेह रहेगा; अतएव हम फिर उसके विषय में कुछ अधिक कहते हैं। देखो संशय करना कोई बुरी बात नहीं है किंतु वह सिद्धांत का मूल है। हमारे गौतम ऋषि ने अपने न्यायदर्शन में प्रमाण और प्रमेय के पीछे संशय को एक पदार्थ माना है और उसके दूर करने के लिये ही मानो सब न्यायशास्त्र रचा गया है। यदि अनन्द का नव-संख्या-रहित का अर्थ किसी की सम्मति में ठीक नहीं जँचता हो तो उससे इस स्थल में बहुत अच्छी तरह घटता हुआ कोई दूसरा अर्थ बतलाना चाहिए। परंतु बात तब है कि वह सर्व तंत्र सिद्धांत universally true से उसी तरह सिद्ध हो सकता है कि जैसे हमने यहां अपना विचार सिद्ध कर दिखाया है। सब लोग जानते हैं कि हमारे इस शोध के पहिले तक युवा और मध्य वय के कोई कोई कवि लोग इस अनन्द संज्ञा-वाचक शब्द का गुणवाचक अर्थ शुभ Auspicious का करते हैं और चारण

जाति के महामहोपाध्याय कविराज श्री श्यामलदास जी ने भी अपने इस महा-काव्य के खंडन-ग्रंथ में यही अर्थ माना है। परंतु विद्वानों के विचारने और न्याय करने का स्थल है कि इस दोहे में आनन्द पाठ नहीं है और न छंद के लक्षण के अनुसार वह बन सक्ता है किंतु स्पष्ट अनन्द पाठ है। यदि यहाँ संज्ञा वाचक आनन्द पाठ भी होता तौ भी उस का गुणवाचक शुभ का अर्थ नहीं हो सक्ता था परंतु संस्कृत का थोड़ा सा ज्ञान रखनेवाला भी जान सक्ता है.........कि जब अनंद शब्द का सत्य अर्थ दुःख का है तो फिर क्या सुख या शुभ का अर्थ करना अयोग्य नहीं है[१३]।"

पंड्याजी ने यहाँ संस्कृत के 'अनंद' शब्द का अर्थ 'दुःख' माना है परंतु पृथ्वीराजरासा संस्कृत काव्य नहीं है कि उसको संस्कृत के नियमों से जकड़ दें। वह तो भाषा का ग्रंथ है। संस्कृत में 'अनंद' और 'आनंद' शब्द एक दूसरे से विपरीत अर्थ मे भले ही आवें परंतु हिंदी काव्यों में 'अनंद' शब्द 'आनंद' के अर्थ में तुलसीदासजी आदि प्रसिद्ध कवियों के काव्यों में मिलता है।[१४] हिंदी भाषा प्राकृत के अपभ्रंश रूप से निकली है और अपभ्रंश में बहुधा विभक्तियों को प्रत्यय नहीं लगते। यही हाल हिंदी काव्यों का भी है। विभक्तियों के प्रत्यय न लगने से कई संज्ञावाचक शब्दों का प्रयोग गुणवाचक की तरह हो जाता है, जैसे कि पृथ्वीराज के जन्म-संवत् संबंधी दोहे में 'विक्रम साक' का अर्थ विक्रम का संवत् या वर्ष है और यहाँ विक्रम के साथ संबंधकारक का प्रत्यय नहीं है

(१३) पृथ्वीराजरासा, आदि पर्व, पृ० १४०, टिप्पण।

(१४) पुनि मुनिगन दुहुँ भाइन्ह बंदे।
अभिमत आसिष पाइ अनंदे॥
रामचरितमानस (इंडियन प्रेस का), पृ० २६२

नवगयंद रघुबीर मन राजु अलान समान।
छूट जानि बनगमन सुनि उर अनंद अधिकान॥
वही, पृ० ३१३

पैाढि रही उमगै अति ही मतिराम अनंद अमात नहीं के।
मतिराम का रसराज (मनोहर प्रकाश), पृ० १२६

आये विदेश तैं प्रानप्रिया, मतिराम अनंद बढ़ाय अलेखें।
वही, पृ० १२०

जिससे उसका गुणवाचक अर्थ 'विक्रमी' संवत् हुआ। ऐसे ही 'अनंद साक' का संज्ञावाचक अर्थ 'आनंद का वर्ष' या गुणवाचक 'आनंद-दायक वर्ष या शुभ वर्ष' होता है क्योंकि 'अनंद' के साथ विभक्ति-सूचक प्रत्यय का लोप है। 'अनंद साक' पद ठीक वैसा ही है जैसा कि 'आनंद का समय', 'आनंद का स्थान' आदि। इसलिये उक्त दोहे का वास्तविक अर्थ यही है कि 'विक्रम के शुभ संवत् १११५ में पृथ्वीराज का जन्म हुआ'। ज्योतिषी लोग अपने यजमानों के जन्मपत्र वर्षपत्र आदि में सामान्य रूप से 'शुभसंवत्सरे' लिखते हैं तो पृथ्वीराज जैसे प्रतापी राजा के संबंध का इतना बड़ा काव्य लिखने-वाला उनके जन्म-संवत् को 'शुभ' कहे तो इसमें आश्चर्य की बात कौन सी है। बहुधा राजपूताने में **पत्रों के अंत में 'शुभमिती' और स्त्रियों के पत्रों के अंत में 'मिती आनंद की' लिखने की रीति पाई जाती है।**

जिन विद्वानों ने 'अनंद संवत्' को स्वीकार किया है उन्होंने 'अनंद' शब्द पर से नहीं, किंतु पंड्याजी और बाबूजी के इस कथन पर विश्वास करके कि 'रासे के संवतों में ९० या ९१ वर्ष मिलाने से सब संवत् शुद्ध मिल जाते हैं' अनंद संवत् का अस्तित्व माना है। हम आगे जाँच कर यह बतलावेंगे कि वास्तव में संवत् नहीं मिलते और न चौहानों की ख्यातों, जोधपुर और जयपुर के राजाओं के संवत तथा पृथ्वीराज, समरसी और पृथाबाई के पट्टे परवानों के संवत् में ९० या ९१ मिलाने से वे शुद्ध संवतों से मिल जाते हैं। तब स्पष्ट हो जायगा कि रासे के कर्ता ने 'अनंद' शब्द का प्रयोग 'आनंद-दायक' या 'शुभ' के अर्थ में किया है और **'अनंद विक्रम संवत्' नाम की कल्पित सृष्टि केवल पंड्याजी ने ही खड़ी की है।**

पृथ्वीराज के जन्म का संवत्।

पृथ्वीराजरासे में पृथ्वीराज का जन्म वि० सं० १११५ में होना लिखा है। पंड्याजी इस संवत् को अनंद विक्रम संवत् मानकर उसका

जन्म सनंद विक्रम संवत् (११९५ + ९०-९१ =) १२०५-६ में होना बतलाते हैं। इसके ठीक निर्णय के लिये पृथ्वीराज के दादा अर्णोराज (आना) से लगा कर पृथ्वीराज तक के अजमेर के इतिहास की संक्षेप से आलोचना करना आवश्यक है। आधुनिक शोध के अनुसार अर्णोराज से पृथ्वीराज तक का वंशवृक्ष प्रत्येक राजा के निश्चित ज्ञात समय के साथ नीचे लिखा जाता है—

१ { अर्णोराज
आनल्लदेव
आनक
आनाक
(वि० सं० ११९६, १२०७) }

(मारवाड़ की सुधवा से) | (गुजरात की कांचन देवी से)

२ (जगद्देव) — ? — ३ { विग्रहराज-चौथा
वीसलदेव
वि० सं० १२१०, १२११, १२२० }

(जगद्देव से) ५ { पृथ्वीभट्ट
पृथ्वीराज (दूसरा)
पृथ्वीदेव
पेथडदेव
(वि० सं० १२२४, १२२५, १२२६) }

(विग्रहराज से) ४ { अपरगांगेय
अमरगांगेय
अमरगंगू } — नागार्जुन

(कांचन देवी से) ६ { सोमेश्वर
(वि० सं० १२२६, १२२८, १२२९, १२३०, १२३४) }

७ { पृथ्वीराज (तीसरा)
(वि० सं० १२३३, १२३९, १२४४, १२४९) } — ९ { हरिराज
(वि० सं० १२५१) }

८ (गोविंदराज) (पृथ्वीराज तीसरा से)
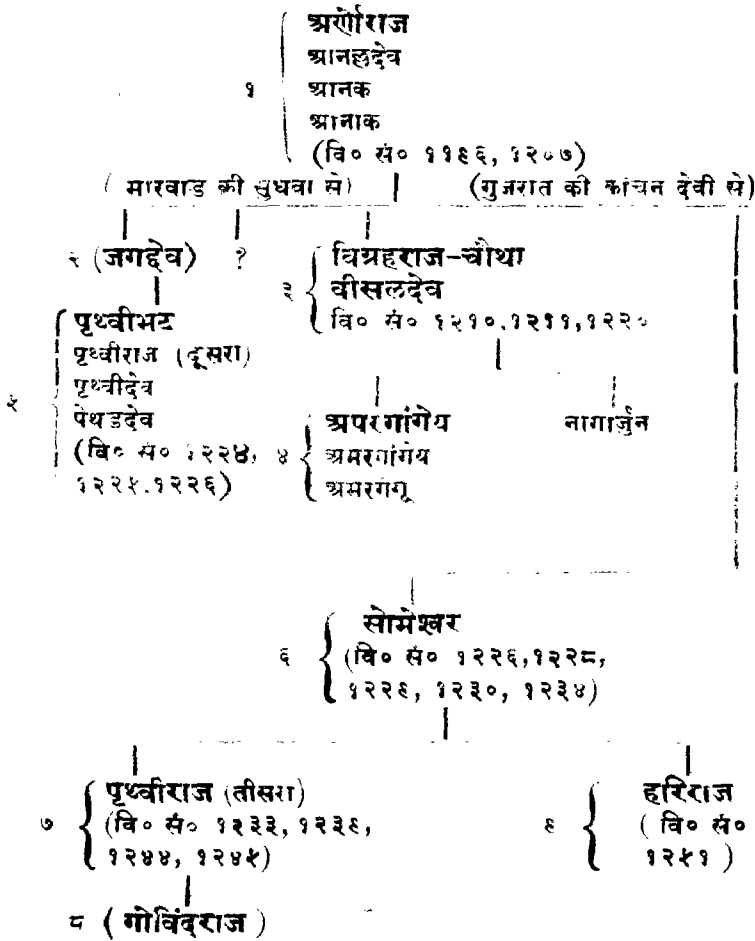
(१) पृथ्वीराजविजय में अर्णोराज की दो रानियों के नाम मिलते हैं— मारवाड़ की सुधवा और गुजरात के राज जयसिंह (सिद्धराज) की

पुत्री कांचन देवी। सुधवा से तीन पुत्र हुए जिनमें से केवल सब से छोटे विग्रहराज का नाम उसमें दिया है। कांचन देवी से सोमेश्वर का जन्म हुआ[१४] सुधवा के ज्येष्ठ पुत्र (जगद्देव) के विषय में लिखा है कि 'उसने

---

(१४) अर्वाचिभागो मरुभूमिनामा
खण्डो युलोकस्य च गूर्जराख्यः।
परीक्षणायेव दिशि प्रतीच्या-
मेकीकृतौ पाशधरेण यौ द्वौ॥ [२९॥]
तयोर्द्वयोरप्युदिते नरेन्द्रं
तं वव्रतुस्तुल्यगुणे महिष्यौ।
रसातलस्वर्गभवे इव द्वे
त्रिलोचनं चन्द्रकलात्रिमर्गे॥ [३०॥]
पूर्वा तयोर्नाम कृतार्थयन्ती
तं प्राप्य कान्तं सुधवाभिधाना।
सुतानवा पत्प्रकृतेस्समाना-
न्गुणानिवान्योन्यविभेदिनस्त्रीन्॥ [३१॥]

पृथ्वीराजविजय महाकाव्य, सर्ग ६

गूर्जरेन्द्रो जयसिंहस्तस्मै यां दत्तवान्सा काञ्चनदेवी राज्ञी च दिने च सोमं सोमेश्वरसंज्ञमजनत्॥ (पृथ्वीराजविजय, सर्ग ६, श्लोक [३४] पर जोनराज की टीका. मूल श्लोक नष्ट हो गया है)।

सूनुः श्रीजयसिंहोऽस्माज्जायते स्म जगज्जयी॥२३॥
अमर्षणं मनः कुर्वन्विपक्षोर्वीभृदुन्नतौ।
अगस्त्य इव यस्तूर्णमर्णोराजमशोषयत्॥२७॥
गृहीता दुहिता तूर्णमर्णोराजस्य विष्णुना।
दत्तानेन पुनस्तस्मै भेदोभूदुभयोरयम्॥२८॥
द्विषां शीर्षाणि लूनानि दृष्ट्वा तत्पादयोः पुरः।
चक्रे शाकंभरीशोपि शङ्कितः प्रणतं शिरः॥२९॥

सोमेश्वर रचित कीर्तिकौमुदी, सर्ग २

कीर्तिकौमुदी का कर्त्ता, गूर्जरेश्वरपुरोहित सोमेश्वर, गुजरात के राजा जयसिंह (सिद्धराज) का चौहान (शाकंभरीश्वर) अर्णोराज (आना) को जीतना और अपनी पुत्री का विवाह उस (अर्णोराज) के साथ करना स्पष्ट लिखता है, तो भी बंबई गेज़ेटिअर का कर्त्ता सोमेश्वर के कथन को स्वीकार न कर लिखता है कि 'यह भूल है क्योंकि अर्णोराज के साथ की लड़ाई और संधि कुमार-

अपने पिता की वही सेवा बजाई जो भृगुनंदन (परशुराम) ने अपनी माता की की थी (अर्थात् उसने अपने पिता को मार डाला) और वह दीपक की नाईं अपने पीछे दुर्गंध (अपयश) छोड़ मरा।[१६] वि० सं० ११९६ के अर्णोराज के समय के दो शिलालेख जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रांत में प्रसिद्ध जीणमाता के मंदिर के एक स्तंभ पर खुदे हुए हैं[१७] और चित्तौड़ के किले तथा पालड़ी के शिलालेखों से पाया जाता है कि गुजरात के चौलुक्य (सोलंकी) राजा कुमारपाल की अर्णोराज के

पाल के समय की घटनाएँ हैं' (बंबई गेज़ेटिअर, जि० १, भाग १, पृ० १७१) यहां सोमेश्वर की भूल बतलाता हुआ उक्त गेज़ेटिअर का कर्ता स्वयं भूल कर गया है क्योंकि प्रबंधचिंतामणि का कर्ता मेरुतुंगाचार्य भी जयसिंह और आनाक (अर्णोराज = आना) के बीच की लड़ाई का उल्लेख करता है (सपादलक्षः सह भूरिलक्षैरानाकभूपाय नताय दत्तः। दसे यशोवर्मणि मालवोपि त्वया न से हे द्विषि सिद्धराज ॥ प्रबंधचिंतामणि, पृ० १९०) पृथ्वीराजविजय के कर्ता जयरथ (जयानक) ने अपना काव्य वि० सं० १२४८ के पूर्व बनाया और इसमें जयसिंह की पुत्री कांचनदेवी का विवाह अर्णोराज से होना लिखा है, इतना ही नहीं किंतु उस कन्या से उत्पन्न होनेवाले सोमेश्वर को जयसिंह का अपने यहां ले जाने और उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल के द्वारा गुजरात में सोमेश्वर का लालन-पालन होने आदि का विस्तार के साथ उल्लेख किया है। कीर्तिकौमुदी वि०सं० १२८२ के आसपास बनी है। इन दोनों काव्यों का कथन बंबई गेज़ेटिअर के कर्ता के कथन की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक है।

(१६) प्रथमस्सुभवासुतस्तदार्णो
परिचर्यां जनकस्य तामकार्षीत्।
प्रतिपाद्यजलाञ्जलिं घृणायै
विदधे यां भृगुनन्दनो जनन्याः ॥ [१२॥]
न परं विदधे वृथा गुणित्वं
जनकं स्नेहमयं विनाश्य यावत्।
स्वयमेव विनश्य गर्हणीयं
व्यतनोद्दीप इवानुरागगन्धम् ॥ [१३॥]

पृथ्वीराजविजय, सर्ग ७

(१७) प्रॉग्रेस रिपोर्ट ऑफ् दी आर्किआलॉजिकल् सर्वे, वेस्टर्न सर्कल, ई० स० १९०९–१०, पृ०५२।

साथ की लड़ाई वि० सं० १२०७ के आश्विन या कार्तिक में हुई होगी[18]। उसके पुत्र विग्रहराज (वीसलदेव) ने राज्य पाने के बाद वि० सं० १२१० माघशुक्ला ५ को हरकेलि नाटक समाप्त किया[19]। अतएव अर्णोराज और जगद्देव दोनों का देहांत वि० सं० १२०७ के आश्विन और १२१० के माघ के बीच किसी समय हुआ होगा।

(२) जगद्देव का नाम, पितृघाती (हत्यारा) होने के कारण, राजपूताने की रीति के अनुसार, बीजोल्याँ के वि० सं० १२२६ के शिलालेख तथा पृथ्वीराज विजय में नहीं दिया, परंतु हंमीरमहाकाव्य[20] और प्रबंधकोष (चतुर्विंशति प्रबंध) की हस्तलिखित पुस्तक के अंत में दी हुई चौहानों की वंशावली[21] में उसका नाम जगद्देव मिलता है। जगद्देव के पुत्र पृथ्वीभट के विद्यमान होने पर भी उसके पीछे उसका छोटा भाई विग्रहराज (वीसलदेव) राजा हुआ जिसका कारण यही अनुमान किया जा सकता है कि जैसे मेवाड़ के महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) को मार कर उसका ज्येष्ठ पुत्र उदयसिंह (ऊदा) मेवाड़ का राजा बना परंतु सर्दारों आदि ने उसकी अधीनता स्वीकार न की और राणा कुंभा का छोटा पुत्र रायमल सर्दारों की सहायता से उसे निकाल कर मेवाड़ का राजा बना वैसे ही पृथ्वीभट से विग्रहराज ने अजमेर का राज्य लिया हो।

(३) विग्रहराज (वीसलदेव) चौथे के राजत्वकाल के संवत्‌-वाले शिलालेख अब तक ४ मिले हैं, जिनमें से उपर्युक्त 'हरकेलिनाटक'

---

(१८) इंडि० ऐंटि०; जि० ४०, पृ० १९६।

(१९) संवत्‌ १२१० मार्गशुदि ५ आदित्यदिने श्रवणनक्षत्रे मकरस्थ चन्द्रे हर्षणयोगे बालवकरणे हरकेलिनाटकं समाप्तं॥ मंगलं महाश्रीः॥ कृतिरियं महाराजाधिराजपरमेश्वर श्रीविग्रहराजदेवस्य (शिलाओं पर खुदा हुआ हरकेलि नाटक, राजपूताना म्यूज़िअम, अजमेर, में सुरक्षित)।

(२०) विस्मापकश्रीर्भवति स्म तस्मा-
द्भूभृत्‌ जगद्देव इति प्रतीतः।
हंमीरमहाकाव्य, सर्ग २,श्लो०५२।

(२१) गउडवहो, अंग्रेजी भूमिका, पृ० १३५–३६ (टिप्पण)

की पुष्पिका वि. सं. १२१० की, मेवाड़ के जहाज़पुर ज़िले के लोहारी गांव के पास के भूतेश्वर महादेव के मंदिर के स्तंभ पर का वि. सं. १२११ का[२२] और अशोक के लेखवाले देहली के शिवालिक स्तंभ पर [कार्तिकादि] वि. सं. १२२० (चैत्रादि १२२१) वैशाख शुदि १५ (ता० ९ एप्रिल ई. स. ११६४) गुरुवार (वार एक ही लेख में दिया है) के दो[२३] हैं। पृथ्वीभट (पृथ्वीराज दूसरे) का सब से पहला लेख वि. सं. १२२४ माघशुक्ल ७ का हांसी से मिला है[२४] अतएव विग्रहराज (वीसलदेव) चौथे और उसके पुत्र अपरगांगेय दोनों की मृत्यु वि० सं. १२२१ और १२२४ के बीच किसी समय हुई यह निश्चित है।

(४) अपरगांगेय (अमरगांगेय) से पितृघाती जगद्देव के पुत्र पृथ्वीभट ने राज्य छीन लिया हो ऐसा पाया जाता है क्योंकि मेवाड़ राज्य के जहाज़पुर ज़िले के धौड़ गांव के पास के रूठी राणी के मंदिर के एक स्तंभ पर के वि. सं० १२२५ ज्येष्ठ वदि १३ के पृथ्वीदेव (पृथ्वीभट) के लेख में उसको 'रणखेत में अपने भुजबल से शाकंभरी के राजा को जीतनेवाला'[२५] बतलाया है। बालक अपरगांगेय की मृत्यु विवाह होने से पहले हुई हो और वह एक वर्ष से अधिक राज करने न पाया हो। पृथ्वीराजविजय में लिखा है कि 'पृथ्वीराज के

(२२) ॐ ॥ सम्वत १२११ श्रीः (श्री) परमपाम्(शु)पताचार्येन(ण) विश्वेश्वर [प्र] ज्ञेन श्रीवीसलदेवराज्ये श्रीसिद्धेश्वरप्रासादे* मण्डपं [भूषितं] ॥ (लोहारी के मन्दिर का लेख, अप्रकाशित)।

(२३) इंडि० ऐंटि०, जि० १९, पृ० २१८

(२४) वही, जि० ४१, पृ० १९

(२५) ॐ सं० १२२५ ज्येष्ठ वदि १३ अद्येह श्री सपादलक्षमंडले महाराजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक उमापतिवरलब्धप्रसाद प्रौढप्रताप निजभुजरणांगणविनिर्जितशाकंभरीभूपाल श्रीप्रिथिव्विदेवविजयराज्ये (धोड गाँव के रूठी राणी के मंदिर के एक स्तंभ पर का लेख—अप्रकाशित)

द्वारा सूर्यवंश (चौहानवंश) की उन्नति को देखते हुए यमराज ने इस (विग्रहराज) के पुत्र अपरगांगेय को हर लिया[२६] ।

(५) पृथ्वीभट (पृथ्वीराज दूसरे) के समय के अब तक तीन शिलालेख मिले हैं जिनमें से उपर्युक्त हांसी का वि० सं० १२२४ का, धौड़ गांव का १२२५ का (ऊपर लिखा हुआ) और मेवाड़ के मैनाल नामक प्राचीन स्थान के मठ का १२२६ का[२७] (बिना मास, पक्ष और तिथि का) है। उसके उत्तराधिकारी सोमेश्वर का सबसे पहला वि० सं. १२२६ फाल्गुन वदि ३ का मेवाड़ के बीजोल्यां गांव के पास की चट्टान पर खुदा हुआ प्रसिद्ध लेख[२८] है जिसमें सामंत से लगा कर सोमेश्वर तक की सांभर और अजमेर के चौहानों की पूरी वंशावली मिलती है। इन लेखों से निश्चित है कि पृथ्वीभट का देहांत और सोमेश्वर का राज्याभिषेक ये दोनों घटनाएँ वि० सं० १२२६ में फाल्गुन के पहले किसी समय हुईं। पृथ्वीराजविजय में लिखा है कि 'सब गुणों से संपन्न, पितृवैरी (जगद्देव) का पुत्र, पृथ्वीभट भी (विग्रहराज को) लाने के लिये अचानक चल धरा (= मर गया[२९])।

(६) सोमेश्वर के विषय में पृथ्वीराजविजय में लिखा है कि "उसका जन्म होने पर जब उसके नाना (जयसिंह = सिद्धराज) ने ज्योतिषियों से यह सुना कि रामचंद्र अपना बाकी रहा हुआ कार्य करने के लिये उस (सोमेश्वर) के यहाँ जन्म लेंगे तब उसने उसको

---

(२६) सुतोप्यपरगाङ्गेयो निन्येस्य रविसूनुना ।
उन्नतिं रविवंशस्य पृथ्वीराजेन पश्यता ॥ [२४॥]

पृथ्वीराजविजय, सर्ग ८ ।

(२७) बंगाल एशिआटिक् सोसाइटी का जर्नल, ई० स० १८८६, हिस्सा १, पृ० ४६.

(२८) वही, पृ० ४०-४६ ।

(२९) प्रत्यानेतुमिवाकाण्डे पूर्णोपि सकलैर्गुणैः ।
पितृवैरितनूजोपि प्रतस्थे पृथिवीभटः ॥ [२६॥]

पृथ्वीराजविजय, सर्ग ८ ।

अपने नगर में मँगवा लिया। उसके पीछे कुमारपाल ने कुमार (बालक) सोमेश्वर का पालन किया जिससे उसका 'कुमारपाल' नाम सार्थक हुआ। उसकी वीरता के कारण वह (कुमारपाल) उसको सदा अपने पास रखता था। एक हाथी से दूसरे हाथी पर उछलते हुए उस (सोमेश्वर) ने कौंकण के राजा की छुरिका (छोटी तलवार) छीन ली और उसीसे उसका सिर काट डाला। फिर उसने त्रिपुरी (चेदि की राजधानी तेवर) के कलचुरि राजा की पुत्री (कर्पूरदेवी) से विवाह किया जिससे ज्येष्ठ (पक्ष नहीं दिया) की द्वादशी को पृथ्वीराज का जन्म हुआ[३०]। उसका चूड़ाकरण संस्कार होते ही रानी

(३०) उत्पस्यते कंचन कार्यशेषं
निर्मातुकामस्तनयोऽस्य रामः ।
सांवत्सरैरित्युदितानुभावं
मातामहस्तं स्वपुरं निनाय ॥ [३२]

पृथ्वीराजविजय, सर्ग ६.

अथ गूर्जरराजमूर्जितानां
मुकुटालङ्करणं कुमारपालः ।
अधिगत्य सुतासुतं तदीयं
परिरक्षन्नभवद्यथार्थनामा ॥ [११॥]
[क्रमशो रथि] यन्तृसादिपत्ति-
व्यवहारेषु विसारिणा चतुर्धा ।
युधि वीरसेन शुद्धिमन्तं
न समीपादमुचत्कुमारपालः ॥ [१४॥]
हनुमानिव शैलतस्स शैलं
द्विरदेन्द्राद्द्विरदेन्द्रमुत्पतिष्णुः ।
छुरिकामपहृत्य कुङ्कुणेन्द्रं
गमयामास कबंधतां तयैव ॥ [१५॥]
इति साहससाहचर्यचर्य-
स्समयज्ञैः प्र[तिपादि]तप्रभावाम् ।
तनयां स सपादलक्षपुण्यै-
रुपयेमे त्रिपुरीपुर[न्द]रस्य ॥ [१६॥]
ज्येष्ठत्वं चरितार्थतामथ नयन्मासान्तरापेक्षया

के फिर गर्भ रहा[३१] और माघ सुदि ३ को हरिराज का जन्म हुआ[३२]।"
पृथ्वीराज विजय के इस लेख से पाया जाता है कि जब कुमारपाल ने राज पाया उस समय अर्थात् वि० सं० ११९९ में तो सोमेश्वर बालक था प' कौंकण के राजा के साथ की लड़ाई के समय वह युद्ध में वीरता बतलाने के योग्य अवस्था को पहुँच गया था। कौंकण के जिस राजा का उक्त काव्य में उल्लेख किया गया है वह उत्तरी कौंकण का शिलारावंशी राजा मल्लिकार्जुन है। कुमारपाल की उसपर की चढ़ाई के विषय में प्रबंधचिंतामणि से पाया जाता है कि 'एक दिन कुमारपाल के दर्बार में एक भाट ने मल्लिकार्जुन को 'राजपितामह' कहा।

ज्यैष्ठस्य प्रथयन्परन्तपतया ग्रीष्मस्य भीष्मां स्थितिम्।
द्वादश्यास्तिथिमुख्यतामुपदिशन्भानोः प्रतापोन्नतिं
तन्वन्गोत्रगुरोर्निजेन नृपतेर्जज्ञे सुतो जन्मना॥ [५०॥]

वही, सर्ग ७।

पृथ्वीं पवित्रतां नेतुं राजशब्दं कृतार्थताम्।
चतुर्वर्णधनं नाम पृथ्वीराज इति व्यधात्॥ [३०॥]

वही, सर्ग ८।

(३१) चूडाकरणसंस्कार बहुधा प्रथम वर्ष में, नहीं तो तीसरे में होता है।

(३२) चूडाकरणसंस्कारसुन्दरं तन्मुखं बभौ।
पाश्चात्यभागसंप्राप्तलक्ष्मेव शशिमण्डलम्॥ [४५॥]
तत्रान्तरे पुनर्देवीवपुः प्रैक्षत पार्थिवः।
स्वमदग्रभुजङ्गेन्द्रभोगकान्त्येव पाण्डुरम्॥ [४६॥]
प्रसूतपृथिवीराजा देवी गर्भवती पुनः।
उदेष्यत्कुमुदा फुल्लपद्मेव सरसी बभौ॥ [४७॥]
माघस्याथ तृतीयस्यां सितायामपरं सुतम्।
प्रसादमिव [पार्वत्या मूर्तं] परमवाप सा॥ [४९॥]

युद्धेष्वस्य हस्तिदलनलीलां भविष्यन्तीं जानतेव हरिराजनाम्नाय स्वस्य कृतार्थत्वायेव स्पृष्टः। हरिराजो हि हस्तिमर्दनः (श्लोक ५० पर जोनराज की टीका, मूल श्लोक बहुत सा नष्ट हो गया है)

पृथ्वीराजविजय, सर्ग ८

इस पर क्रुद्ध होकर कुमारपाल ने अपने मंत्री आंबड को सेनापति बना कर अपने सामंतों सहित उसपर भेजा। उसने कौंकण में प्रवेश किया और कलविणि नदी को पार करने पर मल्लिकार्जुन से उसकी हार हुई और वह काला मुँह कराकर लौटा। इसपर कुमारपाल ने बड़ी सेना के साथ फिर उसीको उसपर भेजा और उसी नदी के पार फिर उससे लड़ाई हुई जिसमें आंबड ने उसके हाथी पर चढ़ कर अपनी तलवार से उसका सिर काट डाला और कौंकण पर कुमारपाल का अधिकार जमा दिया। उसने मल्लिकार्जुन के सिर को सोने में मढ़ा लिया और दरबार में बैठे हुए कुमारपाल को कई बहुमूल्य उपहारों के साथ भेट किया। इसपर कुमारपाल ने आंबड को ही राजपितामह की उपाधि दी।[३३], प्रबंधचिंतामणिकार मल्लिकार्जुन का सिर काटने का यश सेनापति आंबड को देता है परंतु पृथ्वीराजविजय, जो प्रबंधचिंतामणि से अनुमान ११४ वर्ष पूर्व बना था, उस वीर कार्य का सोमेश्वर के हाथ से होना बतलाता है जो अधिक विश्वास के योग्य है। मल्लिकार्जुन के दो शिलालेख शक संवत् १०७८ और १०८२ (वि०सं० १२१३ और १२१७) के[३४] मिले हैं और उसके उत्तराधिकारी अपरादित्य का पहला लेख शक संवत् १०८४ (वि०सं० १२१९) का[३५] है अतएव सोमेश्वर ने मल्लिकार्जुन को वि०सं० १२१७ या १२१८ में मारा होगा, जिसके पीछे उसने चेदि देश की राजधानी त्रिपुरी के हैहय (कलचुरि) वंशी राजा की पुत्री से विवाह किया। टीकाकार ने एक श्लोक की टीका में राजा का नाम तेजल लिखा है किंतु पृथ्वीराजविजय के एक और श्लोक में श्लेष से यह अर्थ संभव है कि कर्पूरदेवी के पिता का नाम अचलराज हो। उससे **पृथ्वीराज का जन्म हुआ जो वि० सं० १२१७ के पीछे किसी समय**

---

(३३) प्रबंधचिंतामणि, पृ० २०१-२०३।

(३४) बंबई गॅज़ेटिअर, जि० १, भाग १, पृ. १८६।

(३५) वहीं, पृ० १८६।

होना चाहिए, न कि वि० सं० १२०५-६ में। उस समय तक तो सोमेश्वर युवावस्था को भी न पहुँचा होगा।

पृथ्वीराजविजय में पृथ्वीभट की मृत्यु के वर्णन के बाद लिखा है कि 'जिसमें से पुरुष रूपी मोती गिरते गए ऐसे सुधवा के वंश को छोड़ कर राजश्री सोमेश्वर को राजा देखने के लिये उत्कंठित हुई। महामंत्री यश और प्रतापरूपी दोनों पुत्रों (पृथ्वीराज और हरिराज) सहित राजा (सोमेश्वर) को सपादलक्ष में लाए और दान तथा भोग जैसे उन दोनों पुत्रों को लेकर संपत्ति की मूर्त्ति स्वरूप कर्पूरदेवी ने अजयदेव की नगरी (अजमेर) में प्रवेश किया। परलोक को जीतने की इच्छावाले राजा ने मंदिरादि निर्माण कराए और इस तरह पितृ-ऋण से मुक्त हो कर पिता के दर्शन के लिये त्वरा की (अर्थात् जल्दी ही मरणोन्मुख हुआ)। मेरे पिता अकेले स्वर्ग में कैसे रहें और बालक पृथ्वीराज की उपेक्षा भी कैसे की जावे ऐसा विचार कर उसने उस (पृथ्वीराज) को राज्यसिंहासन पर बिठलाया और अपनी व्रतचारिणी रानी पर उसकी रक्षा का भार छोड़ कर पितृभक्ति के कारण वह स्वर्ग को सिधारा'[३६]। इससे भी निश्चित

(३६) मुक्तेवति सुधवावंशं गलत्पुरुषमौक्तिकं।
देवं सोमेश्वरं द्रष्टुं राजश्रीरुदकण्ठत ॥ [४७॥]
आत्मजाभ्यामिव यशः प्रतापाभ्यामिवान्वितः।
सपादलक्षमानिन्ये महामात्यैर्महीपतिः ॥ [४८॥]
कर्पूरदेव्यथादाय दानभोगविवात्मजौ।
विवेशाजयराजस्य सम्पन्मूर्तिमती पुरीम् ॥ [४६॥]
ऋणशुद्धिं विनिर्माय निर्माणैरीदशैः पितुः।
तत्वरे दर्शनं कर्त्तुं परलोकजयी नृपः ॥ [७१ ॥]
ए[काकिना हि] मत्पित्रा स्थीयते त्रिदिवे कथम्।
बालश्च पृथिवीराजो मया कथमुपेक्ष्यते ॥[७२॥]
[इतीवास्याभिषिक्तस्य रक्षार्थं व्रतचारिणीम्।
स्थापयित्वा निजां देवीं पितृ] भक्त्या दिवं ययौ ॥ [७३॥]

पृथ्वीराजविजय, सर्ग ८

है कि सोमेश्वर के देहांत समय पृथ्वीराज बालक ही था। सोमेश्वर के राज्यसमय के ५ शिलालेख मिले हैं जिनमें से बीजोल्यां का उपर्युक्त लेख वि० सं० १२२६ का, धौड़ गांव के उक्त मंदिर के दो स्तंभों पर वि०सं० १२२८ ज्येष्ठ सुदि १०[३७] और १२२९ श्रावण सुदि १३ के,[३८] जयपुर राज्य के प्रसिद्ध जीणमाता के मंदिर के स्तंभ पर वि०सं० १२३० का[३९] और मेवाड़ (उदयपुर) राज्य के जहाज़पुर ज़िले के आंवलदा गाँव से मिले हुए सती के स्तंभ पर वि०सं० १२३४ भाद्रपद शुदि ४ शुक्रवार का[४०] है। सोमेश्वर के पुत्र पृथ्वीराज के समय के कई लेख मिले हैं जिनमें से पहला उपर्युक्त भूतेश्वर महादेव के मंदिर के बाहर के एक सती के स्तंभ पर वि०सं० १२३६ आषाढ वदि १२ का[४१] है। इन लेखों से स्पष्ट है कि वि० सं० १२३४ और १२३६ के बीच किसी समय सोमेश्वर का देहांत और पृथ्वीराज का राज्याभिषेक हुआ। उस समय तक तो पृथ्वीराज बालक था जैसा कि ऊपर लिखा

(३७) ओं ॥ स्वस्ति ॥ संवत् १२२८ जेष्ट (ज्येष्ठ) सुदि १०.............. समस्त राजावलीसमलंकृतपरमभट्टारक:(क)महाराजाधिराजपरमेस्व (श्व) रपरममाहेस्व(श्व)रश्रीसोमेस्व(श्व)रदेवकुस(श)लीकल्याणविजयराज्ये०

धौडगांव का लेख (अप्रकाशित)

(३८) ओं ॥संवत् १२२९ श्रावणसुदी १३ अद्येह श्रीमत् (द्) अजयमेरुदुर्गे सपादलक्षप्रामस...॥समस्तराजावलिसमलंकृतः स परमभट्टारकः महाराजाधिराज परमेस्व(श्व)रपरममाहेस्वर(श्वरः) ॥ श्रीसोमेस्व(श्व)रदेव कुशलीकल्याण विजयराज्ये०

धौडगांव का लेख (अप्रकाशित)

(३९) प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ् दी आर्किऑलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिआ, वेस्टर्न सर्कल, ई०स० १९०९-१०,पृ० ५२।

(४०) ओं ।. स्वस्तिश्रीमहाराजाधिराज श्री सोमेस्व(श्व)रदेवमहाराये(ज्ये) डोडरा सिंघासुत सिद्राव......संवत् १२३४ भाद्र[पद]शुदि ४ शुक्रदिने०

आंवलदा गांव का लेख (अप्रकाशित)

(४१) संवत् १२३६ आषाढ़ वदि १२ श्रीपृथ्वीराजराज्ये वागडी सलखण पुत्र जलसल। मातु काल्ही०

लोहारी गाँव का लेख (अप्रकाशित)

गया है। पृथ्वीराजविजय में विग्रहराज (वीसलदेव) चौथे की मृत्यु के प्रसंग में यह भी लिखा है कि 'अपने भाई (सोमेश्वर) के दो पुत्रों से पृथ्वी को सनाथ जानने पर विग्रहराज ने अपने को कृतार्थ माना और वह शिव के सांनिध्य में पहुँचा'[४२]। इसका तात्पर्य यही है कि विग्रहराज ने अपनी मृत्यु के पहले सोमेश्वर के दो पुत्र होने की खबर सुन ली थी। उसका देहांत चैत्रादि वि० सं० १२२१ और १२२४ के बीच किसी समय होना ऊपर बतलाया जा चुका है इसलिये **पृथ्वीराज का जन्म वि० सं० १२२१ के आसपास होना स्थिर होता है।** पृथ्वीराजरासे में उक्त घटना का संवत् १११५ दिया है। यदि अनंद विक्रम संवत् की कल्पना के अनुसार उसमें ९०-९१ मिलावें तो भी पृथ्वीराज का जन्म वि० सं० १२०५-६ में आता है जो सर्वथा असंभव है। यदि उक्त संवत् में पृथ्वीराज का जन्म होता तो सोमेश्वर के देहांत के समय पृथ्वीराज की अवस्था लगभग ३० वर्ष की होती और सोमेश्वर को उसकी रक्षा का भार अपनी रानी को सौंपने की आवश्यकता न रहती।

पृथ्वीराज का देहली गोद जाना।

पृथ्वीराजरासे में लिखा है कि 'देहली के तंवर (तोमर) वंशी राजा अनंगपाल ने अपनी पुत्री कमला का विवाह सोमेश्वर के साथ किया जिससे पृथ्वीराज का जन्म हुआ। अंत में अनंगपाल देहली का राज्य अपने दौहित्र पृथ्वीराज को देकर बद्रिकाश्रम में तप करने को चला गया'। पंड्याजी ने अनंद विक्रम संवत् ११२२ और सनंद (प्रचलित) विक्रम संवत् १२१२-१३ में पृथ्वीराज का देहली गोद जाना और उस समय उनकी अवस्था ७ वर्ष की होना माना है, परंतु उस समय तक तो पृथ्वीराज का जन्म भी नहीं हुआ था जैसा

(४२) अथ भ्रातुरपत्याभ्यां सनाथां जानता भुवम्।
जग्मे विग्रहराजेन कृतार्थेन शिवान्तिकम्॥ [२३॥]

पृथ्वीराजविजय, सर्ग ८

कि ऊपर दिखाया जा चुका है। न तो सोमेश्वर के समय देहली में तंवर अनंगपाल का राज्य था और न उसकी पुत्री कमला का विवाह सोमेश्वर के साथ हुआ। इसलिये पृथ्वीराजरासे का यह कथन माननीय नहीं, क्योंकि देहली का राज्य तो विग्रहराज (वीसलदेव) चौथे ने ही अजमेर के अधीन कर लिया था। बीजोल्यां के उक्त वि० सं० १२२६ के लेख में विग्रहराज के विजय के वर्णन में लिखा है कि 'ढिल्ली (देहली) लेने से थके हुए और आशिका (हांसी) प्राप्त करने से स्थगित अपने यश को उसने प्रतोली (पोल) और बलभी (झरोखे) में विश्रांति दी'[४३] अर्थात् देहली और हांसी को जीत कर उसने अपना यश घर घर में फैलाया। देहली के शिवालिक स्तंभ पर के उसके लेख में हिमालय से विंध्य तक के देश को विजय करना लिखा है[४४]। हांसी से मिले हुए पृथ्वीराज (पृथ्वीभट) दूसरे के वि० सं० १२२४ के शिलालेख से पाया जाता है कि उस समय वहाँ का प्रबंधकर्ता उसका मामा गुहिलवंशी किल्हण था[४५]। ऐसे ही देहली का राज्य भी अजमेर के राजा के किसी रिश्तेदार या सामंत के अधिकार में होगा। तबक़ात-इ-नासिरी में शहाबुद्दीन गोरी के साथ की पहली लड़ाई में देहली के [राजा] गोविंदराज का पृथ्वीराज के साथ होना और उसी (गोविंदराज) के भाले से सुलतान का घायल हो कर लौटना तथा दूसरी लड़ाई में, जिसमें पृथ्वीराज की हार हुई, उस गोविंदराज का मारा जाना लिखा है[४६]।

(४३) प्रतोल्यां च वलभ्यां च येन विश्रामितं यशः [।]
ढिल्लिकाग्रहणश्रांतमाशिकालाभलंभितः(तं) ॥२२॥

बीजोल्यां का लेख (छाप पर से)

(४४) आविंध्यादाहिमाद्रेर्विरचितविजयस्तीर्थयात्राप्रसंगात्

इंडि० ऍंटि०, जि० १९,

(४५) चाहमानान्वये जातः पृथ्वीराजो महीपतिः।
तन्मातुश्चाभवद्भ्राता किल्हणः कीर्त्तिवर्द्धनः ॥ २ ॥
गुहिलौतान्वयव्योममंडनैकशरच्छशी। वही, जि. ४१, पृ० १९

(४६) तबक़ात-इ-नासिरी का अंग्रेज़ी अनुवाद (मेजर रावर्टी का किया हुआ), पृ० ४५६-६८।

इससे निश्चित है कि पृथ्वीराज (तीसरे) के समय देहली अजमेर के उक्त सामंत के अधिकार में थी । 'तारीख़ फ़रिश्ता' में भी वैसा ही लिखा है परंतु उसमें गोविंदराज के स्थान पर खांडेराव नाम दिया है जो फारसी अक्षरों के दोष से ही मूल से भिन्न हुआ है ।

पृथ्वीराज की माता का नाम कमला नहीं किंतु कर्पूरदेवी था और वह देहली के राजा अनंगपाल की पुत्री नहीं किंतु त्रिपुरी (चेदि देश की राजधानी) के हैहय (कलचुरि) वंशी राजा तेजल या अचलराज की पुत्री थी (देखो ऊपर) । नयचंद्र सूरि ने भी अपने हंमीर महाकाव्य में पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूरदेवी[४७] ही दिया है ।

जब विग्रहराज (वीसलदेव) चौथे के समय से ही देहली का राज्य अजमेर के चौहानों के अधीन हो गया था और पृथ्वीराज अनंगपाल तंवर का भानजा ही न था तो उसका अपने नाना के यहाँ देहली गोद जाना कैसे संभव हो सकता है ? यदि पृथ्वीराज का देहली गोद जाना हुआ होता तो फिर अजमेर के राज्य पर उसका अधिकार ही कैसे रहता ? पृथ्वीराज के राजत्वकाल के कई एक शिलालेख मिले हैं जिनमें से महोबे की विजय के लेखों को छोड़ कर बाकी सबके सब अजमेर के राज्य में से ही मिले हैं । उनसे भी निश्चित है कि पृथ्वीराज की राजधानी अजमेर ही थी न कि देहली । देहली का गौरव मुसल्मानी समय में ही बढ़ा है । उसके पहले विग्रहराज के समय से ही देहली चौहानों के महाराज्य का एक सूबा था । चौहानों की राजधानी अजमेर थी, प्रांत के नाम

(४७) इलाविलासी जयति स्म तस्मात्
सोमेश्वरोऽनश्वरनीतिरीतिः ॥ ६७ ॥
कर्पूरदेवीति बभूव तस्य
प्रिया [प्रिया] राधनसावधाना ।...॥ ७२ ॥
हंमीरमहाकाव्य, सर्ग २

से वे सपादलक्षेश्वर कहलाते थे और पुरखाओं की राजधानी के नाम से शाकंभरीश्वर।

कैमास युद्ध।

पृथ्वीराजरासे में लिखा है कि 'शहाबुद्दीन गोरी देहली पर चढ़ाई करने के इरादे से चढ़ा और सिंधु नदी के इस किनारे संवत् ११४० चैत्र वदि ११ को आ जमा। इसकी खबर पाने पर पृथ्वीराज ने अपने मंत्री कैमास को बड़ी सेना और सामंतों के साथ उससे लड़ने को भेजा। तीन दिन की लड़ाई के बाद कैमास शत्रु को पकड़ कर पृथ्वीराज के पास ले आया। पृथ्वीराज ने १२ हाथी और १०० घोड़े दंड लेकर उसे छोड़ दिया।' यह घटना भी कल्पित ही है क्योंकि यदि उस संवत् को अनंद विक्रम संवत् मानें तो प्रचलित विक्रम संवत् (११४० + ९०-९१ =) १२३०-३१ होता है। उस समय तक तो पृथ्वीराज राजा भी नहीं हुआ था और बालक था। शहाबुद्दीन गोरी उस समय तक हिंदुस्तान में आया भी नहीं था। ग़ज़नी और हेरात के बीच गोर का एक छोटा सा राज्य था जिसकी राजधानी फ़ीरोज़कोह थी। हिजरी सन् ५५८ (वि० सं० १२२०-२१) में वहाँ के मलिक सैफुद्दीन के पीछे उसके चचेरे भाई गियासुद्दीन मुहम्मद गोरी ने, जो बहाउद्दीन साम का बेटा था, वहाँ का राज्य पाया। उसका छोटा भाई शहाबुद्दीन गोरी था, जिसको उसने अपना सेनापति बनाया। हि० स० ५६९ (वि०सं० १२३०-३१) में शहाबुद्दीन ने गज़ों से ग़ज़नी छीनी जिससे उसके बड़े भाई ने उसको ग़ज़नी का हाकिम बनाया। हि० स० ५७१ (वि० सं० १२३२-३३) में हिंदुस्तान पर शहाबुद्दीन ने चढ़ाई कर मुलतान लिया[४८]। इसके पहले उसकी कोई चढ़ाई हिंदुस्तान पर नहीं हुई थी। ऐसी दशा में वि० सं० १२३०-३१ में पृथ्वीराज के मंत्री कैमास से उसका हार कर क़ैद होना विश्वासयोग्य नहीं।

---

(४८) तबकात-इ-नासिरी, पृ० ४४८–४९.

इसमें संदेह नहीं कि कैमास (कदंबवास) पृथ्वीराज का मंत्री था। राजपूताने में "कैमासबुद्धि" कहावत हो गई है। पृथ्वीराजविजय में उसकी बहुत प्रशंसा की है और लिखा है कि उसकी रक्षकता और सुप्रबंध से पृथ्वीराज बालक से युवा हुआ[४९]। उसी समय पृथ्वीराज के नाना का भाई भुवनैकमल्ल भी अजमेर में आ गया और उसके आने पर हरिराज युवा हुआ।[५०] इन दोनों—कदंबवास और भुवनैकमल्ल—की बुद्धि तथा वीरता से राजकाज चलता था।

जैसे पितृवैरि जगद्देव के पुत्र पृथ्वीभट ने विग्रहराज वीसलदेव के पीछे उसके पुत्र अपरगांगेय से राज छीन लिया, वैसे सुधवा के वंश ने फिर कांचनदेवी के वंश से राज छीनने का यत्न किया हो। मंत्री जब सोमेश्वर को ले आए उस समय विग्रहराज का पुत्र

---

(४९) स कदम्बवास इति वासवादिभिः
स्पृहणीयधीर्व्यसनमध्यपातिभिः।
अवगाहते सहचरस्सुमन्त्रिताम्
परिरक्षितुं क्षितिधरस्य सद्गुणान् (षड्गुणान्)॥ [३७]
सचिवेन तेन सकलासु युक्तिषु
प्रवणेन तत्किमपि कर्म निर्ममे।
मुखपुष्करं शिशुतमस्य यत्प्रभोः
परिचुम्ब्यते स्म नवयौवनश्रिया॥ [४[illegible]]
पृथ्वीराजविजय, सर्ग ६।

(५०) स पुनर्मदग्रजसुतासुतो भव-
न्द्विभुजोपि रक्षति चराचरं जगत्।
इति वार्तया कृतकुतूहलः क्रमाद्
भुवनैकमल्ल इति बन्धुराययौ॥ [६८]
प्राज्यप्रजाभ्युदयवर्धनदक्ष[चित्ते
दैवातिशायिबलयुग्भुव]नैकमल्ले।
संकीर्णबाल्ययुवभावगुणानुभाव
पस्पर्श नर्महरता हरि[राजदेवम्]॥ [८५]
वही, सर्ग ६

नागार्जुन बहुत छोटा रहा हो, किंतु अब पृथ्वीराज की प्रबलता होने पर उसने विरोध का झंडा उठा कर गुडपुर का किला अपने हाथ कर लिया। यह गुडपुर संभव है कि दिल्ली के पास का गुडगांव हो और नागार्जुन पहले वहाँ का अजमेर की ओर से शासक हो क्योंकि उसकी माता भी वहीं रहती थी। पृथ्वीराज ने कदंबवास और भुवनैकमल्ल को साथ न लेकर स्वयं ही उसपर आक्रमण किया, किला घिर जाने पर नागार्जुन भाग गया और पृथ्वीराज उसकी माता को बंदी कर के ले आया [४१]।

गोरी ने, जिसने पश्चिमोत्तर दिशा के बलवान् हयपति का गर्जन छीन लिया था, पृथ्वीराज के पास भी दूत भेजा। यह गोरी राजमंडल की श्री के लिये राहु बन कर आया हुआ कहा गया है। फिर दूत का वर्णन देकर पृथ्वीराजविजय में लिखा है कि गूर्जरों के नड्वल (नाडोल, मारवाड़ में) नामक दुर्ग पर गोरियों ने आक्रमण किया जहाँ सब राज्यांग छिप गए थे। पृथ्वीराज को इस पर क्रोध आया किंतु कदंबवास ने कहा कि आपके शत्रु सुंदोपसुंद न्याय से स्वयं नष्ट हो जायँगे, आप क्रोध न कीजिए।

(४१) अथ कुविधियदृच्छयेव नागा-
र्जुन इति निन्दितभिद्युताग्न्यनामा।
निगडगृहपरिग्रहाय मातु-
र्ग्रह इव विग्रहराजवल्लभायाः॥ [७]
पितुरखिलनृपाविलङ्घ्यभाग्या-
द्भुतबलनिर्मथनैकवीरजन्मा।
गुडपुरमिति दुर्गमध्यरोह-
न्मधुरसाहृतिदोहदेन बालः [८]
गुडपुरमथ वेष्टयांचकार
क्षितिपतिरुद्धतयुद्धतत्त्वदर्शी॥ [१०]
दयितमपि विमुच्य वीरधर्मं
क्वचिदपि विग्रहराजभूरयासीत्॥ [१२]
सममहितमहीपतेर्जनन्या
सुभटघटाः प्रभुरानिनाय बध्वा॥ [१३]

इतने ही में गूर्जर देश से पत्र लेकर दूत आया जिससे जाना गया कि गोरी को गूर्जरों ने हरा कर भगा दिया है[५२]। बजोलियाँ के लेख से पाया जाता है कि वीसलदेव विग्रहराज ने नड्डुल, पाली आदि को बर्बाद किया था[५३] इसलिये वहाँवाले भी चौहानों के शत्रु थे। सुंदोपसुंद न्याय कहने का यही तात्पर्य

---

(५२) मरुदिव दिशि पश्चिमोत्तराया-
मतिबलवानधिपस्समस्त एव।
तदुपरि परमार्यपौरुष[र्ष्या
हय]पतिरेव तिरस्करोति सर्वान्॥ [३६]
तमपि मुषितगर्जनाधिकारं
विरसलघुं शरदभ्रवद्व्यधाद्यः।
कदशनकुशलो गवामरित्वा-
त्समुदितगोरिपदापदेशमुद्रः॥ [४०]
स किल सकलराजमण्ड[लश्री]-
व्यवधिविधानविधुन्तुदत्वमैच्छत्॥ [४१]
[व्यसृ]जदजयमेरुमेरुभूभृ-
त्कुहरहरेरपि दूतमेकमग्रे॥ [४२]

यावद्राजाङ्गान्यपि दुर्गाङ्गे मग्नानीत्यर्थः। भयात्सर्वे दुर्गं प्रविष्टा [इ]ति तात्पर्यम् (श्लोक ४८ पर जोनराज की टीका, श्लोक नहीं रहा)

पृथ्वीराजस्य तावन्निखिलदिगभयारम्भसंरम्भसीमा-
भीमा भ्रूभङ्गभङ्गी विरचनसमयं कार्मुकस्याचचक्षे॥ [५०]

पृथ्वीराजविजय, सर्ग १०

राजन्नवसरो नायं कृपां भाग्यनिधेस्तव।... [४]
सुन्दोपसुन्दुभङ्ग्या ते स्वयं नंक्ष्यंति शत्रवः॥ [५]
लेखहस्तः पुमान्प्राप्तो देव गूर्जरमण्डलात्॥ [७]
गूर्जरोपज्ञमाचख्यौ घोरं गोरिपराभवम्॥ [६]

वही, सर्ग ११

(५३) जावालिपुरं ज्वालापुरं कृता पल्लिकापि पल्लीव।
नड्वलतुल्यं रोषान्नड्ड(ड्डू)लं येन सौ(शौ)र्येण॥२१॥

(बीजोलियाँ का लेख)

है। गोरी का हमला गूर्जरों[५४] के अधिकार के नड्डल पर भी हुआ हो। किंतु उसका पहला हमला हिंदुस्तान की भूमि पर हिजरी सन् ५७१ (वि० सं० १२३२-३) में हुआ और उसके पहले कैमास का लड़ने जाकर उसे (अनंद संवत् ११४० = वि० सं० १२३०-३१ में) हरा आना असंभव है।

पृथ्वीराज का कन्नौज जाना।

पृथ्वीराजरासे में लिखा है कि 'कन्नौज के राजा विजयपाल ने देहली के तंवर राजा अनंगपाल पर चढ़ाई की परंतु चौहान सोमेश्वर और अनंगपाल की सेना से वह पराजित हुआ, जिसके पीछे विजयपाल ने अनंगपाल की दूसरी कन्या सुंदरी से विवाह किया। उसका पुत्र जयचंद हुआ। विजयपाल ने दिग्विजय करते हुए पूर्वी समुद्र तट पर कटक के सोमवंशी राजा मुकुंददेव पर चढ़ाई की। उसने उसका बड़ा स्वागत किया और बहुत से धन के साथ अपनी पुत्री भी उसके भेट कर दी। इसका विवाह विजयपाल ने अपने पुत्र जयचंद के साथ कर दिया और उसके संजोगता नामक कन्या हुई। विजयपाल वहाँ से आगे बढ़ कर सेतुबंध तक पहुंचा। वहाँ से लौटते हुए उसने तैलंग, कर्णाट, मिथिला, पुंगल, आसेर, गुर्जर, गुंड, मगध, कलिंग आदि के राजाओं को जीत कर पट्टनपुर (अनहिलवाडे) के राजा भोला भीम पर चढ़ाई की। भीम ने अपने पुत्र के साथ नज़राना भेज कर उसे लौटा दिया। इस प्रकार सब राजाओं को उसने जीत लिया परंतु अजमेर के चौहान राजा ने उसकी अधीनता स्वीकार न की। विजयपाल के पीछे उसका पुत्र जयचंद कन्नौज का राजा हुआ। उसने राजसूय यज्ञ करना निश्चय कर सब राजाओं को उसमें उपस्थित होने के लिये बुलाया। उसने पृथ्वीराज को भी बुलावा भेजा परंतु उसने उसकी अधीनता न मान कर वहाँ जाना स्वीकार न किया इतना ही नहीं किंतु जयचंद की धृष्टता से क्रुद्ध होकर उसके भाई

(५४) विग्रहराज से लेकर शहाबुद्दीन की चढ़ाई के समय तक नाडोल, पाली आदि पर नाडौल के चौहानों का अधिकार था। पृथ्वीराजविजय में इस प्रदेश को गूर्जरमंडल कहा है। हुएन्त्संग भी भीनमाल के इलाके को, जो नाडोल से बहुत दूर नहीं है, गूर्जरदेश कहता है। नाडोल का प्रदेश इस गूर्जर प्रांत के अंतर्गत होने से अथवा वर्तमान गुजरात देश के अधीन हो जाने से वहाँवाले गूर्जर कहे गए हैं, इसका यह अर्थ नहीं है कि नाडौल उस समय गूर्जर जाति के अधिकार में था।

बालुक राय पर चढ़ाई कर दी। उसने बालुक राय के इलाके को उजाड़ कर उसके मुख्य नगर खोखंदपुर को लूटा और लड़ाई में उसको मार डाला। उसकी स्त्री रोती हुई कन्नौज में जयचंद के पास पहुँची और उसने चौहान के द्वारा अपने सर्व-नाश होने का हाल कहा। जयचंद ने पृथ्वीराज पर चढ़ाई करने का विचार किया परंतु उसके सलाहकारों ने यह सलाह दी कि मेवाड़ के राजा समरसिंह को अपने पक्ष में लिए बिना पृथ्वीराज को जीतना कठिन है। इसपर उसने रावल समरसिंह को यज्ञ में बुलाने के लिये पत्र लिखा और बहुत कुछ लालच भी बतलाया परंतु उसने एक न मानी। इस पर जयचंद ने समरसिंह और पृथ्वी-राज दोनों पर चढ़ाई करना निश्चय किया और पृथ्वीराज से अपने नाना अनं-गपाल का देहली का आधा राज्य भी लेना चाहा। फिर उसने अपनी सेना के दो विभाग कर एक को पृथ्वीराज पर देहली और दूसरे को समरसिंह पर चित्तौड़ भेजा। दोनों स्थानों से उसकी फौजें हार खाकर लौटीं। पृथ्वीराज उसके यज्ञ में न गया इसलिये उसने पृथ्वीराज की सोने की मूर्त्ति बनवा कर द्वारपाल की जगह खड़ी करवाई। राजसूय के साथ साथ जयचंद की पुत्री संजोगता का स्वयंवर भी होनेवाला था। उस राजकुमारी ने पृथ्वीराज की वीरता का हाल सुन रक्खा था जिससे उसीको अपना पति स्वीकार करने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। स्वयंवर के समय उसने वरमाला पृथ्वीराज की उस मूर्ति के गले में ही डाली, जिसपर क्रुद्ध हो जयचंद ने उसको गंगातट के एक महल में कैद कर दिया। इधर पृथ्वीराज ने अपनी मूर्ति द्वारपाल की जगह खड़ी किए जाने और संजोगता का अपने पर अनन्य प्रेम होने के समाचार पाकर कन्नौज पर चढ़ाई कर दी। वहाँ पर भीषण युद्ध हुआ जिसमें कन्नौज के राजा तथा उसके अनेक सामंतों आदि के दलबल का संहार कर पृथ्वीराज संजोगता को लेकर देहली लौटा। जयचंद इससे बहुत ही लज्जित हुआ, किंतु पृथ्वीराज को देहली में आए दो दिन भी नहीं हुए थे कि जयचंद ने अपने पुरोहित श्रीकंठ को वहाँ भेज कर संजोगता के साथ पृथ्वीराज का विधिपूर्वक विवाह करा दिया।'

रासे में पृथ्वीराज के कन्नौज जाने का संवत् ११५१ दिया है जिसको अनंद विक्रम संवत् मान कर पंड्याजी ने सनंद (प्रचलित) विक्रम सं० (११५१ + ९०—९१ =) १२४१-४२ में कन्नौज की लड़ाई का होना माना है, परंतु कन्नौज की गद्दी पर विजयपाल (विजयचंद) के पीछे उसके पुत्र जयचंद का बैठना, और उसका तथा पृथ्वीराज का उक्त संवत् में विद्यमान होना,—इन दो बातों को छोड़ कर ऊपर लिखा हुआ पृथ्वीराजरासे का सारा

कथन ही कल्पित है। सोमेश्वर के समय देहली पर अनंगपाल तंवर का राज्य ही न था क्योंकि विग्रहराज (वीसलदेव) चौथे के समय से ही देहली का राज्य तो अजमेर के चौहानों के अधीन हो गया था (देखो ऊपर पृष्ठ ४०५) अतएव अनंगपाल की पुत्री सुंदरी का विवाह विजयपाल के साथ होने का कथन वैसा ही कल्पित है जैसा कि उसकी बड़ी पुत्री कमला का विवाह सोमेश्वर के साथ होने का। विजयपाल की अजमेर के चौहान के सिवाय हिंदुस्तान के सेतुबंध तक के सब राजाओं को जीतने की बात भी निर्मूल है। विजयपाल के समय कटक पर सोमवंशी मुकुंददेव का नहीं किंतु गंगावंशियों का राज्य था। ऐसे ही उसके समय पट्टनपुर (पाटन; अनहिलवाड़ा = गुजरात की राजधानी) का राजा भोला भीम नहीं किंतु कुमारपाल था, क्योंकि कन्नौज के विजयचंद्र ने वि० सं० १२११ के अनंतर ही राज पाया तथा १२२६ में उसका देहांत हुआ।[२५] उधर गुजरात का राजा वि० सं० ११९९ से १२३० तक कुमारपाल था। भोलाभीम तो वि० सं० १२३५ में बाल्यावस्था में राजा हुआ था। जयचंद के समय मेवाड़ (चित्तौड़) का राजा रावल समरसी नहीं किंतु सामंतसिंह और उसका छोटा भाई कुमारसिंह थे[२६]। कुमारसिंह से पांचवीं पुश्त में मेवाड़ का राजा समरसिंह हुआ जो वि० सं० १३५८ तक तो जीवित था[२७]। ऐसे ही जयचंद के राजसूय यज्ञ करने और

(२५) विजयचंद्र के पिता गोविंदचंद्र का अंतिम दान-पत्र वि० सं० १२११ का मिला है (एपि० इंडि० जिल्द ४, पृ० ११६) और विजयचंद्र का सब से पहला दान-पत्र वि० सं० १२२४ का है (एपि० इंडि०, जिल्द ४, पृ० ११८)। विजयचंद्र का अंतिम दान-पत्र वि० सं० १२२५ का है जिसमें जयचंद्र को युवराज लिखा है (इंडि० ऐंटि० जिल्द १५, पृष्ठ ९७, और जयचंद्र का सबसे पहला दान-पत्र वि० सं० १२२६ का है जिसमें उसके अभिषेक का उल्लेख है (एपि० इंडि०, जिल्द ४, पृ० १२१)

(२६) नागरीप्रचारिणी पत्रिका, नवीन संस्करण, भाग १, पृष्ठ २५-२९।

(२७) ओं॥ संवत् १३५८ वर्षे माघ शुदि १० दशम्यां......महाराजाधिराज-श्रीसमरसिंह[देवक]ल्याणविजयराज्ये। (चित्तौड़ के रामपोल दरवाज़े के सामने के नीम के पेड़वाले चबूतरे पर पड़ा हुआ शिलालेख जो मुझे ता० १९-१२-१९२० को मिला, अप्रकाशित)

संजोगता के स्वयंवर की कथा भी निरी कल्पित ही है। जयचंद बड़ा ही दानी राजा था, उसके कई दान-पत्र अब तक मिल चुके हैं जिनसे पाया जाता है कि वह प्रसंग प्रसंग पर भूमिदान किया करता था। यदि उसने राजसूय यज्ञ किया होता तो ऐसे महत्त्व के प्रसंग पर तो वह कितने ही गाँव दान करता परंतु उसके संबंध का न तो अब तक कोई दानपत्र मिला और न किसी शिलालेख या प्राचीन पुस्तक में उसका उल्लेख है। इसी तरह पृथ्वीराज और जयचंद के बीच की कन्नौज की लड़ाई और संजोगता को लाने की कथा भी गढ़ंत ही है क्योंकि उसका और कहीं उल्लेख नहीं मिलता। ग्वालियर के तोमर (तंवर) वंशी राजा वीरम के दरबार के प्रसिद्ध कवि नयचंद्र सूरि ने वि० सं० १४४० के आस पास 'हंमीर महाकाव्य' रचा जिसमें पृथ्वीराज का विस्तृत वृत्तांत दिया है। ऐसे ही उक्त कवि ने अपनी रची हुई 'रंभामंजरी नाटिका' का नायक जयचंद्र को बनाया है और जयचंद्र के विशेषणों से लगभग दो पत्रे भरे हैं परंतु उन दोनों काव्यों में कहीं भी पृथ्वीराज और जयचंद के बीच की लड़ाई, जयचंद के राजसूय यज्ञ या संजोगता के स्वयंवर का उल्लेख नहीं किया। इससे यही पाया जाता है कि वि० सं० १४४० के आसपास तक तो ये कथाएँ गढ़ी नहीं गई थीं। ऐसी दशा में वि० सं० १२४१-४२ में पृथ्वीराज के कन्नौज जाकर जयचंद से भीषण युद्ध करने का कथन भी मानने के योग्य नहीं।

अंतिम लड़ाई।

इस लड़ाई का संवत् पृथ्वीराजरासे में ११५८ दिया है जिसको अनंद संवत् मानने से इस लड़ाई का वि० सं० (११५८ + ९०—९१ =) १२४८—४९ में होना निश्चित होता है। शहाबुद्दीन और पृथ्वीराज के बीच की दूसरी लड़ाई का इसी वर्ष होना फारसी तवारीखों से भी सिद्ध है। इसी लड़ाई के बाद थोड़े ही दिनों में पृथ्वीराज मारा गया, परंतु इस पर से यह नहीं माना जा सकता कि अनंद विक्रम संवत् की कल्पना

ठीक है क्योंकि पंड्याजी का सारा यत्न इसी एक संवत् को मिलाने के लिये ही हुआ है। पृथ्वीराजरासे के अनुसार पृथ्वीराज का देहांत (१११५+४३=) ११५८ में होना पाया जाता है। यह संवत् उक्त घटना के शुद्ध संवत् से ६१ वर्ष पहले का होता है। इसी अंतर को मिटाने के लिये पंड्याजी को पहले 'भटायत संवत्' खड़ा कर उसका प्रचलित विक्रम सं० से १०० वर्ष पीछे चलना मानना पड़ा। परंतु वैसा करने से पृथ्वीराज की मृत्यु वि० सं० (१११५+४३+१००=) १२५८ में आती थी। यह संवत् शुद्ध संवत् से ६ वर्ष पीछे पड़ता था जिससे पृथ्वीराज के जन्म संवत् संबंधी रासे के दोहे के पद 'पंचदह' (पंचदश) का अर्थ पंड्याजी को 'पांच' कर पृथ्वीराज की मृत्यु वि० सं० १२४८ में बतलानी पड़ी। जब 'पंचदह' का अर्थ 'पांच' करना लोगों ने स्वीकार न किया तब पंड्याजी ने उक्त दोहे के 'विक्रम शाक अनंद' से 'अनंद' का अर्थ 'नवरहित' और उस पर से 'नवरहित सौ' अर्थात् ९१ करके अनंद विक्रम संवत् का सनंद विक्रम संवत् से ९० । ९१ वर्ष पीछे प्रारंभ होना मान लिया, इतना ही नहीं परंतु पृथ्वीराजरासे तथा चौहानों की ख्यातों आदि में दिए हुए जिन भिन्न भिन्न घटनाओं के संवतों में १०० वर्ष मिलाने से उनका शुद्ध संवतों से मिल जाना पहले बतलाया था उन्हीं का फिर ९१ वर्ष मिलाने से शुद्ध संवतों से मिल जाना बतलाना पड़ा। परंतु एक ही अशुद्ध संवत् एक बार सौ वर्ष मिलाने और दूसरी बार ९०-९१ वर्ष मिलाने से शुद्ध संवत् बन जाय इस कथन को इतिहास स्वीकार नहीं कर सकता। इससे संवत् के सर्वथा अशुद्ध होने तथा ऐसा कहनेवाले की विलक्षण बुद्धि का ही प्रमाण मिलता है। पृथ्वीराजरासे के अनुसार वि० सं० ११५८ पृथ्वीराज की मृत्यु का संवत् नहीं, किंतु लड़ाई का संवत् है। मृत्यु के विषय में तो यह लिखा है कि "सुल्तान पृथ्वीराज को क़ैद कर ग़ज़नी ले गया। वहाँ उसने उसकी आँखें निकलवा डालीं। फिर चंद योगी का भेष धारण कर

ग़ज़नी पहुँचा और उसने सुल्तान से मिलकर उसको पृथ्वीराज की तीरंदाज़ी देखने को उत्सुक किया। पृथ्वीराज ने चंद के संकेत के अनुसार बाण चला कर सुल्तान का काम तमाम किया। फिर चंद ने अपने जूड़े में से छुरी निकाल कर उससे अपना पेट चाक किया और उसे राजा को दे दिया। पृथ्वीराज ने भी वही छुरी अपने कलेजे में भोंक ली। इस प्रकार शहाबुद्दीन, पृथ्वीराज और चंद की मृत्यु हुई। पृथ्वीराज के पीछे उसका पुत्र रेणसी दिल्ली की गद्दी पर बैठा''। यह सारा कथन भी कल्पित है क्योंकि शहाबुद्दीन की मृत्यु पृथ्वीराज के हाथ से नहीं किंतु हिजरी सन् ६०२ तारीख २ शाबान (वि० सं० १२६३ चैत्र सुदि ३) को गक्खरों के हाथ से हुई थी। वह जब गक्खरों को परास्त कर लाहौर से ग़ज़नी को जा रहा था उस समय धमेक के पास नदी के किनारे बाग़ में नमाज़ पढ़ता हुआ मारा गया। इसी तरह पृथ्वीराज के **पीछे उसका पुत्र रेणसी देहली की गद्दी पर नहीं बैठा। किंतु उसके पुत्र गोविंदराज को शहाबुद्दीन ने अजमेर का राजा बनाया था।** उसने शहाबुद्दीन की अधीनता स्वीकार की, इसको न सह कर पृथ्वीराज के भाई हरिराज ने उससे अजमेर छीन लिया और गोविंदराज रणथंभोर में जा बसा।

यहाँ तक तो पंड्याजी के दिए हुए पृथ्वीराजरासे के संवतों की जाँच हुई। अब उनके मिलाए हुए चौहानों की ख्यातों के संवतों की जाँच की जाती है।

अस्थिपाल का आसेर प्राप्त करना।

पंड्याजी कर्नल टॉड के कथनानुसार अस्थिपाल के आसेर प्राप्त करने का संवत् ६८१ बतलाते हैं। वे उसको भटायत संवत् मान कर उसका शुद्ध संवत् १०८१ मानते हैं। चौहानों की ख्यातों के आधार पर मिश्रण सूर्यमल्ल के 'वंशभास्कर' तथा उसीके सारांश रूप 'वंशप्रकाश' में चौहानों की वंशावली दी गई है। उनसे पाया

जाता है कि 'चाहमान (चौहान) से १४२ वीं पुश्त में ईश्वर हुआ, उसके ८ पुत्रों में से सबसे बड़ा उमादत्त तो अपने पिता के पीछे सांभर का राजा हुआ और आठवें पुत्र चित्रराज के चौथे बेटे मौरिक से मोरी (मौर्य) वंश चला। चित्रांग नामक मोरी ने चित्तौड़ का किला बनवाया। ईश्वर के पीछे उमादत्त, चतुर और सोमेश्वर क्रमशः सांभर के राजा हुए। सोमेश्वर के दो पुत्र भरथ और उरथ हुए। भरथ से २१ वीं पुश्त में सोमेश्वर हुआ जिसने देहली के राजा अनंगपाल की पुत्री से विवाह किया जिससे संवत् ११९५ में पृथ्वीराज का जन्म हुआ। उधर उरथ से १०वीं पुश्त में भौमचंद्र हुआ जिसको चंद्रसेन भी कहते थे। चंद्रसेन (भौमचंद्र) का पुत्र भानुराज हुआ जिसका जन्म सं० ४८१ में हुआ[४८]। वह अपने साथियों के साथ जंगल में खेल रहा था उस समय गंभीरारंभ राक्षस उसको खा गया परंतु उसकी कुलदेवी आशापुरा ने उसकी अस्थियाँ एकत्र कर उसे फिर जीवित कर दिया जिससे उसका दूसरा नाम अस्थिपाल हुआ। उसके वंशज अस्थि अर्थात् हड्डियों पर से हाडा कहलाए। गुजरात की राजधानी अनहिल-पुर पाटण (अनहिलवाडे) के राजा गहिलकर्ण (कर्ण घेला, गहिल = पागल; गुजराती में पागल को 'घेला', राजस्थानी 'गहला', कहते हैं) के पुत्र जयसिंह का जन्म वि० सं० ४४१ में हुआ[४९]। गहिल कर्ण के

(४८) वंशप्रकाश में ४८० छपा है (पृष्ठ२३) जो अशुद्ध है। वंशभास्कर में ४८१ ही है (सक जहँ विक्रमराज को, वसुधा वारन वेद ४८१। भौमचंद्रसुत तहँ भयो, अरिन करन उच्छेद — वंशभास्कर, पृ० १४३९)

(४९) अनिहलपट्टन नैर इत, जनपद गुज्जरजत्थ।

गहिलकर्ण चालुक्य के, सुत जो कहिय समत्थ ॥६॥
सोहु जनक जब स्वर्ग गो, सो तब पट्टनि भूप।
जास नाम जयसिंह जिहिं, राज्य करिय अनुरूप ॥७॥
क्रम पढि मात्र कलंदिका, जोग रीति सब जानि।
सिद्धराज यह नाम जिहिँ, पायो उचित प्रमानि ॥८॥
जहँ सक विक्रमराज को, ससि चउवेद ४४१ समस्त।
जनम तत्थ जयसिंह को, नृप जानहु अनुरत्त ॥९॥

वंशभास्कर, पृ० १४२४॥

पीछे वह गुजरात का राजा हुआ। उसने अपने पूर्वज कुमारपाल की तरह जैन धर्म स्वीकार किया और व्याकरण (अष्टाध्यायी), अनेकार्थनाममाला, परिशिष्टपद्धति (परिशिष्टपर्व), योगसार आदि अनेक ग्रंथों के कर्ता श्वेतांबर जैन सूरि हेमचंद्र को अपना गुरु माना। जयसिंह के गोभिलराज आदि ८ पुत्र हुए। गोभिलराज जयसिंह के पीछे गुजरात का राजा हुआ। चौहान अस्थिपाल ने गोभिलराज पर चढ़ाई की, गोभिलराज की हार हुई और अंत में दो करोड़ द्रम्म देकर उसने अस्थिपाल से सुलह कर ली। फिर अस्थिपाल ने मोरवी (काठिआवाड़ में) के झाला कुबेर की पुत्री उमा के साथ विवाह किया, भुज (कच्छ की राजधानी) के यादव राजा भीम को दंड दिया और वह अनेक देशों को विजय कर अपने पिता के पास आया। अपने पिता (भीमचंद्र) के पीछे वह आसेर का राजा हुआ"।

चौहानों की ख्यातों के आधार पर लिखा हुआ ऊपर का सारा वृत्तांत कल्पित है क्योंकि उसके अनुसार मोरी या मौर्य वंश के प्रवर्तक का चाहमान (चौहान) से १४३ वीं पुश्त में होना मानना पड़ता है जो असंभव है। मौर्यवंश को उन्नति देनेवाला चंद्रगुप्त ई० स० पूर्व की चौथी शताब्दी में हुआ तो चाहमान को उससे अनुमान ३००० वर्ष पूर्व मानना पड़ेगा। यदि चाहमान इतना पुराना होता तो पुराणों में उसकी वंशावली अवश्य मिलती। चाहमान का अस्तित्व ई० स० की ७ वीं शताब्दी के आसपास माना जाता है। चौहानों के प्राचीन शिलालेखों, दानपत्रों, एवं पृथ्वीराजविजय, हंमीर महाकाव्य, सुर्जनचरित आदि ऐतिहासिक पुस्तकों में कहीं भी भरथ और उरथ के नाम नहीं मिलते। गुजरात के सोलंकियों में कर्ण नाम के दो राजा हुए। एक तो जयसिंह (सिद्धराज) का पिता, जिसने वि० सं० ११२० से ११५० तक राज्य किया और दूसरा वाघेला (व्याघ्रपल्लीय-सोलंकियों की एक शाखा) कर्ण हुआ जो सारंगदेव का पुत्र था और जिसको गुजरात के इतिहास-लेखक कर्ण घेला (पागल) कहते हैं। उसने वि० सं० १३५२ से १३५६ से कुछ पीछे तक राज्य किया

और उसीसे गुजरात का राज्य मुसलमानों ने छीना। जयसिंह (सिद्ध-राज) का पिता कभी 'घेला' नहीं कहलाया परंतु भाटों को अंतिम कर्ण का स्मरण था जिससे जयसिंह के पिता को भी गहल (घेला) लिख दिया। जयसिंह का जन्म वि० सं० ४४१ में नहीं हुआ किंतु उसने वि० सं० ११५० से ११९९ तक राज्य किया था। जयसिंह के गोभिलराज आदि आठ पुत्रों का होना तो दूर रहा, उसके एक भी पुत्र नहीं हुआ। कुमारपाल जयसिंह का पूर्व पुरुष नहीं किंतु कुटुंब में भतीजा था और जयसिंह के पुत्र न होने के कारण वह उसका उत्तराधिकारी हुआ। ऐसी दशा में अस्थिपाल का वि० सं० ४८१ (वंशभास्कर के अनुसार) या ९८१ (कर्नल टॉड और पंड्याजी के अनुसार) में होना सर्वथा असंभव है। भाटों की वंशावलियाँ देखने से अनुमान होता है कि ई० स० की १५ वीं शताब्दी के आसपास उन्होंने उनका लिखना शुरू किया और प्राचीन इतिहास का उनको ज्ञान न होने के कारण उन्होंने पहले के सैकड़ों नाम उनमें कल्पित धरे। ऐसे ही उनके पुराने साल संवत् भी कल्पित ही सिद्ध होते हैं। चौहानों में अस्थिपाल नाम का कोई राजा ही नहीं हुआ। हाड़ा नाम की उत्पत्ति तक से परिचित न होने के कारण भाटों ने अस्थिपाल नाम गढंत किया है। उनको इस बात का भी पता न था कि चौहानों की हाड़ा शाखा किस पुरुष से चली। मूंहणोत नैणसी ने अपनी ख्यात में लिखा है कि "नाडोल के राजा राव लाखण (लक्ष्मण) के वंश में आसराज (अश्वराज) हुआ, जिसका पुत्र माणवराव हुआ। उसके पीछे क्रमशः सभराण, जैतराव, अनंगराव, कुंतसीह (कुंतसिंह), विजैपाल, हाडो (हरराज), बांगो (बंगदेव) और देवो (देवीसिंह) हुए। देवो ने मीणों से बूंदी छीन ली[१०]"। नेणसी का लेख भाटों की ख्यातों से अधिक विश्वास योग्य है। उक्त हाड़ा (हरराज) के वंशज हाड़ा कहलाए हैं। नाडोल के आसराज (अश्वराज) के समय का एक शिलालेख वि०सं०

---

(१०) मुंहणोत नेणसी की ख्यात (हस्तलिखित), पत्र २४, पृ० २।

११६७ का मिल चुका है[६१]। अतएव उसके सातवें वंशधर हाडा का वि० सं० १३०० के आसपास विद्यमान होना अनुमान किया जा सकता है। इसी हाड (हरराज) के लिये भाटों ने अनेक कृत्रिम नामों के साथ अस्थिपाल नाम भी कल्पित किया है।

वीसलदेव का अनहिलपुर प्राप्त करना।

कर्नल टॉड और पंड्याजी ने वीसलदेव के अनहिलपुर प्राप्त (विजय) करने का संवत् ९८६ लिखा है उसको भटायत संवत् मानने से प्रचलित वि०सं० १०८६ और अनंद विक्रम संवत् मानने से वि० सं० १०७६-७७ होता है। चौहानों के बीजोल्यां आदि के शिलालेखों तथा पृथ्वीराजविजय आदि ऐतिहासिक पुस्तकों से सांभर तथा अजमेर के चौहानों में विग्रहराज या वीसलदेव नाम के चार राजाओं का होना पाया जाता है परंतु भाटों की वंशावलियों में केवल एक ही वीसलदेव का नाम मिलता है। जिस विग्रहराज (वीसलदेव) ने गुजरात पर चढ़ाई की वह विग्रहराज (वीसलदेव) दूसरा था जिसके समय का हर्षनाथ (शेखावाटी में) का वि०सं०१०३० का शिलालेख भी मिल चुका है। पृथ्वीराजविजय में उक्त चढ़ाई के संबंध में लिखा है कि "विग्रहराज की सेना ने बड़ी भक्ति के कारण बाणलिंग ले लेकर नर्मदा नदी को अनर्मदा (बाणलिंगरहित) बना दिया। गुर्जर (गुजरात के राजा) मूलराज ने तपस्वी की नाईं यशरूपी वस्त्र को छोड़ कर कंथा दुर्ग (कंथकोट का किला, कच्छ में, तपस्वी के पक्ष में कंथा अर्थात् गुदड़ी) में प्रवेश किया। विग्रहराज ने भृगुकच्छ (भड़ौच) में आशापुरी देवी का मंदिर बनवाया"[६२]। इससे

(६१) एपि० इंडि०, जि० ११, पृ० २६।

(६२) सूनुर्विग्रहराजोऽस्य सापराधानपि द्विषः।
दुर्बला इत्यनुध्यायलज्जित्रिय इवाभवत् ॥[४७॥]
गृह्णद्भिः परया भक्त्या बाणलिङ्गपरंपराः।
अनर्मदेव यत्सैन्यैर्निरमीयत नर्मदा ॥[५०॥]
त्यक्तं तपस्विना [स्वच्छं] यशोंशुकमितीव यः।

पाया जाता है विग्रहराज (वीसलदेव) की चढ़ाई गुजरात के राजा मूलराज पर हुई थी। मूलराज भाग कर कच्छ के कंथकोट के किले में जा रहा और विग्रहराज (वीसलदेव) आगे बढ़ता हुआ भड़ौच तक पहुँच गया। मेरुतुंग ने अपने प्रबंधचिंतामणि में इस चढ़ाई का जो वृत्तांत दिया है उसका सारांश यह है कि "एक समय सपादलक्षीय[63] (चौहान) राजा युद्ध करने की इच्छा से गुजरात की सीमा पर चढ़ आया। उसी समय तैलंग देश के राजा के सेनापति बारप ने भी मूलराज पर चढ़ाई कर दी। मूलराज अपने मंत्रियों की इस सलाह से, कि जब नवरात्र आते ही सपादलक्षीय राजा अपनी कुलदेवी का पूजन करने के लिये अपनी राजधानी शाकंभरी (सांभर) को चला जायगा तब बारप को जीत लेंगे, कंथादुर्ग (कंथकोट) में जा रहा, परंतु चौहान ने गुजरात में ही चातुर्मास व्यतीत किया और नवरात्र आने पर वहीं शाकंभरी नामक नगर बसा, और अपनी कुलदेवी की मूर्त्ति मँगवा कर वहीं नवरात्र का उत्सव किया। इसपर मूलराज अचानक चौहान राजा के सैन्य में पहुँचा और हाथ में खड्ग लिए अकेला उसके तंबू के द्वार पर जा खड़ा हुआ। उसने द्वारपाल से कहा कि अपने राजा को खबर दो कि मूलराज आता है। मूलराज भीतर गया तो राजा ने पूछा कि, 'आप ही मूलराज हैं ?। मूलराज ने उत्तर दिया कि 'हां'। इतने में पहले से संकेत कर तय्यार रक्खे हुए ४००० पैदलों ने राजा के तंबू को घेर लिया और मूलराज ने चौहान राजा से कहा कि "इस भूमंडल में मेरे साथ लड़नेवाला कोई वीर पुरुष है या

गुर्जरं मूलराजाख्यं कंथादुर्गमवीविशत् ॥[२१॥]
व्यधादाशापुरीदेव्या भृगुकच्छे स धाम तत् ।
यद्देवालयसोपानं चन्द्रश्चुंबति मूर्धनि ॥[२२॥]

पृथ्वीराजविजय, सर्ग ५

(६३) सांभर तथा अजमेर के चौहानों के अधीन का देश 'सपादलक्ष' कहलाता था। मेरुतुंग ने चौहान राजा का नाम नहीं दिया परंतु उसको 'सपादलक्षीय नृपति' (सपादलक्ष का राजा) ही कहा है, जो 'चौहान राजा' का सूचक है।

नहीं इसका मैं विचार कर रहा था। इतने में तो आप मेरी इच्छा के अनुसार आ मिले, परंतु भोजन में जैसे मक्खी गिर जाय वैसे तैलंग देश के राजा तैलप का सेनापति मुझ पर चढ़ाई कर इस युद्ध के बीच विघ्न सा हो गया है, इसलिये जब तक मैं उसको शिक्षा न दे लूं तब तक आप ठहर जावें। पीछे से हमला करने की चेष्टा न करें। मैं इससे निपट कर आपसे लड़ने को तय्यार हूँ।" इसपर चौहान राजा ने कहा कि 'आप राजा होने पर भी एक सामान्य पैदल की नाईं अपने प्राण की पर्वाह न कर शत्रु के घर में अकेले चले आते हो इसलिये मैं जीवन पर्यंत आपसे मैत्री करता हूँ।' मूलराज वहाँ से चला और बारप की सेना पर टूट पड़ा। बारप मारा गया और उसके घोड़े और हाथी मूलराज के हाथ लगे। दूतों के द्वारा मूलराज की इस विजय की खबर सुन कर चौहान राजा भाग गया[१४]।" प्रबंधचिंतामणि का कर्ता चौहान राजा का भाग जाना लिखता है वह विश्वास के योग्य नहीं है, क्योंकि उसीके लेख से यही पाया जाता है, कि मूलराज ने उससे डर कर ही कंथकोट के किले में शरण ली थी। संभव तो यही है कि मूलराज ने हार कर अंत में उससे संधि कर उसे लौटाया हो।

नयचंद्र सूरि अपने हंमीर महाकाव्य में लिखता है कि "विग्रहराज (वीसलदेव) ने युद्ध में मूलराज को मारा और गुर्जरदेश (गुजरात) को जर्जरित कर दिया[१५]"। नयचंद्र सूरि भी मेरुतुंग की नाईं पिछला

(१४) प्रबंधचिंतामणि, पृ० ४०-४१

(१५) अथोहिदीपेऽनयनिग्रहाय
 बद्धाग्रहो विग्रहराजभूपः।
 द्विषापि यो विग्रहमाजिभूमा-
 वभंजयद्वैरिमहीरतीनाम् ॥६॥......॥
 अप्युग्रवीरव्रतवीरवीर-
 संसेव्यमानक्रमपद्मयुग्मं।
 श्रीमूलराजं समरे निहत्य
 यो गुर्जरं जर्जरतामनैषीत् ॥१॥

हंमीर महाकाव्य, सर्ग २

लेखक है, इसलिये उसके मूलराज के मारे जाने के कथन को यदि हम स्वीकार न करें तो भी मूलराज का हारना और गुजरात का बर्बाद होना निश्चित है। हेमचंद्र सूरि ने अपने द्वयाश्रय काव्य में विग्रहराज और मूलराज के बीच की लड़ाई का उल्लेख भी नहीं किया जिसका कारण भी अनुमान से यही होता है कि इस लड़ाई में मूलराज की हार हुई हो। द्वयाश्रय काव्य में गुजरात के राजाओं की विजय का वर्णन विस्तार से लिखा गया है और उनकी हार का उल्लेख तक पाया नहीं जाता। यदि विग्रहराज हार कर भागा होता तो द्वयाश्रय में उसका वर्णन विस्तार से मिलता।

भाटों की ख्यातों और वंशभास्कर में एक ही वीसलदेव का नाम मिलता है और उसीको गुजरात के राजा बालुकराय से लड़नेवाला, अजमेर के पास के वीसलसागर (वीसल्या) तालाब का बनानेवाला, अजमेर का राजा तथा अनोजी (अर्णोराज) का दादा माना है जो विश्वास योग्य नहीं। बालुकराय पाठ भी अशुद्ध है। शुद्ध पाठ 'चालुक (चौलुक्य) राय' होना चाहिए। जैसे प्रबंधचिंतामणि में विग्रहराज (वीसलदेव) के नाम का उल्लेख न कर उसको सपादलक्षीय नृपति अर्थात् सपादलक्ष देश का राजा कहा है वैसे ही भाटों आदि ने गुजरात के राजा का नाम नहीं दिया परंतु उसके वंश 'चालुक' के नाम से उसका परिचय दिया है। उसका नाम ऊपर के अवतरणों से मूलराज होना निश्चित है।

मूलराज के अब तक तीन ताम्रपत्र मिले हैं जिनमें से पहला वि० सं० १०३० भाद्रपद शुदि ५ का,[६६] दूसरा वि० सं० १०४३ माघ बदि १५ (अमावास्या) का[६७] और तीसरा वि० सं० १०५१ माघ सुदि १५ का[६८] है। विग्रहराज (वीसलदेव) दूसरे का

---

(६६) विएना ओरिएंटल जर्नल जि० ५, पृ० ३००

(६७) इंडि० एंटि०, जि० ६, पृ० १९१

(६८) विएना ओरिएंटल जर्नल, जि० ५, पृ० ३००

उपर्युक्त हर्षनाथ का शिलालेख वि० सं० १०३० का है जिसमें मूलराज के साथ की लड़ाई का उल्लेख नहीं है [११]। अतएव यह लड़ाई उक्त संवत् के पीछे हुई होगी। मूलराज की मृत्यु वि० सं० १०५२ में हुई इसलिये विग्रहराज (वीसलदेव) दूसरे की गुजरात पर की चढ़ाई वि० सं० १०३० और १०५२ के बीच किसी वर्ष में होनी चाहिए। पंड्याजी का भटायत या अनंद विक्रम संवत् ६८६ क्रमशः प्रचलित विक्रम संवत् १०८६ और १०७६-७७ होता है। उक्त संवतों में गुजरात का राजा मूलराज नहीं किंतु भीमदेव पहला था। ऐसे ही उस समय सांभर का राजा विग्रहराज (वीसलदेव) दूसरा भी नहीं था क्योंकि उसके पुत्र दुर्लभराज (दूसरे) का शिलालेख वि० सं० १०५६ का मिल चुका है। इसलिये भटायत वा अनंद विक्रम संवत् का हिसाब यहाँ पर भी किसी प्रकार बंध नहीं बैठाता।

जोधपुर के राजाओं के संवत्।

पंड्याजी ने पृथ्वीराजरासे की टिप्पणी में लिखा है कि 'जोधपुर राज्य के काल-निरूपक राजा जयचंदजी का सं० ११३२ में और शिवजी और सैतरामजी को सं० ११६८ में....होना आज तक निःसंदेह मानते हैं और यह संवत् भी हमारे अन्वेषण किए हुए ६१ वर्ष के अंतर के जोड़ने से सनंद विक्रमी हो कर सांप्रत काल के शोधे हुए समय से मिल जाते हैं।' इसकी जाँच के लिये जोधपुर की भाटों की ख्यात के अनुसार जैचंद से लगा कर राव मालदेव तक के प्रत्येक राजा की गद्दीनशीनी के संवत् नीचे लिखे जाते हैं---

(११) वही, जि० २, पृ० ११६

राजा का नाम			गद्दीनशीनी का संवत्
जयचंद (कन्नौज का)	...	...	११३२
बरदाई सेन	....	...	११६५
सेतराम	....	....	११८३
सीहा (शिवा)	...	...	१२०५
आस्थान (मारवाड में आया)		...	१२३३
धूहड	...	...	१२४८
रायपाल	...	...	१२८५
कन्नपाल	...	...	१३०१
जालणसी	...	...	१३१५
छाडा	...	...	१३३९
तीडा (टीडा)	...	...	१३५२
सलखा	...	...	१३६६
वीरम	...	...	१४२४
चूँडा	...	...	१४४०
कान्ह	...	...	१४६५
सत्ता	...	...	१४७०
रणमल	...	...	१४७४
जोधा	...	...	१५१०
सातल	...	...	१५४५
सूजा	...	...	१५४८
गांगा	...	....	१५७२
मालदेव	....	....	१५८८-१६०६

इन संवतों को देखने से पाया जाता है कि उनमें से किसी दो के बीच ९० या ९१ वर्ष का कहीं अंतर नहीं है जिससे यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें से यहाँ तक तो अनंद विक्रम संवत् और आगे सनंद (प्रचलित) विक्रम संवत् है। अतएव ये सब संवत् एक ही संवत् में होने चाहिए, चाहे वह अनंद हो चाहे सनंद। परंतु राव

जोधा ने राजा होने के बाद वि० सं० १५१५ में जोधपुर बसाया यह सर्वमान्य है इसलिये जोधा की गद्दीनशीनी का संवत् १५१० प्रचलित विक्रम संवत् ही है। यदि उसको अनंद विक्रम संवत् मानें तो उसके राज पाने का ठीक संवत् १६००-१ मानना पड़ेगा जो असंभव है। इसी तरह राव मालदेव की शेरशाह सूर से वि० सं० १६०० में लड़ाई होना भी निश्चित है इसलिये मालदेव के राज पाने का संवत् १५८८ भी प्रचलित विक्रमी संवत् है। अतएव ऊपर लिखे हुए जोधपुर के राजाओं के सब संवत् भी अनंद नहीं किंतु सनंद (प्रचलित) विक्रम संवत् ही हैं और चूँडा के पहले के बहुधा सब संवत् भाटों ने इतिहास के अज्ञान की दशा में कल्पित धर दिए हैं। बीटू (जोधपुर राज्य में पाली से १४ मील पर) के लेख से पाया जाता है कि जोधपुर के राठौड़ राज्य के संस्थापक सीहा की मृत्यु सं० १३३० कार्तिक वदि १२ को हुई[७०] और तिरसिंघड़ी (तिंगड़ी—जोधपुर राज्य के पचपद्रा ज़िले में) के लेख से आसथामा (अश्वत्थामा, आस्थान) के पुत्र धूहड़ का देहांत वि० सं० १३६३ में होना पाया जाता है[७१] इसलिये भाटों की ख्यातों में जोधपुर के शुरू के कितने एक राजाओं के जो संवत् मिलते हैं वे अशुद्ध ही हैं। कन्नौज के राजा जयचंद की गद्दीनशीनी का संवत् ११३२ भी अशुद्ध है। यदि इसे अनंद संवत् मानें तो प्रचलित विक्रम संवत् १२२२-३ होता है। ऊपर हम दिखा चुके हैं कि जयचंद की गद्दीनशीनी प्रचलित विक्रम संवत् १२२६ में हुई थी (देखो ऊपर)। भाटों के संवत्, अशुद्ध हों या शुद्ध, प्रचलित विक्रम संवत् के हैं, न कि 'अनंद' विक्रम संवत् के, क्योंकि मालदेव और जोधा के निश्चित संवत् भाटों के संवतों से 'सनंद' मानने से ही मिलते हैं।

---

(७०) इंडि० एंटि०, जि० ४०, पृ० १४१

(७१) वही, पृ० ३०१

जयपुर के राजाओं के संवत् ।

पंड्याजी का मानना है कि 'जयपुर राज्यवाले पज्जूनजी का [गद्दीनशीनी] संवत् ११२७ में होना मानते हैं और यह संवत् भी हमारे अन्वेषण किए हुए ९१ वर्ष के अंतर के जोड़ने से सनन्द विक्रमी होकर सांप्रत काल के शोधे हुए समय से मिल जाता है'।

पज्जून की गद्दीनशीनी का उपर्युक्त संवत् अनंद विक्रम है वा सनंद (प्रचलित) इसका निर्णय करने से पहले हम जयपुर की भाटों की ख्यात से राजा ईशासिंह से लगा कर भगवानदास तक के राजाओं के पाट-संवत् नीचे लिखते हैं—

नाम			पाट-संवत्
१ ईशासिंह	...	...	(अज्ञात)
२ सोढदेव	...	...	१०२३
३ दूलेराय	...	...	१०६३
४ काकिल	...	...	१०९३
५ हणूं	...	...	१०९६
६ जान्हडदेव	...	...	१११०
७ पज्जून	...	...	११२७
८ मलेसी	...	...	११५१
९ बीजलदेव	...	...	१२०३
१० राजदेव	...	...	१२३६
११ कील्हण	...	...	१२७३
१२ कुंतल	...	...	१३३३
१३ झोणसी	...	...	१३७४
१४ उदयकरण	...	...	१४२३
१५ नृसिंह	...	...	१४४५
१६ बनवीर	...	...	१४८५
१७ उद्धरण	...	...	१४९६
१८ चन्द्रसेन	...	...	१५२४

नाम			पाठ-संवत्
१९ पृथ्वीराज	...	...	१५५९
२० पूर्णमल्ल	...	...	१५८४
२१ भीमसिंह	...	...	१५९०
२२ रत्नसिंह	...	...	१५९३
२३ भारमल्ल	...	..	१६०४
२४ भगवानदास	...	...	१६३०

इन संवतों में भी कहीं दो संवतों के बीच ९० या ९१ वर्ष का अंतर नहीं है जिससे यह नहीं माना जा सकता कि अमुक राजा तक के संवत् तो अनंद विक्रमी हैं और अमुक से सनंद (प्रचलित) विक्रमी दिए हैं अर्थात् ये सब संवत् किसी एक ही विक्रमी गणना के अनुसार हैं।

बादशाह अकबर हिजरी सन् ९६३ तारीख २ रबिउस्सानी (वि० सं० १६१२ फाल्गुन बदी ४) को कलानूर में गद्दीनशीन हुआ। उस समय राज्य में बखेड़ा मचा हुआ था जिससे शूर सुलतान सिकंदर के सेवक हाजीखाँ पठान ने आंबेर के राजा भारमल कछवाहे की सहायता से नारनौल को घेरा जो मजनूखाँ काकशाल के अधीन था। राजा भारमल ने बुद्धिमानी और दूरदर्शिता से मजनूखाँ को उसके बाल-बच्चों तथा मालताल के साथ वहाँ से बचा कर निकाल दिया। जब बादशाह अकबर ने हेमू दूसर आदि को नष्ट कर देहली पर अधिकार किया उस समय मजनूखाँ ने अपने ऊपर किए हुए उपकार का बदला देने के लिये बादशाह से राजा भारमल की सिफ़ारिश की। राजा देहली बुलाया गया और बादशाह ने उसको तथा उसके साथ के राजपूतों को खिलअतें देकर बिदा किया। वि० सं० १६१८ में बादशाह अकबर आगरे से राजपूताने को चला। बादशाह की तरफ़ से बुलाए जाने पर राजा भारमल साँगानेर में बादशाह की सेवा में उपस्थित हुआ और उसने उसकी अधीनता स्वीकार की। राजपूताने के राजाओं में से भारमल ने ही सबसे पहले बादशाही सेवा स्वीकार की। वि०

सं० १६२४ में बादशाह अकबर ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की। उस समय राजा भारमल भी उसके साथ था और वि० सं० १६२५ में बादशाह ने रणथंभोर के किले को घेरा तब वहाँ के किलेदार बूँदी के राव सुर्जन हाड़ा ने इसी राजा की सलाह से बादशाही सेवा स्वीकार की।

ऊपर दिए हुए संवतों में भारमल का वि० सं० १६०४ से १६३० तक राज करना निर्विवाद है और उन संवतों को प्रचलित (सनंद) विक्रम संवत् मानने से ही राजा भारमल अकबर का समकालीन सिद्ध होता है, न कि अनंद विक्रम संवत् से।

ऊपर दिए हुए संवतों में से राजा पृथ्वीमल्ल की गद्दीनशीनी से लगा कर पिछले राजाओं के संवत् शुद्ध हैं परंतु पृथ्वीमल्ल से पहले के राजाओं के संवत् इतिहास के अंधकार की दशा में बहुधा सबके सब भाटों ने कल्पित करके धरे हैं क्योंकि उनमें सोढदेव से लगा कर पृथ्वी राज तक के १८ राजाओं का राज्य-समय ५६१ वर्ष दिया है जिससे औसत हिसाब से प्रत्येक राजा का राजत्व-काल ३१ वर्ष से कुछ अधिक आता है जो सर्वथा स्वीकार नहीं किया जा सकता। जयपुर की ख्यात में जैसे संवत् कल्पित धर दिए हैं वैसे ही सुमित्र (पुराणों का) के बाद के कूरम से लगा कर ग्यानपाल तक के १३८ नाम भी बहुधा कल्पित ही हैं क्योंकि ग्वालिअर के शिलालेखों में वहाँ के जिन कछवाहे राजाओं के नाम मिलते हैं उनमें से एक भी ख्यात में नहीं है। मूंहणोत नेणसी ने भी अपनी ख्यात में कछवाहों की दो वंशावलियाँ दी हैं। उनमें से जो भाट राजपाण ने लिखवाई वह तो वैसी ही रही है जैसी कि ख्यात की, परंतु जो दूसरी वंशावली उसने दी है उसमें पिछले नाम ठीक हैं और वे शिलालेखों के नामों से भी मिलते हैं। ग्वालिअर के शिलालेखों तथा उक्त वंशावली के नामों का मिलान नीचे किया जाता है—

ग्वालिअर के कछवाहे (शिला-लेखों से)[७२]	जयपुर के कछवाहे (नैणसी की ख्यात से)[७३]
१ लक्ष्मण (वि० सं० १०३४)	१ लक्ष्मण
२ वज्रदामा	२ वज्रदीप
३ मंगलराज	३ मांगल
४ कीर्तिराज	४ सुमित्र
५ मूलदेव	५ मुधिब्रह्म
६ देवपाल	६ कहानी
७ पद्मपाल	७ देवानी
८ महीपाल (वि० सं० ११५०)	८ ईश (ईशासिंह)
९ त्रिभुवनपाल (वि० सं० ११६१)	९ सोढ (सोढदेव)
	१० दूलराज
	११ काकिल
	१२ हणू
	१३ जानड
	१४ पजून

(७२) गौरीशंकर हीराचंद ओझा की विस्तृत टिप्पणी सहित खड्ग-विलास प्रेस, बांकीपुर, का छपा हुआ हिंदी टॉड राजस्थान, खंड १, पृ० ३७२-३७३। इस वंशावली के नामों के साथ जो संवत् दिए हैं वे ग्वालिअर के कछवाहों के शिलालेखों से हैं।

(७३) मुंहणोत नैणसी की ख्यात, पृष्ठ ६३-६४।

इन दोनों वंशावलियों में पहले तीन नाम समान हैं । दोनों के मिलान से पाया जाता है कि मंगलराज के दो पुत्र कीर्तिराज और सुमित्र हुए हों । कीर्तिराज के वंशज तो शहाबुद्दीन गोरी के समय तक ग्वालिअर के राजा बने रहे[७४] और सुमित्र के वंशजों, अर्थात् ग्वालिअर की छोटी शाखा, के वंशधर सोढ (सोढदेव) ने राजपूताने में आकर बड़गूजरों से धौसा छीन लिया और वहाँ पर अपना अधिकार जमाया । वहाँ से फिर आंबेर उनकी राजधानी हुई और सवाई जयसिंह ने जयपुर बसा कर उसको अपनी राजधानी बनाया । फीरोज़शाह तुग़लक के समय में तंवर वीरसिंह ग्वालिअर का किलेदार नियत हुआ परंतु वहाँ के सय्यद किलेदार ने उसको किला सौंप देने से इनकार किया, जिसपर वीरसिंह ने उससे मित्रता बढ़ाने का उद्योग किया । एक दिन उसको अपने यहाँ मिहमान किया और भोजन में नशीली चीज़ें मिला कर उसको भोजन कराया । फिर उसके बेहोश हो जाने पर उसे कैद कर किले पर अपना अधिकार जमा लिया । यह घटना वि० सं० १४३२ के आसपास हुई । तब से लगा कर वि० सं० १५६८ के आस पास तक ग्वालिअर का किला तंवरों (तोमरों) के अधीन रहा[७५] । कछवाहों की ख्यात लिखनेवाले भाटों को यह ज्ञात नहीं था कि ग्वालिअर पर कछवाहों का अधिकार कब तक रहा और वह तंवरों के अधीन किस तरह हुआ, इसलिये उन्होंने यह कथा गढंत की कि ग्वालिअर के कछवाहा राजा ईशासिंह ने अपनी वृद्धावस्था में अपना राज्य अपने भानजे जैसा (जयसिंह) तंवर को दान कर दिया जिससे ईशा के पुत्र सोढदेव ने ग्वालिअर से धौसा में आकर अपने बाहुबल से वहाँ का राज्य छीना । भाटों की ख्यातों में सोढदेव का वि० सं० १०२३ में गद्दी बैठना लिखा है परंतु ये बातें मनगढंत ही हैं क्योंकि शहाबुद्दीन गोरी तक ग्वालिअर पर कछवाहों की बड़ी

(७४) खड्गविलास प्रेस का छपा हुआ हिंदी टॉड राजस्थान, खंड १, पृ० ३७३

(७५) वही, पृ० ३७३

शाखा का राज्य रहा और सोढदेव से नौ पुश्त पहले होनेवाला राजा लक्ष्मण वि० सं० १०३४ में विद्यमान था ऐसा उसी के समय के ग्वालिअर के शिलालेख से निश्चित है।

अब हमें जयपुर के कछवाहों के पूर्वज पज्जून का समय निर्णय करने की आवश्यकता है। ग्वालिअर का राजा लक्ष्मण वि० सं० १०३४ में विद्यमान था और पज्जून उसका १४ वाँ वंशधर था। यदि प्रत्येक राजा के राज्यसमय की औसत २० वर्ष मानी जावे तो पज्जून का वि० सं० १२९४ में विद्यमान होना स्थिर होता है जो असंभव नहीं। इसी तरह पज्जून से लगा कर उसके १७ वें वंशधर भारमल्ल तक के राजाओं में से प्रत्येक का राज्यसमय औसत से २० वर्ष माना जावे तो भारमल्ल का वि० सं० १६१४ में विद्यमान होना स्थिर होता है जो शुद्ध है क्योंकि उसका वि० सं० १६०४ से १६३० तक राज्य करना निश्चित है।

ऐसी दशा में पज्जून पृथ्वीराज का समकालीन नहीं किंतु उसे उससे लगभग आधी शताब्दी पीछे होना चाहिए।

पट्टे परवाने।

पंड्याजी ने लिखा है कि "चंद के प्रयोग किए हुए विक्रम के अनंद संवत् का प्रचार बारहवें शतक तक की राजकीय व्यवहार की लिखावटों में भी हमको प्राप्त हुआ है अर्थात् हमको शोध करते २ हमारे स्वदेशी अंतिम बादशाह पृथ्वीराजजी और रावल समरसीजी और महाराणी पृथाबाईजी के कुछ पट्टे परवाने मिले हैं उनके संवत् भी इस महाकाव्य में लिखे संवतों से ठीक २ मिलते हैं और पृथ्वीराजजी के परवानों में जो मुहर अर्थात् छाप है उसमें उनके राज्याभिषेक का संवत् ११२२ लिखा है"।

ये पट्टे परवाने नौ हैं। इनके फोटोग्राफ, प्रतिलिपि और अँगरेज़ी अनुवाद हिंदी हस्तलिखित पुस्तकों की खोज की सन् १९०० ई० की रिपोर्ट में छपे हैं। हम विचार करने के लिये इन्हें इस क्रम से रखते हैं–

(क) पृथ्वीराज के परवाने।

(१) संवत् ११४३ का पट्टा आचारज रुषीकेश के नाम कि तुम्हें पृथाबाई के दहेज में दिया गया है, मुहर का संवत् ११२२ (प्लेट ३)।

(२) संवत् ११४५ का पट्टा, उसीके नाम 'आगना' (आज्ञा) कि काकाजी बीमार हैं यहाँ आओ, मुहर का संवत् वही (प्लेट ४)।

(३) संवत् ११४५ का पट्टा, उसीके नाम कि काकाजी को आराम होने से तुम्हें 'रीभ' (प्रसन्नता) में पांच हज़ार रुपए दिए जाते हैं, मुहर का संवत् वही (प्लेट ६)।

(ख) पृथाबाई के पत्र।

(४) संवत् ११ [४५] का, उसीके नाम, कि काकाजी बीमार हैं, मैं दिल्ली जाती हूँ, तुम्हें चलना होगा, चले आओ (प्लेट ५)।

(५) संवत् ११५७ का अपने पुत्र के नाम, कि समरसी झगड़े में मारे गए हैं, मैं सती होती हूँ, तुम मेरे चार दहेजवालों की, विशेषत: रुषोकेश के वंश की, सम्हाल रखना (प्लेट ८)।

(ग) रावल समरसी का पट्टा।

(६) संवत् ११३९ का, आचारज रुषीकेश के नाम, कि तुम दिल्ली से दहेज में आए हो, तुम्हारा संमान और अधिकार नियत किया जाता है (प्लेट १)।

(७) संवत् ११४५ का, उसीके नाम, कि तुम्हें मोई का ग्राम दिया जाता है।

(घ) महाराणा जयसिंह का परवाना।

(८) संवत् १७५१ का, आचारज अषेराम रगुनाथ के नाम, कि पृथाबाई का पत्र (देखो ऊपर नं० ५) देख कर नया किया गया कि तुम राज के 'श्यामखोर' अर्थात् नमकहलाल हो। (प्लेट ९)

(ङ) महाराणा भीमसिंह का पट्टा।

(९) संवत् १८५८ का, आचारज संभुसीव सदासीव के नाम,

कि समरसी का पट्टा (ऊपर नं० ६ देखो) जीर्ण हो जाने के कारण नया किया गया।

इन पट्टों परवानों में नं० ८ और ९ का विचार करने की आवश्यकता नहीं। नं० ८ तो सं० १७५१ में नं० ५ की पुष्टि करता है और नं० ९ सं० १८५८ में नं० ६ की। पुराने पट्टे को देखकर नया लिखने के समय ऐतिहासिक प्रश्नों की जाँच नहीं होती। जैसा आगे दिखाया जायगा पट्टे लिखने, सही करने, भाला और अंकुश बनाने का कार्य एक ही मनुष्य के हाथ में रहने से किसी राजस्थान में क्या क्या हो सकता है यह समझाने की हमें कोई आवश्यकता नहीं। हमें आचारज रुषीकेश के वंशजों के पास इन पट्टों तथा भूमि के होने से भी कोई संबंध नहीं। सं० १८५८ में या सं० १७५१ में समरसी और पृथाबाई के विवाह की कथा मानी जाती थी यह कथन भी हमारे विवेचन में बाधा नहीं डालता। हमें यही देखना है कि बाकी सात पट्टे परवाने स्वतंत्र रूप से अनंद संवत् के सिद्धांत को पुष्ट करते हैं या केवल रासे की संवत् और घटनाओं की ढिलाई को दृढ़ करने के लिये उपस्थित किए गए हैं।

(क) पृथ्वीराज के पट्टे परवाने।

(१)

॥ श्री ॥

॥ श्री ॥
पूर्व देश मही पति
प्रथीराज दली न
रेस संवत् ११२२
वैशाख सुदि ३

(सही)

श्री श्री दलीनं मंहनं राजानं धीराजनं हदुसथानं राजधानं संभ

री नरेस पुरब दली तषत श्री श्री महानं राजं धीराजनं श्री
प्रथी राजी सुसथानं आचारज रुषीकेस धनंत्रितं अप्रन तम को बाई
श्री प्रथु कवरन की साथ हतलेवे चीत्र
कोट का दीया तुमार हक चहुवान के रज में सावित है तुमारी
ओलाद का सपुत कपुत होगा जो चहान की पोल आ
वेगा जीनं को भाई सी तरे समंजेगा तुमारा कारंन
नहीं गटेगा तुमजमाषात्रे से बाई
के आ तुमरी जो हुवे श्रीमुष
दुवे पंचोली हडमंराय के संमत ११४३
वर्षे आसाड सुद १३

---

(२)

श्री रामहरी

॥ श्री ॥
पूर्व देश महीपति
प्रथीराज दली न
रेस संवत ११२२
वैशाख सुदि ३

सही

श्री श्री दलीन महाराजनं धीराजं श्री श्री
प्रथीराजनं की आगना पोछे आचार
ज भ० रषीकेस ने चत्रकोट पोछे
आहा श्री काकाजीनं महा ... हुई
छै सो षास रुको बांचने अहां हाजर वीजे संमत
११४५ चेत वदि ७

---

(३)

श्री रामहरी

॥ श्री ॥

पूर्व देश महीपति
प्रथीराज दली न
रेस संवत् ११२२
वैशाख सुदि ३

सही

श्री श्री दलीन महाराजं धीराजंनं हिंदुसथा
नं राजं धानं संभरी नरेस पुरब दली तषत
श्री श्री माहानं राजं धीराजंनं श्री प्रथीराजी
सुसाथनं आचारज रुषीकेस धनंत्रि अप्रन तमने का
काजीनं के दुवा की आरामं चओ जीन
के रीजं में राकड रुपीआ ५०००) तुमर आ
हाती गोडे का षरचा सीवाअ आवेंगे षजानं
सं इनं को कोई माफ करेंगे जीनको नेरकां
के अधंकारी होवेगं सई दुवे हुकम के हडमंत राअ
संमत ११४५ वर्ष आसाड सुदी १३

ये तीनों दस्तावेज़ जाली हैं जिसके प्रमाण ये हैं—

(१) इन तीनों के ऊपर जो मुहर लगी है वह संवत् ११२२ की है। इस संवत् को अनंद विक्रम संवत् मान कर पंड्याजी पृथ्वीराज की गद्दीनशीनी का संवत् बतलाते हैं। अनंद विक्रम संवत् ११२२ सनंद (प्रचलित) विक्रम संवत् (११२२ + ९०-९१ =) १२१२-१३ होता है। उक्त संवत् में तो पृथ्वीराज का जन्म भी नहीं हुआ था जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है।

(२) मेवाड़ के रावल समरसिंह का समय वि० सं० १३३०

से १३५८ तक का है जैसा कि पहले सिद्ध किया गया है, उसके साथ पृथाबाई का विवाह होना और सं० ११४३ अनंद अर्थात् १२३३-४ सनंद में उसे दहेज में दिए हुए आचारज ऋषीकेश को पट्टा देना और सं० ११४५ अनंद अर्थात् १२३५-६ सनंद में उसे बीमारी पर बुलाना या बीमारी हट जाने पर इनाम देना सब असंभव है।

(३) इन पट्टों परवानों की लिखावट वर्तमान समय की राजपूताने की लिखावट है, बारहवीं शताब्दी की वर्णमाला में नहीं है। ध्यान देने से जान पड़ता है कि महाजनी हिंदी के वर्तमान मोड़ इसमें जगह जगह पर हैं। जिन्होंने बारहवीं शताब्दी के शिलालेख या हस्तलिखित पुस्तकें देखी हैं उन्हें इस विषय में अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं। एक ही बात देख ली जाय कि इनमें 'ए' या 'ओ' की पृष्ठमात्रा (पड़ी मात्रा, अक्षर की बाईं ओर) कहीं नहीं है। राजकीय लिखावट सदा सुंदर अक्षरों में लिखी जाती थी ऐसी भद्दी घसीट में नहीं।

(४) इनकी भाषा तथा पारिभाषिक शब्दों के व्यवहार को देखिए। पृथ्वीराज के समय के लेखों में कभी उसे 'पूर्वदेश महीपति' नहीं कहा गया है। मेवाड़ में बैठकर पट्टे गढ़नेवाले आदमी को चाहे दिल्ली पूर्व जान पड़े किंतु संकेत के व्यवहार में पूरब का अर्थ काशी अवध आदि देश होते हैं, दिल्ली नहीं। 'पूरब दिल्ली तखत' कहना भी वैसा ही असंगत है। उस समय 'हदुसथानं राजधानं' की कल्पना नहीं हुई थी। मेरुतंत्र के 'हिंदू' पद की दुहाई देने से यहाँ काम न चलेगा। रासे के अनुस्वार तो छंदों की लघु मात्राओं को गुरु करने के लिये लगाए गए हैं, या शब्दों को संस्कृत सा बनाने के लिये या उन स्वयंसिद्ध टीकाकारों को बहकाने के लिये जो यह नहीं जानते कि अपभ्रंश अर्थात् पिछले प्राकृत में नपुंसक लिंग का चिह्न 'उ' है और 'वानीय वंदे पयं' के 'अम्' को कह बैठते हैं कि यह द्वितीया विभक्ति नहीं, नपुंसक की प्रथमा है, किंतु इन पदों में स्थान कुस्थान पर अनुस्वार रासे की संरक्षा के लिये लगाए गए हैं। भाषा बड़ी

अद्भुत है । मेवाड़ के रहनेवाले अपनी मातृभाषा से गढ़ कर जैसी "पक्की हिंदी" बोलने का उद्योग करते हैं वैसी हिंदी बनाई गई है, 'तमको हतलेने चीत्रकोट को दीया, तुमार हक साबीत है', जो चहान की पोल आवेगा जीन को भाई सी तरे समजेगा, किंतु यह खड़ी बोली ज्यादा देर न चली, दूसरे पट्टे में लिखनेवाला फिर वर्तमान मेवाड़ी पर उतर आया 'षास रुको बांचने अठे हाजर वीजे' । मानों महाराणा उदयपुर का कोई हाज़िरबाश पृथ्वीराज के यहाँ बैठा बोल रहा हो! रासे की भाषा पर फारसी शब्दों की अधिकता का आक्षेप होता था । उसके लिये फ़रमान का स्फुरमाण: बनाया गया । रासे तथा इन पट्टों की फारसी की पुष्टि में कहा जाता है कि पृथाबाई दिल्ली से आई थीं, वहाँ मुसलमानों का लश्कर रहता था, सौ वर्ष पहले से लाहोर में मुसलमानों का राज्य था, वहाँ से दूत आदि आया जाया करते थे इत्यादि । इन तीन पट्टों में हदुसथानं राजधानं, दली तखत, हक, साबित, ओलाद, जमा खातिर, हाजिर, दवा, आराम, रोकड़, खरचा, सिवा, खजाना, माफ, सही, इतने विदेशी शब्द शुद्ध या भ्रष्ट रूप में विद्यमान हैं । पृथाबाई के पत्र (नं० ४,५) में साहब, हजूर, खास रुक्का, कागज, डाक बैठना, हुकम, ताकीद, खातरी हरामखोर, दस्तखत, पासवान के तत्सम या तद्भव रूप हैं । नं० ६,७ समरसी के पत्रों में बराबर, आबादान, जमाखातिरी, म[illegible]की, जनाना, परवाना शब्द हैं । यह बात इन पट्टों की वास्तविकता में संदेह उत्पन्न करती है इतना ही नहीं, बिलकुल इन्हें प्रमाणकोटि से बाहर डाल देती हैं । राज्यों की लिखावट में पुरानी रीति चलती है । अँगरेज़ी राज्य को डेढ़ सौ वर्ष से ऊपर हो जाने पर भी वायसराय और देशी राज्यों के मुरासिले फ़ारसी उर्दू में होते हैं, कचहरी की भाषा घनी फ़ारसी की उर्दू है । सिक्के पर 'यक रुपया' फ़ारसी में है । पृथ्वीराज के समय में यदि विदेशी शब्द व्यवहार में आ भी गए हों तो राजकीय लेखों में पुराने 'मुंशी' लकीर के फकीर इतनी जल्दी परिवर्तन नहीं कर सकते । समरसी तो दिल्ली से दूर थे, वे भी जनाना और परवाना जानने

लग गए थे ! इन पट्टों की पृथाबाई तो गज़ब करती है, स्त्रियाँ सदा पुरानी चालों की आश्रय होती हैं किंतु वह पति और भाई दोनों को 'हुज़ूर' कहती है ! इन पट्टों में खास रुक्का, परवाना, तख्त, हक, खजाना, औलाद, जमाखातिर, सही, दस्तखत, पासवान (= रक्षिता स्त्री, भोग-पत्नी), जनाना, आदि पद ऐसे रूढ़ संकेतों में आए हैं जिन्हें स्थिर करने में हिंदू मुसलमानों के सहवास को तीन चार सौ वर्ष लगे होंगे। समरसी के पट्टे (नं० ६) में, प्रधान के बराबर बैठक होना केवल वर्तमान उदयपुर राज्य का संकेत है, दिल्ली में 'प्रधान' होता हो तथा 'बैठकें' होती हों यह निरी पिछली कल्पना है। खास रुक्का अर्थात् राजा की दस्तखती चिट्ठी भी वर्तमान रजवाड़ों की रूढ़ि है। पत्र के अर्थ में 'कागज' 'कागद' की रूढ़ि भी वर्तमान राजपूताने की है जब कि चिट्ठी, शब्द अशुभ सूचक पत्र या आटे दाल के पंटिए के अर्थ में रूढ हो गया है। यदि समरसी और पृथ्वीराज के समय में इतने विदेशी शब्द रात दिन के व्यवहार में आने लग गए थे तो राणा कुंभा का शिलालेख, जिसकी चर्चा आगे की जायगी, बिलकुल फारसी ही सा होना चाहिए था। पृथाबाई के पत्रों में यह और चमत्कार है कि वह अपने लिये 'पधारना' लिखती हैं जैसे कि गँवार कहा करते हैं कि 'तुमने जब अर्ज़ करी तब मैंने फ़रमाया' ! पंड्याजी कहते हैं वह दिल्ली से आई थी, अपने दहेज में फ़ारसी शब्द भी समरसी के यहाँ लाई थी किंतु उसके पत्र शुद्ध वर्तमान मेवाड़ी में हैं, 'सवेरे दिन अठे आंवसी' 'थाने माँ आगे जाणो पड़ेगा' 'थारे मंदर को व्याव का मारथ दली तु आआ पाछे करोंगा' इत्यादि।

(५) पृथ्वीराज के समय में यहाँ के हिंदू राजाओं के दरबारों की लिखावट हिंदी भाषा में नहीं किंतु संस्कृत में थी। अजमेर और नाडौल आदि के चौहानों, मेवाड़ (उदेपुर) और डूंगरपुर के गुहिलोतों (सीसोदियों), आबू और मालवे के परमारों, गुजरात के सोलंकियों, कन्नौज के गाहडवालों (गहरवालों) आदि की भूमि-दान की राजकीय सनदें (ताम्रपत्र) संस्कृत में ही मिलती हैं। पृथ्वीराज के वंशज महा-

कुमार चाहडदेव (बाहडदेव) के दान-पत्र के प्रारंभ का टूटा हुआ टुकड़ा मिला है जिसकी नक़ल नीचे दी जाती है। उससे मालूम हो जायगा कि पृथ्वीराज के पीछे भी उसके वंशजों की सनदें भाषा में नहीं किंतु संस्कृत में लिख कर दी जाती थीं—

[म]हाकुमारश्रीचाहडदेवः ॥

······कीर्तिरनंता द्यौः परत्र दातुः प्रतिग्रहीतुश्च । आच्छेत्तुर्विपरीता भूर्त्रा(ब्रा)ह्मण शा(सा)त्कृता································
विक्रमः । चाहमानकुलैकें(कें)दुर्विभुः शाकंभरीभुवः ॥ २ [॥]
व(ब)भूव भुवनाभोग·················धिपः ॥ ३ [॥]
ततोर्णोराजनृपतिर्व(र्ब)भार जगतीभरं । स्वामि[स्वस्मि ?]न्नालानितो यें[न]·················तनूजोस्य च स्वावासैकनिवासिनीः समकराज्जित्वा दिगंतश्रियः·······························
···स्य दामवदमी चेरुश्चिरं निर्मदाः ॥ ५ [॥] पृथ्वीराज [स्य] ····· ·········[७६]

इस ताम्रपत्र के टुकड़े में अर्णोराज (आना) से लगाकर पृथ्वीराज तक की अजमेर के चौहानों की वंशावली बची है जिससे निश्चित है कि महाकुमार चाहडदेव पृथ्वीराज ही का कोई वंशधर था। यदि पृथ्वीराज के समय में चौहानों की राजकीय लिखावटें भाषा में होने लग गई होतीं तो चाहडदेव फिर संस्कृत का ढर्रा नए सिरे से कभी न चलाता। पृथ्वीराज के पीछे भी राजपूताने की जो राज्य मुसलमानों की अधीनता से बचे उनकी राजकीय लिखावटें संस्कृत में ही होती रहीं। मेवाड़ के महाराणा हंमीर के संस्कृत दान-पत्र की नकल, वि० सं० १४०० से कुछ पीछे की, एक मुकद्दमे की मिसल में देखी गई (मूल देखने को नहीं मिला) और वागड (डूंगरपुर) के राजा वीरसिंघदेव का वि० सं० १३४३ का संस्कृत ताम्रपत्र राजपूताना म्यूज़िअम में सुरक्षित है।

(७६) एपि० इंडि०, जिल्द १२, पृ० २२४।

(६) इन तीनों पट्टों में मुहर के पास 'सही' लिखा है। राजकीय लिखावट के ऊपर सही करने की प्रथा हिंदूराज्यों में मुसलमानों के समय उनकी देखादेखी चली है। पृथ्वीराज तक किसी राजा के दानपत्र में 'सही' नहीं मिलती। प्राचीन काल में दानपत्रों पर बहुधा राजा के हस्ताक्षर इबारत के अंत में 'स्वहस्तोऽयं मम' या 'स्वहस्तः' पहले लिखकर किए हुए मिलते हैं। लेख की इबारत दूसरे अक्षरों में तथा यह हस्ताक्षर बहुधा दूसरे अक्षरों में मिलते हैं जिससे पाया जाता है कि ताम्रपत्र पर राजा स्याही से अपने हस्ताक्षर कर देता था जो वैसे ही खोद दिए जाते थे। बंसखेड़ा के ताम्रपत्र का 'स्वहस्तोयं मम महाराजाधिराजश्रीहर्षस्य' अपनी सुंदर अलंकृत लिपि के लिये प्रसिद्ध हो चुका है। ऊपर वर्णन किए हुए महाकुमार चाहड़देव के दानपत्र के ऊपर उसके हस्ताक्षर भी दानपत्र की लिपि से भिन्न लिपि में हैं। यदि पृथ्वीराज के समय 'सही' करने का प्रचार चौहानों के यहाँ हो गया होता तो उसका वंशधर भी वैसा ही करता, न कि पुरानी रीति पर हस्ताक्षर।

प्राचीन राजाओं के यहाँ कई प्रकार की राजमुद्राएँ होती थीं जिनका यथास्थान लगाना किसी विशेष कर्मचारी के हाथ में रहता था। उनमें एक 'श्री' की मुद्रा भी होती थी। वह सबमें मुख्य गिनी जाती थी। कई ताम्रपत्र आदि में किसी महन्तम (महता) या मंत्री के नाम के साथ 'श्रीकरणादिसमस्तमुद्राव्यापारान् परिपन्थयति इत्येवं काले प्रवर्तमाने' लिखा मिलता है। यह 'श्रीकरण व्यापार' या 'श्री' की छाप लगाने का काम बड़े ही विश्वासपात्र अर्थात् मुख्य मंत्री का होता था, जैसे कि गुजरात के सोलंकी राजा वीसलदेव के राजकवि नानाक के लेख में श्रीकरण से प्रसन्न होकर उक्त चालुक्य राजा का अपने वैजवापगोत्री मंत्रियों को गुंजा ग्राम देने का उल्लेख है (इंडि० एंटि०, जि० ११ पृ० १०२)। जैसे राजपूताने की रियासतों में आजकल 'श्री करना', 'मिती करना' 'सिरिमिती करना', 'सही करना' आदि वाक्य लेख की प्रामाणिकता कर देने के

अर्थ में आते हैं, वैसे ही यह 'श्रीकरणव्यापार' था। मेवाड़ में और मुहरें तो मंत्री आदि लगा देते हैं किंतु रुपए लेने देने की आज्ञाओं पर जो मुहर लगाई जाती है उसमें 'श्री' लिखा हुआ है और उसे अब तक महाराणा स्वयं अपने हाथ से लगाते हैं। इस 'श्री' करने के स्थान में पीछे 'सही' करना चल गया किंतु यह पृथ्वीराज के समय में चला हुआ नहीं माना जा सकता। हिंदू राज्य इतनी जल्दी अपनी प्राचीन प्रथा को बदल डालें इसकी साक्षी इतिहास नहीं देता।

पृथाबाई के पत्र।

नीचे उक्त पत्रों की नकल दी जाती है। उनमें संवत् ११ [४५] और ११५७ हैं। अनंद या सनंद उन संवतों में पत्र लिखनेवाली पृथाबाई वि०सं० १३५८ तक जीवित रहनेवाले चित्तौड़ के राजा समरसिंह की रानी किसी प्रकार नहीं हो सकती। इसलिये ये पत्र भी जाली हैं।

(४)

श्री हरी एकलिंगो जयति।

श्री श्री चीत्रकोट बाई साहब श्री प्रथु कुंवर बाई का वारणा गाम माई आचारज भाई रुसीकेसजी वांच जो अप्रन श्री दली सूं भाई श्री लछीरी रा

जी आया है जो श्री दली सूं वी हजूर को वी खास रुका आयो है जो मारी वी पदारवा की

मीख वी है ने दली ककाजी रे पेट है जो का[गद बाच]त चला आवजो थाने मा आगे जाणो

पडेगा थांके वास्ते डाक बेठी है श्री हजूर वी हुकम वे गीयो है जो थे ताकीद सूं आव

जो थारे मंदर को व्याव का मारथ अबार करांगा दली सु आ आ पाछे करोंगा ओ

र थे सवेरे दन अठे आंवसी संवत् ११ [४५] चेत सुदी १३

(५)

चीत्रकोट माहा सुभ सुथाने श्री ······सी पास
तीरे मासाब चवाण श्री परथु······की आसीस
वाच जो श्री दली का······सु अप्रन अठे श्री हजुर
माहा सुद १२ क······जगडा में वेकु पदारीआ
नो आचारज······सीकेस वी श्रीहजूर की
लार काम आआ······श्रीहजूर की लारे
जावागा वेकुट पछे···सीकेसरा मनपा
की पात्री रापजो ई मारा चारी······नष मारा
जीव का चाकर है ई थासु राज···हरामषोर
नी वेगा दुवे नडुर राम्र के······११५७ माहा
सुद १२ दसगत पासवान बेव······रका भं···
भा साब श्री······थुबाई का वेकुटप···

(यह हमने उक्त रिपोर्ट में से ज्यों का त्यों नकल कर दिया है किंतु प्लेट से मिलान करने पर देखा जाता है कि जहाँ इस प्रतिलिपि में पंक्तियों का आदि अंत बताया गया है वहाँ प्लेट में नहीं है । जहाँ बीच में टूटक के संकेत हैं वहाँ पंक्तियों का अंत है ।)

इन पत्रों की भी भाषा वर्तमान मेवाड़ी है । इनकी भाषा का महाराणा कुंभकर्ण के आबू के लेख की भाषा के साथ मिलान करने से स्पष्ट हो जायगा कि उस लेख की भाषा इनसे कितनी पुरानी है, भाषाविषयक और विवेचन ऊपर हो चुका है ।

मेवाड़ में यह प्रसिद्ध है कि रावल समरसिंह का विवाह पृथ्वीराज की बहिन पृथाबाई के साथ हुआ था । यदि इस प्रसिद्धि का पृथ्वीराजरासे की कथा के अतिरिक्त कोई आधार हो और उसमें कुछ सत्यता हो तो उसका समाधान ऐसा मानने से हो सकता है कि चौहान राजा पृथ्वीराज (दूसरे) की, जिसको पृथ्वी-राजविजय में पृथ्वीभट कहा है, बहिन का विवाह मेवाड़ के राजा

समतसी (सामंतसिंह) के साथ हुआ हो। मेवाड़ की ख्यातों में सामंतसिंह को समतसी, और समरसिंह को समरसी लिखा है। समरसी नाम प्रसिद्ध भी रहा जिससे समतसी के स्थान में समरसी लिख दिया हो। पृथ्वीराज (दूसरे) के शिलालेख वि०सं० १२२४, १२२५ और १२२६ के मिले हैं और समतसी का वि०सं० १२२८ और १२३६ में विद्यमान होना उसके शिलालेखों से ही निश्चित है तथा वि०सं० १२२८ से कुछ पहले उसका मेवाड़ का राज जालौर के चौहान कीतू ने छीना था। अतएव चौहान पृथ्वीराज (पृथ्वीभट) दूसरे और मेवाड़ के समतसी (सामंतसिंह) का समकालीन होना निश्चित है। संभव है कि उन दोनों का संबंध भी रहा हो।

रावल समरसिंह के परवाने।

पृथ्वीराजरासे में मेवाड़ के रावल समरसिंह का विवाह पृथ्वीराज की बहिन पृथाबाई से होना लिखा है। पंड्याजी इस कथन की पुष्टि में रावल समरसिंह के दो परवाने प्रसिद्धि में लाए हैं जिनके संवत् ११३९ और ११४५ को वे अनंद विक्रम संवत् मान कर रावल समरसिंह का सनंद (प्रचलित) वि० सं० १२२९-३० और १२३५-३६ में विद्यमान होना मानते हैं। उक्त परवानों की नकलें नीचे दी जाती हैं—

(६)

सही

स्वस्ति श्री श्री चीत्रकोट महाराजाधीराज तपेराज श्री श्री
रावल जी श्रीसमरसीजी वचनातु दाअमा आचारज ठाक
र रषीकेष कस्य थाने दलीसु डायजे लाया अणी राज में ओ
षद थारी लेवेगा ओषद ऊपरे मालकी थाकी है ओ जनाना में
थारा बंसरा टाल ओ दूजो जावेगा नही और थारी बेठक दली
में ही जी प्रमाण परधान बरोबर कारण देवेगा और थारा बंस
क सपूत कपूत वेगा जी ने गाम गोणो अणी राज में षाव्या पाव्या

जायगा और थारा चाकर घोड़ा को नामो कोठार सूँ मला
जायगा
और थूं जमाखातरी रीजो मांई में रायथान बादजो अर्गा
परवाना री
कोई उलंगण जी ने श्री एकलिंगजी की आण है दुबे पंचो
ली जानकीदास सं० ११३६ काती बीद ३

(७)

सही

श्री श्री चीत्रकोट महाराज धीराज तपराज श्री
रावरजी श्री श्री समरसीजी वचनातु दाअमा आचा
रज ठाकुर रुसीकेस कस्य गाम मोई रो पेडो थाने
मआ कीदो लाग भोग सु दीया आवादान करजो जमाषा
श्री सो आवादान करजे थारे है दुवे पवा मुकना नाथ
समत ११४५ जेठ सुद १३

ये दोनों पत्र भी जाली है क्योंकि—

(१) रावल समरसिंह का अनंद वि० सं० ११३६ या सनंद वि० सं० १२२६-३० या अनंद वि० सं० ११४५ अर्थात् सनंद वि० सं० १२३५-६ में विद्यमान होना किसी प्रकार से संभव नहीं हो सकता। शिलालेखादि से निश्चित है कि समरसिंह का ७ वां पूर्वपुरुष सामंतसिंह वि०सं० १२२८ से १२३६ तक विद्यमान था। वि० सं० १२२८ से कुछ पहले जालौर के चौहान कीतू (कीर्त्तिपाल) ने मेवाड़ का राज्य उससे छीन लिया जिससे उसने वागड़ (डूंगरपुर-बांसवाड़ा) में जाकर वहां पर नया राज्य स्थापित किया। उसके छोटे भाई कुमारसिंह ने वि० सं० १२३६ के पहले गुजरात के राजा की सहायता से मेवाड़ का राज्य कीतू से छीन लिया और वह वहाँ का राजा बन बैठा। उसके पीछे क्रमशः मथनसिंह और पद्मसिंह मेवाड़ के राजा हुए जिनके समय का अब तक कोई शिलालेख नहीं मिला। पद्मसिंह का उत्तराधिकारी जैत्रसिंह हुआ जिसके समय के शिलालेखादि

वि० सं० १२७१ से १३०९ तक के और उसके पुत्र तेजसिंह के समय के वि० सं० १३१७ से १३२४ तक के मिलते हैं। तेजसिंह का पुत्र समरसिंह हुआ। उसके समय के वि० सं० १३३०,१३३५,१३४२ और १३४४ के लेख पहले मिल चुके थे, उसका समकालीन जैन विद्वान् जिन-प्रभसूरि अपने 'तीर्थकल्प' में उसका वि०सं० १३५६ में विद्यमान होना बतलाता है और अब चित्तौड़ के किले पर रामपोल दरवाज़े के आगे के नीम के दरख़्तवाले चबूतरे पर वि० सं० १३५८ माघ शुदि १० का रावल समरसिंह का एक और शिलालेख मिला है (देखो ऊपर टिप्पण ५७) जिससे निश्चित है कि वि० सं० १३५८ के अंत के आसपास तक तो रावल समरसिंह विद्यमान था।

(२) उक्त परवाने में 'सही' के ऊपर भाला बना हुआ है जो पुरानी शैली से नहीं है। मेवाड़ के राजा विजयसिंह के कदमाल गाँव से मिले हुए संस्कृत दान-पत्र के अंत में उक्त राजा के हस्ताक्षरों के साथ भाले का चिह्न देखने में आया जो कटार से अधिक मिलता है। वैसा ही चिह्न डूंगरपुर के रावल वीरसिंह के वि०सं० १३४३ के संस्कृत दान-पत्र के अंत में खुदा है और महाराणा उदयपुर के झंडे पर भी वैसा ही कटार का चिह्न रहता है। महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) के वि० सं० १५०५ के दानपत्र में भाला ताम्रपत्र के ऊपर बना है जो छोटा है और पिछले पट्टे परवानों के ऊपर होनेवाले भाले के चिह्न से उसमें भिन्नता है। ठीक वैसा ही भाला आबू पर के देलवाड़ा के मंदिर के चौक के बीच के चबूतरे पर खड़े हुए उसी राणा के शिलालेख के ऊपर भी बना है। राणा कुंभ-कर्ण के समय तक भाला छोटा बनता था, पीछे लंबा बनने लगा। पहले भाले का चिह्न महाराणा के हाथ से किया जाता था ऐसा माना जाता है[७७]। महाराणा लाखा (लक्षसिंह) का ज्येष्ठ पुत्र चूँडा

(७७) "पट्टे परवानों पर पहिले श्रीदर्बार भाला बनाया करते थे।...... अपने [मोकल के] ज़माने में पट्टे व पर्वानों पर भाले के निशान बनाने का काम चूंडाजी के सुपुर्द करके ख़ुद दस्तख़त करने लगे।" (सहीवाला अर्जुनसिंहजी का जीवनचरित्र, पृष्ठ १२)

था जिसकी सगाई के लिये मंडोर (मारवाड़) से नारियल लेकर राज सेवक आए। महाराणा लाखा ने हँसी में यह कहा कि जवानों के लिये नारियल आते हैं हमारे जैसे बूढ़ों के लिये नहीं। जब पितृ-भक्त चूँडा ने यह सुना तो उसको यह अनुमान हुआ कि मेरे पिता की इच्छा नई शादी करने की है। इसपर उसने मंडोरवालों से कहा कि यह नारियल मेरे पिता को दिला दीजिए, इसके उत्तर में उन्होंने यह कहा कि महाराणा के ज्येष्ठ पुत्र आप विद्यमान हैं अतएव हमारी बाई के यदि पुत्र हो तो भी वह चित्तौड़ का राजा तो हो नहीं सकता। इस पर चूँडा ने आग्रह कर यही कहा कि मैं लिखित प्रतिज्ञा करता हूँ कि इस राजकन्या से मेरा भाई उत्पन्न हुआ तो चित्तौड़ का स्वामी वही होगा और मैं उसका सेवक होकर रहूँगा। इसपर मारवाड़ की राजकन्या का विवाह महाराणा लाखा के साथ हुआ और उसीसे मोकल का जन्म हुआ। अपने पिता के पीछे सत्यव्रत चूँडा ने उसी बालक को मेवाड़ के राज्यसिंहासन पर बिठलाया और सच्ची स्वामि-भक्ति के साथ उसने उसके राज्य का उत्तम प्रबंध किया। तब से राजकीय लिखावटों पर राजा के किए हुए लेख के समर्थन के लिये भाले का चिह्न चूँडा और उसके वंशज (चूँडावत) करते रहे। पीछे से चूँडावतों ने अपनी ओर का भाला करने का अधिकार 'सहीवालों' को दे दिया जो राजकीय पट्टे, परवाने और ताम्रपत्र लिखते हैं[७८]। भाले की आकृति में कुछ परिवर्तन महाराणा स्वरूपसिंह

---

(७८) "चूंडाजी की औलाद में से जगावत आमेट रावतजी और सांगावत देवगढ़ रावतजी ने उज्र किया कि सलूंबरवाले [चूंडावतों के मुखिया] भाला करते हैं तो हम भी चूंडाजी की औलाद में हैं इसलिये हमारी निशानी भी पट्टे परवानों पर होनी चाहिए। तब महाराणाजी श्रीकर्णसिंहजी [जिनकी गद्दीनशीनी सं० १६७६ माघ शुक्ला २ को हुई थी] ने हुक्म फ़र्माया कि सलूँबर व आपकी तरफ से एक आदमी मुकर्रर कर दो वह भाला बना दिया करेगा तब उन्होंने श्रीदर्बार से अर्ज़ की कि श्रीदर्बार जिसको मुनासिब समझें हुक्म बख्शें श्रीजी हुज़ूर ने मेरे बुज़ुर्गों के वास्ते फ़रमाया कि यह मेरी तरफ से लिखा करते हैं और मेरे भरोसे के हैं,

ने किया।[७९] महाराणा अमरसिंह (दूसरे) के, जिसने वि॰सं॰ १७५५ तक राज्य किया, समय में शक्तावत शाखा के सर्दारों ने महाराणा से यह निवेदन किया कि चूँडावतों की ओर से सनदों पर भाला होता है तो हमारी तरफ से भी कोई निशान होना चाहिए। इसपर महाराणा ने आज्ञा दी कि सहीवालों को अपनी तरफ से भी कोई निशान बता दो कि वह भी बना दिया जाया करे। इसपर शक्तावतों ने अंकुश का चिह्न बनाने को कहा। उस दिन से भाले के प्रारंभ का कुछ अंश छोड़ कर भाले की छड़ से सटा हुआ नीचे की ओर दाहिनी तरफ झुका हुआ अंकुश चिह्न भी होने लगा।[८०] **ऊपर लिखे हुए रावल समरसिंह के परवाने में भी शक्तावतों का अंकुश का वही चिह्न विद्यमान है** जो महाराणा कुंभकर्ण के ताम्रपत्र और आबू के शिलालेख के भाले में नहीं है। अतएव वह परवाना वि॰ सं॰ १७५५ के पीछे का जाली बना हुआ है।

(३) परवाने पर 'सही' लिखा हुआ है। ऊपर कह चुके हैं कि संस्कृत की प्राचीन राजकीय लिखावटों में 'सही' लिखने की प्रथा न थी। यह तो पीछे से मुसलमानों की देखादेखी राजपूताने में चली। मेवाड़ में 'सही' लिखना कब से चला इस विषय में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता[८१] परंतु महाराणा हंमीर के बाद जब संस्कृत

इनसे कह दो कि आपकी तरफ से भी भाला बनाया करें। उसी दिन से भाला भी मेरे बुजुर्ग करते आये हैं"। (वही, पृष्ठ १३)

(७९) वही, पृष्ठ १३-१४।

(८०) वही, पृ॰ १४

(८१)" विक्रमी संवत् १५६६ में महाराणाजी श्रीसंग्रामसिंहजी (सांगाजी) गद्दीनशीन हुए, इन्होंने ताम्रपत्र, पट्टे तथा पर्वानों पर सही करना शुरू किया और उनको सही मेरे बुजुर्ग करते, इससे 'सहीवाला' खिताब इनायत हुआ। तभी से सहीवाले मशहूर हैं" (वही, पृष्ठ १३) किंतु हम देख चुके हैं कि महाराणा कुंभा के ताम्रपत्र और शिलालेख (आबू का) दोनों पर 'सही' खुदा हुआ है। महाराणा कुंभा सांगा के दादा थे, इसलिये सहीवालों का यह कथन प्रामाणिक नहीं।

लिखावट बंद होकर राजकीय सनदें भाषा में लिखी जाने लगीं तब किसी समय उसका प्रचार हुआ होगा।[८२] संभव है कि जब से महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) ने 'हिंदु सुरत्राण' (हिंदुओं के सुलतान) बिरुद धारण किया[८३] तब से 'सही' लिखने का प्रचार मेवाड़ में हुआ हो। महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) के उपर्युक्त वि० सं० १५०५ के ताम्रपत्र और वि० सं० १५०६ के आबू के प्राचीन मेवाड़ी भाषा के शिलालेख में 'सही' खुदा हुआ है।

(४) महाराणा हंमीर तक मेवाड़ की राजकीय लिखावटें संस्कृत में लिखी जाती थीं अतएव रावल समरसिंह के समय मेवाड़ी भाषा की लिखावट का होना संभव नहीं।

(५) भाषा, लिपि आदि के विषय में पृथ्वीराज के पट्टों पर विचार करते समय इनपर भी ऊपर विचार किया जा चुका है।

(६) अब इन पट्टों की मेवाड़ी भाषा और लिपि का इनसे लगभग २७० वर्ष पीछे की मेवाड़ी भाषा और लिपि के लेख से कितना अंतर है यह दिखाने के लिये महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) के आबू के विक्रम संवत् १५०६ के शिलालेख की नकल यहाँ दी जाती है।

---

(८२) "पहिले लिखावट बिल्कुल संस्कृत में होती थी लेकिन सं० १३५९ में रावल श्रीरत्नसिंहजी के ज़माने में पद्मनी की बाबत दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन ने चित्तौड़ का मुहासरा किया और चित्तौड़ पर बादशाही कब्ज़ह हो गया, इस गर्दिश और परेशानी के ज़माने में लिखावट में भाषा के शब्द मिलने लगे और फिर महाराणा जी श्रीहमीरसिंह जी के चित्तौड़ वापस ले लेने के बाद से महाराणा श्रीरायमलजी के अखीर वक़्त तक लिखावट में बहुत भाषा मिल गई लेकिन ढंग अब तक संस्कृत का ही चला आता है"। (वही, पृष्ठ १४)

हमीर का दान-पत्र संस्कृत में है और कुंभा का दान-पत्र पुरानी मेवाड़ी में है जैसे कि उसका आबू का लेख।

(८३) प्रबलपराक्रमाक्रांतढिल्लीमंडलगुर्जरत्रासुरत्राणदत्तातपत्रप्रथितहिंदुसुरत्राणबिरुदस्य... (सं० १४९६ राणपुर के जैनमंदिर का शिलालेख, भावनगर इंस्क्रिपशंस, पृष्ठ ११४)

यदि समरसी के समय में वैसी भाषा मानी जाय तो राणा कुंभा को समरसी से ३०० वर्ष पूर्व का मानना पड़ेगा क्योंकि इस लेख की भाषा उन पट्टों की भाषा से बहुत पुरानी है, और उसमें कोई फारसी शब्द नहीं है। केवल सुरिहि फारसी 'शरह' का तद्भव माना जा सकता है जैसा कि टिप्पणी में बतलाया है। इस लेख की भाषा सं० १५०६ की मेवाड़ी निर्विवाद है तो समरसी के इन पट्टों की भाषा कभी उससे पुरानी नहीं हो सकती। इस शिलालेख का फोटो भी दिया जाता है[८४]।

श्री गणेशाय: ॥ सही

---

८४ टिप्पणियों के लिये अधिक अंक न लगा कर इस लेख पर जो वक्तव्य है वह एक ही टिप्पणी में दे दिया जाता है।

विमलवसही—वसही (प्राकृत) वसहिका (प्राकृत से बना संस्कृत,) वसति (संस्कृत), मंदिर, विमलशाह का स्थापित किया हुआ (बसाया हुआ) श्री आदिनाथ का मंदिर। **तेजलवसही**—प्रसिद्ध मंत्री वस्तुपाल के भाई तेजपाल की स्थापित श्रीनेमनाथ की वसहिका। **बीजे**—दूसरे। **श्रावक**—जैन धर्मानुयायी संघ के चार अंग हैं, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका। श्रावक—धर्म को सुननेवाले (साधुओं के उपदेश का अनुयायी) अर्थात् गृहस्थ। इसी से 'सरावगी' शब्द निकला है। **देहर**—देवघर; देवकुल, देवल, मंदिर। **बीजे श्रावके देहरे**—अन्यान्य जैन मंदिरों में (अधिकरण की विभक्ति विशेषण तथा विशेष्य दोनों में है)। **दाण**—संस्कृत दंड, राजकीय कर; दंड या दाण जुर्माने के लिये भी आता है और राहदारी, जगात आदि के लिये भी। **मुंडिकं**—मूंडकी, प्रति यात्री या प्रति मुंड पर कर। **वलावी**—मार्ग में रक्षा के लिये साथ के सिपाही का कर। **रखवाली**—चौकीदारी का कर। **गोडा**-घोड़ा। **पोठ्या**-पृष्ठ्य (संस्कृत) पीठ पर भार लादनेवाले बैल। **रूं**—का। **राणि श्रीकुंभकर्णि**-'इ' तृतीया विभक्ति का चिह्न है, राणा कुंभकर्ण ने, हिंदी 'मैं'=मइं (सं० मया) भी तृतीया विभक्ति है। उसके आगे फिर 'ने' लगाकर 'मैंने' यह दुहरा विभक्ति चिह्न भूल से चल पड़ा है। **महं**—महंतम, महत्तम, उच्च राज्याधिकारी या मंत्री। मिलाओ, महता या महत्तर। **जोग्यं**—योग्य, डूंगर भोजा नामक अधिकारी के कहने से, उसपर कृपा या उपकार करके। **जिको**-जो। **तिहिरु**-उसका। **मुकावुं**-छुड़ाया, पंजाबी √मुक = समाप्त करना, गुजराती √मूक = छोड़ना, भेजना या रखना)। **पले**-पालित हो, पाला

महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) के विक्रम संवत १५०३ के शिलालेख का चित्र।

॥ संवत् १५०६ वर्षे आषाढ सुदि २
महाराणा श्री कूंभकर्ण विजय-
राज्ये श्री अर्बुदाचले देलवाडा ग्रामे विम-
लवसही श्री आदिनाथ तेजलवसही श्री नेमिनाथ
तथा बीजे श्रावके देहरे दाण मुंडिकं वलावी रषवाली
गोडा पोठ्याकं राणि श्रीकुंभकर्णि महं डूंगर भोजा जो
ग्यंमया उधारा जिको ज्यात्रि आवि तिहिरुं सर्वमु-
कावं ज्यात्रा संमंधि आचंद्रार्क लगि पले कुई कोई
मांगवा न लहि राणि श्रीकुंभकर्णि म० डूंगर भो

जाय। मांगवा न लहि—मांग न सके। ऊपरि—ऊपर जोग्यं की व्याख्या देखो। मया उधारा—मया धारण करके, 'दया मया' कर के, कृपा करके। मुगती—मुक्ति, छूट। कीधी—की, कृता। थापु—थापा, स्थापित किया। आघाट—नियम। सुरिहि—फारसी शरह ?. नियम का लेख (देखो पत्रिका, अंक ३, पृ० २५३-४) रोपावी—रोपी, खड़ी की (संस्कृत, रोपिता, प्राकृत—संस्कृत, रोपाविता)। आ विधि - यह विधि (कर्म कारक)। लोपिसि-(मारवाड़ी लोपसी, सं० लोपयिष्यति) लोपेगा, नष्ट करेगा। ति-(कर्म कारक) उसे। भांगीरुं-तोड़ने का। लागिसि-लगेगा। अने-और (सं० अन्यत्)। संह-संघ, यात्रियों का समूह। अविसइं-आवेगा, संस्कृतसम-आविष्यति (!) स-वह। फद्यं-(संस्कृत पदिक) फदैया, दो आने के लगभग मूल्य का चांदी का सिक्का। अचलेश्वरि-भंडारि, संनिधानि, अधिकरण कारक। दुगाड़ी (सं० द्विकाकिणी), एक पदिक में पांच, (रुपये के ४०) एक तांबे का सिक्का। मुकिस्यइं—देवेगा, (मिलाओ मुकावुं, अविसइं)। दुए-दूतक। शिलालेख और ताम्रपत्रों में जिस अधिकारी के द्वारा राजाज्ञा दी हो उसका नाम 'दूतकोऽत्र' कह कर लिखा जाता था उसीका अपभ्रंश दुए, दुवे, या दुवे प्रत पीछे के लेखों पट्टों आदि में आता है। ऊपर के जाली पट्टों में भी 'दुवे' आया है। इस लेख के दुए या दूतक स्वयं राणा कुंभाही हैं। दोसी रामण—इस लेख का लेखक होगा।

इस लेख के अंत में पत्थर पर स्थान खाली रहने से सं० १५०६ में किसी दूसरे ने सवा दो पंक्ति लिखकर जोड़ दी है। उस लेख का इससे कोई संबंध न होने से हमने उसे यहाँ उद्धृत नहीं किया।

जा ऊपरि मया उधारी यात्रा मुगती कीधी आ
घाट थापु सुरिहि रोपावी जिको आ विधि लो
पिसि ति इहि सुरिहि भांगोरुं पाप लागिसि
अनि संह जिको जात्रि अविसइं स फयुं १ एक देव
श्री अचलेश्वरि अन दुगाणी ४ च्या देवि श्री विशिष्ट
भंडारि मुकिस्यइं । अचलगढ़ ऊपरि देवी ॥
श्रीसरस्वती सन्निधानि बइठां लिखितं । दुए ॥
श्री स्वयं ॥ श्री रामप्रसादातु ॥ शुभं भवतु ॥
दोसी रामण नित्यं प्रणमति ॥

उपसंहार ।

इस सारे लेख का निष्कर्ष यही है कि पृथ्वीराजरासे में कोई ऐसा उल्लेख नहीं है जिससे किसी नए संवत् या विक्रम संवत् के "अनंद" रूपांतर का होना संभव माना जाय । अनंद विक्रम संवत् नाम का कोई संवत् कभी प्रचलित नहीं था । रासे के संवत् और भाटों की ख्यातों के संवत् अशुद्ध भले ही हों, किंतु हैं सब प्रचलित विक्रम संवत् ही । रासे के अशुद्ध संवतों तथा मनमानी ऐतिहासिक कल्पनाओं को सत्य ठहराने की खींचतान में जब भट्टायत संवत् से काम न निकला तब पंड्याजी ने इस अनंद विक्रम संवत् की सृष्टि की । जिन दूसरे विद्वानों ने इसे स्वीकार कर अपने नाम का महत्त्व इसे दिया है उन्होंने स्वयं कभी इसकी जाँच न की, केवल गतानुगतिक न्याय से पंड्याजी का कथन मान लिया । इस संवत् की कल्पना से भी रासे या भाटों की ख्यातों के संवत् जाँच की कसौटी पर शुद्ध नहीं उतरते । जिन जिन घटनाओं के संवत् दूसरे ऐतिहासिक प्रमाणों से जाँचे गए हैं उन सबमें यही पाया गया कि संवत् अशुद्ध और मनमाने हैं, किसी 'अनंद' या दूसरे संवत्सर के नहीं । रासे की घटनाओं और इस कल्पित संवत् की पुष्टि में जो पट्टे परवाने लाए गए वे भी सिखाए हुए गवाह की तरह उलटा मामला बिगाड़ गए ।

पृथ्वीराजरासे में एक दोहा यह भी है—

एकादस सै पंचदह विक्रम जिम ध्रम सुत्त।

त्रितिय साक प्रथिराज को लिख्यो विप्र गुन गुत्त(प्र)॥

इसका अर्थ यह दिया गया है कि जैसे युधिष्ठिर के १११५ वर्ष पीछे विक्रम का संवत् चला वैसे विक्रम से १११५ वर्ष पीछे कवि ने गुप्त रीति से पृथ्वीराज का तीसरा शक लिखा। यदि इस दोहे का यही अर्थ माना जाय तो जिस कवि को यह ज्ञान हो कि युधिष्ठिर और विक्रम संवत् का अंतर १११५ वर्ष है वह जो न कहे सो थोड़ा है। युधिष्ठिर संवत् तो प्रत्येक वर्ष के पंचांग में लिखा रहता है और साधारण से साधारण ज्योतिषी भी उसे जानता है। यही दोहा सिद्ध किए देता है कि जैसे युधिष्ठिर और विक्रम के बीच १११५ वर्ष कल्पित हैं, वैसे ही पृथ्वीराज का जन्म १११५ में होना भी कल्पित है।

भाटों की ख्यातें विक्रम संवत की १५ वीं शताब्दी के पूर्व की घटनाओं और संवतों के लिये किसी महत्त्व की नहीं हैं। मुसलमानों के यहाँ इतिहास लिखने का नियमित प्रचार था; चाहे वे हिंदुओं की पराजय और अपनी विजय का वर्णन कितने ही पक्षपात से लिखते थे किंतु संवत् और मुख्य घटनाएँ वे प्रामाणिक रीति पर लिखते थे। जब दिल्ली में मुग़ल दरबार में हिंदू राजाओं का जमघट होने लगा तब उनके इतिहास की भी पूछताछ हुई, मुसलमान तवारीख़ नवीसों को देख कर उन्होंने भी लिखा इतिहास चाहा और भाटों ने मनमाना इतिहास गढ़ना आरंभ कर अपने स्वामियों को रिझाना आरंभ किया। **पृथ्वीराजरासे की सब घटनाओं के मूल में एक बड़ी भारी कल्पना** है कि जैसे दिल्ली के मुग़लिया दरबार में सब प्रधान राजा अधीनरूप से संमिलित थे, वैसेही पृथ्वीराज का कल्पित दिल्ली-दरबार गढ़ा गया है जिसमें प्रधान राजवंशों के कल्पित प्रतिनिधि, चाहे वे समरसी और पज्जून आदि मित्रसंबंधिरूप से हों और चाहे जयचंद आदि शत्रुरूप से हों, खड़े करके वर्णन किए गए।

पीछे इतिहास के अंधकार में यही रासा सब राजस्थानों की ख्यातों का उपजीव्य हो गया।

पृथ्वीराजरासे की क्या भाषा, क्या ऐतिहासिक घटनाएँ और क्या संवत्, जिस जिस बात की जाँच की जाती है उसीसे यह सिद्ध होता है कि वह पुस्तक वर्तमान रूप में न पृथ्वीराज की समकालीन है और न चंद जैसे समकालीन कवि की कृति है।

२६—अशोक की धर्मलिपियाँ ।

[लेखक—रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, बाबू स्यामसुंदरदास बी० ए० और पंडित चंद्रधर शर्म्मा गुलेरी बी० ए० ।]

[क २—दूसरा प्रज्ञापन ।]

[पत्रिका पृष्ठ ३५७ के आगे]

कालसी	१	सवता	विजितसि	देवानं	पियसा	पियदसिसा	लाजिने
गिरनार	२	सर्वत	विजितम्हि	देवानं	प्रियस	प्रियदसिनो	राञो (१३)
धौली	३	सवत	विजितसि	देवानं	पियस	पियदसिने	ला . .
जौगड़	४	सवत	विजितसि	देवानं	पियस	पियदसिने	लाजिने
शहबाज़गढ़ी	५	सव्रत्र	विजिते	देवनं	प्रियस	प्रियद्रशिस	
मानसेरा	६	सव्रत्र	. जितसि	देवन	प्रियस	प्रियद्रशिस	रजिने
संस्कृत-अनुवाद		सर्वत्र	विजिते	देवानं	प्रियस्य	प्रियदर्शिनः	राज्ञः
हिंदी-अनुवाद		सब जगह	जीते हुए) [देश] (में	देवताओं के	प्रिय (के)	प्रियदर्शी (के)	राजा के

कालसी	७		ये च	अंता	अथा	चोडा	पंडिया
गिरनार	८	एवमपि		प्रचंतेसु	यथा	चोडा	पाडा
धौली	६	. . .		. .	. .	. .	. . .
जौगड	१०	एवापि		अंता	अथा	चोडा	पंडिया
शहबाजगढ़ी	११		ये च	अंत	यथ	चोड[3]	पंडिय
मानसेरा	१२		ये च	अंत	अथ[2]	चोड	पंडिय
संस्कृत-अनुवाद		एवमपि	ये च	अंताः प्रत्यन्तेषु सीमांत	यथा	चोडाः	पांड्याः
हिंदी-अनुवाद		ऐसे ही	जो और	[प्रदेश हैं] सीमांत प्रदेशों में	जैसे	चोड़	पांड्य

कालसी	१३	सातियपुतो	केललपुतो	तंबपंनी[४]	अंतियोगे	नाम
गिरनार	१४	सतियपुतो	केतलपुतो	आतंब[१४] पंणी	अंतियको	
धौली	१५	. . . . .	. . . .	. . .	अंतियोके	नाम
जौगड़	१६	सतियपुते	. . . . .	. . .	अंतियोके	नाम (६)
शहबाज़गढ़ी	१७	सतियपुत्र	केरलपुत्र	तंबपंनि	अंतियोकों	नम
मानसेरा	१८	सतियपुत्र	केरलपुत्रे[३]	. बपणि	. तियोके	नम
संस्कृत-अनुवाद		सत्यपुत्रः	केरलपुत्रः	ताम्रपर्णी आताम्रपर्णि	अंतियोकः	नाम
हिंदी-अनुवाद		सत्यपुत्र	केरलपुत्र	ताम्रपर्णी ताम्रपर्णी तक	अंतियोक	नाम

कालसी	१९	येनलाजा	ये	चा		अंने	तसा	अंतियोगसा	सामंता
गिरनार	२०	येनराजा	ये	वा	पि		तस	अंतियकस	सामीपं (१४)
धौली	२१	येनलाजा (२)	ए	वा	पि		.स	अंतियोकस	सामंता
जौगड़	२२	येनलाजा	ए	वा	पि		तस	अंतियोकस	सामंता
शहबाजगढ़ी	२३	येनरज	ये	च		अंञे	तस	अंतियोकस	समंत
मानसेरा	२४	येन ..	ये	च		..	.स	......	समंत
संस्कृत-अनुवाद		यवनराजः	ये	च	अपि	अन्ये	तस्य	अंतियोकस्य	सामंताः समीपे
हिंदी-अनुवाद		यवनराजा	जो	और	भी	दूसरे	उस (के)	अंतियोक के	सामंत समीप में

कालसी	२५	लाजानो	सवता	देवानं	पियसा	पियदसिसा	लाजिने
गिरनार	२६	राजानो	सर्वत्र	देवानं	प्रियस	प्रियदसिनो	राञो
धौली	२७	लाजाने	सवत	देवानं	पियेन	पियदसिना	. . .
जौगड़	२८	लाजाने	सवत	देवानं	पियेन	पियदसिना	लाजि .
शहबाज़गढ़ी	२९	रजनो	सव्रत्र	देवनं	प्रियस	प्रियद्रशिस	रञो
मानसेरा	३०	रज .	. व्रत्र	. . .	प्रियस	प्रियद्रशिस	रजिने(३)
संस्कृत-अनुवाद		राजानः	सर्वत्र	देवानां	प्रियस्य प्रियेण	प्रियदर्शिनः प्रियदर्शिना	राज्ञः राज्ञा
हिंदी-अनुवाद		राजा [हैं]	सब जगह	देवताओं के	प्रिय (की) प्रिय (ने)	प्रियदर्शी (की) प्रियदर्शी (ने)	राजा (की) राजा (ने)

कालसी	३१	दुवे	चिकिसका	कटा	मनुसचिकिसा	चा	पसुचिकिसा
गिरनार	३२	द्वे	चिकीछ	कता(१६)	मनुसचिकीछा	च	पसुचिकीछा
धौली	३३	. .	चि . .	. .	. . . . . . सा	च	प . चिकिसा
जौगड़	३४	. .	. . . .	. .	. . . . चिकिसा	च(७)	पसुचिकिसा
शहबाज़गढ़ी	३५	दुविर	चिकिस	कित्र	मनुशचिकिस	.	पशुचिकिस
मानसेरा	३६	दुवेर	चिकिस	कट	मनुशचिकिस	च	पशुचिकिस
संस्कृत-अनुवाद		द्वे	चिकित्से	कृते	मनुष्यचिकित्सा	च	पशुचिकित्सा
हिंदी-अनुवाद		दो	चिकित्साएं	की [हैं]	मनुष्य-चिकित्सा	और	पशु-चिकित्सा

कालसी	३७	चा	ओसधानि			मनुसोपगानि	चा
गिरनार	३८	च	ओसढानि	च	यानि	मनुसोपगानि	च (१७)
धौली	३९	च	. . धानि (६)		आनि	मुनिसोपगानि	
जौगड़	४०	च	ओसधानि		आनि	मुनिसोपगानि	
शहबाजगढ़ी	४१	च (४)	ओषुढनि			मनुश्रोपकनि	च
मानसेरा	४२	च	ओषढिनि			मनु · · कनि	च
संस्कृत-अनुवाद		च ।	ओषध्य:	च	या:	मनुष्योपगा:	च
हिंदी-अनुवाद		और ।	ओषधियाँ	और	जो	मनुष्य के लिये उपयोगी	और

कालसी	४३ पसोपगानि	च	अतता	नथि[२]	सबता	हालापिता	चा
गिरनार	४४ पसोपगानि	च	यत यत	नास्ति	सर्वत्र	हारापितानि	च
धौली	४५ पसुओपगानि	च	अतत	नथि	सबत	हालापिता	च
जौगड़	४६ पसुओपगानि	च	अतत	नथि	सबत	. . . .	.
शहबाजगढ़ी	४७ पशोपकनि	च	यत्र यत्र	नस्ति	सवत्र	हरोपित	च
मानसेरा	४८ प . . कनि	च	यत्र यत्र	न .	. त्रत्र	हरपित	च
संस्कृत-अनुवाद	पशूपगाः	च	यत्र यत्र	नास्ति (= न संति)	सर्वत्र	हारिताः	च
हिंदी-अनुवाद	पशुओं के लिये उपयोगी	और	जहां जहां	नहीं हैं	सब जगह	लाई गई	और

कालसी	४६	लोपापिता	चा	एवमेवा	मुलानि	चा	फलानि
गिरनार	५०	रोपापितानि	च (१८)		मूलानि	च	फलानि
धौली	५१	लोपापिता	च		मूला .	.	. . .
जौगड़	५२	. . . .	.		. . .	च	
शहबाज़गढ़ी	५३						
मानसेरा	५४	रोपपित	च (७)	एवमेव	मुलनि	च	फलनि
संस्कृत-अनुवाद		रोपिताः	च।	एवमेव	मूलानि	च	फलानि
हिंदी-अनुवाद		रोपी गई	और।	ऐसे ही	मूल	और	फल

कालसी	५५	चा	अतता	नथि	सवता	हालापिता	चा
गिरनार	५६	च	यत यत	नास्ति	सर्वत्र	हारापितानि	च
धौली	५७		. . .	. .	. वत	हालापिता	च (१)
जौगड़	५८		अतत	नथि	सवतु	हालापिता	च
शहबाज़गढ़ी	५९						
मानसेरा	६०	च	अत्र अत्र	नस्ति	. . त्र	हरपित	च
संस्कृत-अनुवाद		च	यत्र यत्र	नास्ति (= न संति)	सर्वत्र	हारितानि	च
हिंदी-अनुवाद		और	जहां जहां	नहीं हैं	सब जगह	लाए गए	और

कालसी	६१	लोपापिता	चा	मगेसु		लुखानि		
गिरनार	६२	रोपापितानि	च (१८)	पंथेसु			कूपा	च
धौली	६३	लोपापिता	च	मगेसु			उदुपानानि	
जौगड़	६४	लोपापिता	च	मगेसु			उदुपानानि	
शहबाज़गढ़ी	६५			वुत	च		कुप	च
मानसेरा	६६	रोपपित	च	मगेषु		रुछ		
संस्कृत-अनुवाद		रोपितानि	च	मार्गेषु / पथिषु / वर्त्मसु	च	{वृक्षा:}	कूपा: / उदपानानि	च
हिंदी-अनुवाद		रोपे गए	और	मार्गों पर	और	{रूख}	कुएँ / जलाशय	और

कालसी	६७	लोपितानि		उदुपानानि		चा	खानापितानि
गिरनार	६८		खानापिता		वृछा	च	
धौली	६९		खानापितानि		लुखानि	च	
जौगढ़	७०		खानापितानि		लुखानि	च	
शाहबाज़गढ़ी	७१		खनपित				
मानसेरा	७२	. . पित		कु .			. . . तनि
संस्कृत-अनुवाद		रोपिताः	खानिताः / खानितानि	उदपानानि / कूपाः	वृक्षाः	च	खानितानि / खानिताः
हिंदी-अनुवाद		रोपे गए	खुदवाए गए	जलाशय / कुँए	रूख	और	खुदवाए गए

कालसी	७३		पटिभोगाये	पसुमुनिसानं
गिरनार	७४	रोपापिता	परिभोगाय	पसुमनुसानं (२०)
धौली	७५	लोपापितानि	पटिभोगाये	. . . . . नं (८)
जौगड़	७६	. . . . . .	. . . . . .	. . . . (१)
शहबाज़गढ़ी	७७		प्रतिभोगये	पशुमनुशनं
मानसेरा	७८		पटिभोगये	पशुमनुशन (८)
संस्कृत-अनुवाद		रोपिताः	प्रतिभोगाय	पशुमनुष्याणां
हिंदी-अनुवाद		रोपे गए	उपभोग के लिये	पशु (और) मनुष्यों के

[हिंदी अनुवाद।]

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के जीते हुए सब स्थानों में,[१] तथा और जो सीमांत[२] प्रदेश हैं जैसे चोड़,[३] पांड्य,[४] सत्यपुत्र,[५] केरलपुत्र[६] [और] ताम्रपर्णी तक[७] [के प्रदेशों में] तथा अंतियोक[८] (एंटिओकस)

१ 'विजित' का शब्दार्थ 'जीता हुआ' है किंतु यहां अभिप्राय सारे राज्य से है जैसे पिछले लेखों में विजयराज्ये, विजयकटके आता है।

२ अंत = प्रत्यंत। ये देश अशोक के साम्राज्य के अंतर्गत न थे किंतु सीमा पर दूसरों के अधिकार में थे।

३ चोड़ = चोल = कोरोमंडल (चोलमंडल) तट जिसकी राजधानी त्रिचिनापल्ली के पास उडैयूर थी।

४ पांड्य—द्रविड़ (तामिल) देश का सबसे दक्षिणी भाग, वर्तमान मद्रास प्रांत के मदुरा और तिनिवेली जिले। इसकी राजधानी मदुरा (मथुरा) थी।

५ सत्यपुत्र—संभवतः यह कांची (कांजीवरम्) के आसपास का प्रदेश हो जिसे सत्यव्रत मंडल भी कहते थे।

६ केरलपुत्र—मलबार समुद्रतट का प्रदेश। इन दोनों पदों में पुत्र का अर्थ निवासी (देश में माता या पिता के उपचार से) है।

७ ताम्रपर्णी—यह इस नाम की छोटी दक्षिण की नदी नहीं हो सकती जैसा कि कई विद्वानों का अनुमान है। यहां ताम्रपर्णी सिंहलद्वीप (सिलोन) के लिये आया है। गिरनार के पाठ में आतंबपंणी (= आताम्रपर्णि) = ताम्रपर्णी तक, हिंदुस्तान के आगे सिंहल तक, से अभिप्राय है। 'आ' का अर्थ अभिव्याप्ति या सीमा है।

८ अंतियोक—एंटिओकस थिओस, सीरिया, बैकट्रिया आदि पश्चिमी एशिया के देशों का यवन (यूनानी, ग्रीक) राजा, सेल्युकस निकेटर नामक सिकंदर के प्रसिद्ध सेनापति का पौत्र था। इसका समय ईसवी सन् पूर्व २६१—२४६ है।

नाम के यवन राजा और जो अन्य राजा[9] उस [अंतियोक] के सामंत [या समीप] राजा [हैं उनके यहां] सब स्थानों में देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दो [प्रकार की] चिकित्साओं [का प्रबंध] किया है,—[एक] मनुष्यों की चिकित्सा और [दूसरी] पशुओं की चिकित्सा। मनुष्यों और पशुओं की उपयोगी ओषधियां[10] जहां जहां नहीं हैं वहां वहां [वे] लाई गई और लगाई गई। इसी प्रकार मनुष्य तथा पशुओं के उपभोग के लिये जहां जहां फल और मूल नहीं हैं वहां वहां [वे] लाए गए और लगाए गए, और मार्गों में कुँए खुदवाए गए तथा पेड़ लगवाए गए[11]।

९ तेरहवें प्रज्ञापन में अंतियोक के समीपवर्ती और राजाओं के भी नाम दिए हैं। 'सामंत' का अर्थ 'अधीन राजा' और संमता = समंतात्, आस पास, हो सकता है।

१० ओषधियों के साथ 'रोपी गई' पद होने से ओषधि का अर्थ जड़ी बूटी होना चाहिए, औषध (दवाई) नहीं, अतएव संस्कृत अनुवाद में हमने ओषध्यः रोपिताः आदि स्त्रीलिंग का प्रयोग किया है। दूसरे अनुवादकर्त्ता प्राकृत के लिंग व्यत्यय के भ्रम में पड़ कर 'औषधानि रोपितानि' आदि कर गए हैं। संस्कृत में ओषधि और औषध का भेद है

११ कालसी और मानसेरा के प्रज्ञापनों में वृक्षों और उदपानों का क्रम दूसरे प्रज्ञापनों से उलटा खुदा है। इसलिये हमने { } बड़े ब्रेकट लगा दिए हैं जिनका विशेष परिचय भूमिका में दिया है। अन्यत्र भी जहां आवश्यक था ऐसा किया गया है।

[क ३—तीसरा प्रज्ञापन।]

कालसी	१	देवानं	पिये	पियदसि	लाजा	हेवं	आहा (६)
गिरनार	२	देवानं	प्रियो	पियदसि	राजा	एवं	आह
धौली	३	देवानं	पिये	पियदसी	लाजा	हेवं	आहा
जौगड़	४	देवानं	पिये	पियदसी	लाजा	हेवं	आहा
शहबाज़गढ़ी	५	देवन	प्रियो	प्रियद्रशि	रज		अहति
मानसेरा	६	देवन	प्रिये	प्रियद्रशि	रज	एव	अह
संस्कृत-अनुवाद		देवानां	प्रियः	प्रियदर्शी	राजा	एवं	आह।
हिंदी-अनुवाद		देवताओं के	प्रिय	प्रियदर्शी	राजा (ने)	ऐसा	कहा है।

कालसी	७	दुवाडसवसाभिसितेन	मे	इयं	आनपयिते	सवता	विजितसि
गिरनार	८	द्बादसवासाभिसितेन	मया	इदं	आज्ञपितं(२१)	सर्वत	विजिते
धौली	९	दुवादसवसाभिसितेन	मे	इयं	आनपयि .	. . त	विजितसि
जौगड़	१०	दुवदसवसाभिसितेन	मे	इयं	आ	. . .	. . . .
शहबाजगढ़ी	११	बदयवषभिसितेन		. .	. . . . .	सव. (५)	विजिते
मानसेरा	१२	दुवडशवषभिसेतेन	मे	अयं	अ णपयिते	सवत्र	विजितसि
संस्कृत-अनुवाद		द्वादशवर्षाभिषिक्तेन	मया	इदं	आज्ञप्तं	सर्वत्र	विजिते
हिंदी-अनुवाद		बारह वर्ष से अभिषिक्त हुए (ने)	मैंने	यह	आज्ञा दी [है]	सब जगह	जीते हुए (में)

कालसी	१३	मम	युता		लजुके		पादेसिके		पंचसु
गिरनार	१४	मम	युता	च	राजूके	च	प्रादेसिके	च	पंचसु
धौली	१५	मे	युता		लजुके	च	. . सिके	. (९)	पंचसु
जौगड़	१६	.	. .		. . .	च	पादेसिके	च(१०)	पंचसु
शहबाजगढ़ी	१७		युत		रजुको		प्रदेशिके		पंचषु
मानसेरा	१८	मे	. त		रजु .		प्रदेशिके		. चषु
संस्कृत-अनुवाद		मम	युक्ताः	च	रज्जुकाः	च	प्रादेशिकाः	च	पंचसु
हिंदी-अनुवाद		मेरे	युक्त	और	रज्जुक	और	प्रादेशिक	और	पांच (में)

कालसी	१९	पंचसु	वसेसु	अनुसयानं	निखमंतु	एतायेवा
गिरनार	२०	पंचसु	वासेसु	अनुसं (२२) यानं	नियातु	एतायेव
धौली	२१	पंचसु	वसेसु	अनुसयानं	निखमावू	
जौगड़	२२	पंचसु	वसेसु	अनुसयानं	निखमावू	
शहबाज़गढ़ी	२३	पंचषु ५	वषेषु	अनुसंयनं	निक्रमतु	एतिस
मानसेरा	२४	पंचषु ५	वषेषु (४)	अनुसंयनं	निक्रमंतु	एतयेवं
संस्कृत-अनुवाद		पंचसु	वर्षेषु	अनुसंयानं	निष्कामन्तु नियान्तु	एतस्मै एव
हिंदी-अनुवाद		पांच(में)	वर्षों में	दौरे (को)	निकलें	इस ही (के लिये)

कालसी	२५	अथाये					इमाये
गिरनार	२६	अथाय					इमाय
धौली	२७	अथा	अंनाये	पि	कंमने	हेवं	इमाये
जौगड़	२८	अथा	अंनाये	पि	कंमने	..	...
शहबाजगढ़ी	२९			वो	करण		इमिस
मानसेरा	३०	अथये					इमये
संस्कृत-अनुवाद		अर्थाय	(अन्यस्मै	अपि	कर्मणे	एवं)	अस्यै
हिंदी-अनुवाद		काम के लिये	(दूसरे (के लिये)	भी	काम के लिये	ऐसे ही)	इस (के लिये)

कालसी	३१	धंमनुसथिया	यथा	अंनाये	पि	कंमाये	साधु (७)
गिरनार	३२	धंमानुसस्टिय	यथा	अञा (२३)य	पि	कंमाय	साधु
धौली	३३	धंमानु . यिये					साधु
जौगड़	३४	. . . .					. .
सहबाज़गढ़ी	३५	ध्रमनुशस्ति	यथ	अञये	पि	क्रमये	सधु
मानसेरा	३६	ध्रमनुशस्तिये	यथं	अणये	पि	क्रमने	सधु
संस्कृत-अनुवाद		धर्मानुशिष्ट्यै	यथा	अन्यस्मै	अपि	कर्मणे ।	साधु
हिंदी-अनुवाद		धर्मानुशासन के लिये	जैसे	दूसरे (के लिये)	भी	काम के लिये ।	उत्तम [है]

कालसी	३७	मातपितिसु	सुसुसा	मितसंथुतनातिक्यानं
गिरनार	३८	मातरि च पितरि च	सुस्रूसा	मितासंस्तुतञातीनं
धौली	३९	मातापितिसु	सुसूसा	. . . . . . (१०) नातिसु
जौगड़	४०	. . . . . .	. . सा	मितसंथुतेसु (११) नातिसु
शहबाज़गढ़ी	४१	मतपितुषु	सुश्रुष	मित्रसंस्तुतञतिकनं
मानसेरा	४२	मतपितुषु	सुश्रुष	मित्रसंस्तुत (१०) ञतिकनं
संस्कृत-अनुवाद		मातापित्रोः मातरि च पितरि च	शुश्रूषा	मित्रसंस्तुतज्ञातीनां मित्रसंस्तुतेषु ज्ञातिषु
हिन्दी-अनुवाद		माता पिता में (= की)	सेवा	मित्र परिचित (या प्रशंसित) लोग (और) कुटुंबियों में (= की)

कालसी	४३	चा	बंभनसमनानं	चा	साधु	दाने	पानानं
गिरनार	४४		बाम्हण(२४) समणानं		साधु	दानं	प्राणानं
धौली	४५	च	बंभनसमनेहि		साधु	दाने	जीवेसु
जौगड़	४६	च	बंभनसमनेहि		साधु	दाने	जीवेसु
शहबाज़गढ़ी	४७		ब्रमणश्रमणनं		स ·		प्र · ·(६)
मानसेरा	४८	च	ब्रमणश्रमनन		सधु	दने	प्रणन
संस्कृत-अनुवाद		च	ब्राह्मणश्रमणानां	च ।	साधु	दानम् ।	प्राणानां जीवेषु
हिंदी-अनुवाद		और	ब्राह्मणश्रमणों को	और ।	उत्तम [है]	दान ।	प्राणियों में (= का)

कालसी	४९		अनालंभे	साधु	अपवियाता	अपभंडता	साधु
गिरनार	५०	साधु	अनारंभो		अपव्ययता	अपभांडता	साधु[२१]
धौली	५१		अनालंभे	साधु	अपवियति	अपभंडता	साधु
जौगड़	५२		अनालंभे	साधु	. . . . . .	. . . . . .	. .
शहबाजगढ़ी	५३				अपवयत	अपभंडत	सधु
मानसेरा	५४		अ . रभे	सधु	अपवयत	अपभडत	सधु
संस्कृत-अनुवाद		साधु	अनालंभः	साधु।	अल्पव्ययता	अल्पभांडता	साधु।
हिंदी-अनुवाद		उत्तम	न मारना	उत्तम [है]।	थोड़ा व्यय करना	थोड़ा बटोरना	उत्तम [है]।

कालसी	५५	पलिसा	पि	च	युतानि		गननसि	
गिरनार	५६	परिसा	पि		युते	आञपयिसति		
धौली	५७	पलिसा	पि	च				
जौगड़	५८	. . .	.	.			. . नसि	युतानि
							. . . .	. . .
शहबाजगढ़ी	५९	परि .	पि		युतनि		गणनसि	
मानसेरा	६०	परिष	पि	च	युतनि		गणनसि	
संस्कृत-अनुवाद		परिषदः परिषद्	अपि	च	युक्तान्	आज्ञापयिष्यति	गणने	युक्तान्
हिंदी-अनुवाद		परिषदें परिषद्	भी	और	युक्तों को	आज्ञा देगी	जांच में	युक्तों को

कालसी	६१		अनपयिसंति	हेतुवता	चा	वियंजनते	च
गिरनार	६२	गणनायं		हेतुतो	च	व्यंजनतो	च[२६]
धौली	६३		आनपयिसति	तुते	च	वियंज . . .	[११]
जौगढ़	६४		. . . . [१२]	हेतुते	च	वियंजनते	च[१३]
शहबाज़गढ़ी	६५		अणपेशंति	हेतुतो	च	वञनतो	च
मानसेरा	६६		अणपयिशति	हेतुते	च	विय . [११] नते	च
संस्कृत-अनुवाद		गणनायां	आज्ञापयिष्यन्ति आज्ञापयिष्यति	हेतुतः	च	व्यंजनतः	च।
हिंदी-अनुवाद		जांच में	आज्ञा देंगी आज्ञा देगी	हेतु (= उद्देश्य) से और		अर्थ से	और।

[हिंदी अनुवाद।]

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा है[1] [कि] अभिषिक्त होने के बारहवें वर्ष[2] मैंने यह आज्ञा दी [कि]

---

१ अहति (शहबाज़गढ़ी के पाठ में) संस्कृत आह के वास्तव वर्तमान कालके अर्थ को जीवित रखता है। संस्कृत व्याकरण में आह अपूर्ण धातु है जिसके वर्तमानकाल के पांच रूप ही मिलते हैं, बाकी रूप ब्रू धातु के होते हैं (पाणिनि ३।४।८४)। पिछली संस्कृत में 'आह' का वर्तमान् और भूत काल दोनों में गड़बड़ से प्रयोग होता है। कोई कोई कवि सावधानता से 'आह स्म' काम में लाते हैं।

२ जहां जहां अशोक के प्रज्ञापनों में राज्यवर्ष दिए हैं वहां वहां 'द्वादश (या और कोई संख्या) वर्ष से अभिषिक्त हुए' यह विशेषण आया है। पदव्याख्या में यही अनुवाद किया गया है। यह संदेह हो सकता है कि उसका राज्य-संवत्सर वर्तमान माना जाता था या गत, जैसे कि और संवतों के लिये भी दो पक्ष हैं। आज कल जो संवत् १९७८ माना जाता है इसका अर्थ यह है कि विक्रम के समय से १९७८ वर्ष बीत गए, चैत्र शुदि १ से संवत्सर १९७९ लगा है तो भी गत संवत् का ही व्यवहार हो रहा है। शिलालेखों आदि में विक्रम, शक आदि संवतों के साथ कहीं कहीं गत और वर्तमान देने और कहीं कहीं न देने से झमेला पड़ गया है। यदि अशोक का राज्यसंवत् या विजयराज्य संवत् या सन् जुलूस वर्तमान हो तो 'द्वादशवर्षाभिषिक्तेन' का अर्थ 'राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष' ठीक है, गत हो तो यहां अर्थ 'तेरहवें राज्यवर्ष में' होना चाहिए। ऐसे ही और सब उल्लेखों में भी एक वर्ष का अंतर पड़ेगा।

मेरे जीते हुए सब राज्य में युक्त[3], रज्जुक[4] और प्रादेशिक[5] प्रति पांचवें वर्ष जैसे दूसरे [शासन-संबंधी] कामों के लिये दौरा करते हैं वैसे इस धर्मानुशासन के लिये भी दौरा[6] करें [कि] माता पिता[7] की और मित्रों, परिचित (प्रशंसित) लोगों, संबंधियों,[8] ब्राह्मणों और श्रमणों की सेवा [करना] अच्छा है; दान [देना] अच्छा है; जीवों का न मारना अच्छा है; थोड़ा व्यय करना और थोड़ा बटोरना अच्छा है। परिषदें (सभाएँ) भी अधीनस्थ अधिकारियों को [धर्मानुशासन के] उद्देश्य और अर्थ के अनुसार जाँच पड़ताल करने के लिये आज्ञा देंगी।[10]

---

३ युक्त—राज्य के छोटे कर्मचारी होते थे। इनके हथकंडों से राजा प्रजा को बचाने के लिये कौटिल्य के अर्थशास्त्र में बहुत कुछ लिखा है (अधिकरण२, अध्याय९, प्रकरण २६.२७), इनके प्रजा से "खा जाने" के विषय में यहाँ तक कहा है कि 'मत्स्या यथान्तस्सलिले चरन्तो ज्ञातुं न शक्याः सलिलं पिबन्तः। युक्तास्तथा कार्यविधौ नियुक्ता ज्ञातुं न शक्या धनमाददानाः' (कौटिल्य पृ० ७०)

४ रज्जुक—राज्य के भूमिकर और प्रबंध के प्रधान अधिकारी होते थे। यह नाम या तो भूमि की पैमाइश करने की रज्जु (रस्सी, ज़रीब) इनका लक्षण होने से पड़ा हो या राज्य की डोर उनके हाथ में रहने के उपचार से पड़ा हो। ये प्रादेशिकों से उच्चकोटि के होते थे।

५ प्रादेशिक— प्रांतों के अधिकारी।

६ कोई कोई इसका अर्थ महासभा करते हैं किंतु अनुसंयान का अभिप्राय दौरा ही है।

७ गिरनार के पाठ में माता पिता अलग अलग पद हैं, औरों में 'माता-पिता' समास है।

८ जौगड़ (और शायद धौली) के पाठ में मित्र संस्तुत और ज्ञाति अलग अलग पद हैं, औरों में 'मित्र-संस्तुत-ज्ञाति' समास है।

९ परिषद् का अर्थ राजसभा भी हो सकता है और बौद्धधर्म की सभा (संघ) भी जिसमें भिक्षु ही होते थे।

१० गिरनार के पाठ में 'आज्ञा देगी' एकवचन में है। धौली, मानसेरा (और शायद जौगड़) में भी एकवचन है। इसी लिये 'परिषदें' और परिषद् दो तरह अर्थ किया है।

[क ४—चौथा प्रज्ञापन।]

कालसी	१	अतिकंतं	अंतलं	बहुनि	वससतानि	वधिते	वा
गिरनार	२	अतिकातं	अंतरं	बहूनि	वाससतानि	वढितो	एव
धौली	३	अतिकंतं	अंतलं	बहूनि	वससतानि	वढिते	व
जौगड़	४	अतिकंतं	अंतलं	बहूनि	वससतानि	वढिते	व
शहबाज़गढ़ी	५	अतिक्रतं	अंतरं	बहुनि	वषशतनि	वढितो	वो
मानसेरा	६	अतिक्रतं	अंतरं	बहुनि	वषशतनि	वढिते	वं
संस्कृत-अनुवाद		अतिक्रान्तं	अन्तरम्	बहूनि	वर्षशतानि	वर्धितः या वृद्धः	एव
हिंदी-अनुवाद		बीत गया	[समय का] अंतर	बहुत	सैकड़ों वर्ष	बढ़ा	ही

कालसी	७	पानालंभे	विहिसा	चा	भुतानं	नातिनं	असंपटिपति
गिरनार	८	प्राणारंभो	विहिंसा	च	भूतानं	ञातीसु [1]	असंप्रतिपती
धौली	९	पानालंभे	विहिसा	च	भूतानं	नातिसु	असंपटिपति
जौगड	१०	पानालंभे	. . .	.	. . .	. . .	. . . .
शहबाज़गढ़ी	११	प्रणरंभो	विहिस	च	भुतनं	ञतिनं	असंपटिपति
मानसेरा	१२	प्रणरंभे	विहिस	च	भुतनं	ञतिन	असपटिपति
संस्कृत-अनुवाद		प्राणालंभः	विहिंसा	च	भूतानाम्	ज्ञातीनां ज्ञातिषु	असंप्रतिपत्तिः
हिंदी-अनुवाद		प्राणों का नाश	हिंसा	और	जीवों की	संबंधियों का (में)	अनादर

कालसी	१३	समनबंभनानं	असंपटिपति	से	अजा	देवानं
गिरनार	१४	ब्राम्हणसमणानं	असंप्रतीपती	त	अज	देवानं
धौली	१५	समनबाभनेसु	असंपटिपति(१२)	से	अज	देवानं
जौगड़	१६	. . . .	. . . . . . (१४)	से	अज	देवानं
शहबाज़गढ़ी	१७	श्रमणब्रमणनं	असंप्रटिपति	सो	अज	देवनं
मानसेरा	१८	श्रमणब्रमणनं	असंपटिपति (१२)	से	अज	देवन
संस्कृत-अनुवाद		ब्राह्मणश्रमणानां श्रमणब्राह्मणानां श्रमणब्राह्मणेषु	असंप्रतिपत्तिः।	तत्	अद्य	देवानां
हिंदी-अनुवाद		श्रमण [और] ब्राह्मणों का (में)	अनादर।	सो	आज	देवताओं के

कालसी	१९	पियसा	पियदसिने	लाजिने	धंमचलनेना	भेलिघोषे
गिरनार	२०	प्रियस	प्रियदसिनो	राञो (२)	धंमचरणेन	भेरीघोसो
धौली	२१	पियस	पियदसिने	लाजिने	धंमचलनेन	भेलिघोसं
जौगड़	२२	पियस	पियदसिने	लाजिने	धंमचलनेन	भेलि ..
शहबाज़गढ़ी	२३	प्रियस	प्रियद्रशिस	रञो (१	ध्रमचरणेन	भेरिघोष
मानसेरा	२४	प्रियस	प्रियद्रशिने	र . ने	ध्रमचरणेन	भेरिघोषे
संस्कृत-अनुवाद		प्रियस्य	प्रियदर्शिनः	राज्ञः	धर्माचरणेन	भेरीघोषः
हिंदी-अनुवाद		प्रिय के)	प्रियदर्शी (के)	राजा के	धर्माचरण से	भेरीघोष

कालसी	२५	अहो	धंमघोसे	विमनदसना(१)		हथिनि	
गिरनार	२६	अहो	धंमघोसो	विमानदसणा	च	हस्तिदसणा	च(२)
धौली	२७	अहो	धंमघोसं	विमानदसनं		हथीनि	
जौगड़	२८	. .	. . . .	. . . .		. . .	
शहबाज़गढ़ी	२९	अहो	ध्रमघोष	विमननं द्रशनं		हस्तिनो	
मानसेरा	३०	अहो	ध्रमघोषे	विमनद्रशन		हस्तिने	
संस्कृत-अनुवाद		अथो	धर्मघोषः	विमानदर्शनानि विमानानां दर्शनं	च	हस्तिनः हस्तिदर्शनानि	च
हिंदी-अनुवाद		तथा	धर्मघोष	विमानों का दर्शन	और	हाथी हाथियों का दर्शन	और

कालसी	३१	अगिकंधानि		अंनानि	चा	दिव्यानि	लुपानि
गिरनार	३२	अगिखंधानि	च	अञानि	च	दिव्यानि	रूपानि
धौली	३३	अगिकंधानि		अंनानि	च	दिवियानि (१३)	लूपानि
जौगड़	३४	. . . . . .		. . . .	. (१४)	दिवियानि	लूपानि
शहबाज़गढ़ी	३५	जोतिकंधनि		अञनि	च	दिवनि	रुपनि
मानसेरा	३६	अगिकंधनि		अञनि	च	दिवनि	रुपनि
संस्कृत-अनुवाद		अग्निस्कन्धाः ज्योतिःस्कन्धाः	च	अन्यानि	च	दिव्यानि	रूपाणि
हिंदी-अनुवाद		अग्निस्कंध	और	दूसरे	और	दिव्य	रूपों को

कालसी	३७	दसयितु	जनस	आदिसे	बहुहि	वससतेहि	ना
गिरनार	३८	दसयित्पा	जनं	यारिसे	बहूहि	वाससतेहि (४)	न
धौली	३९	दसयितु	मुनिसानं	आदिसे	बहूहि	वससतेहि	नो
जौगड़	४०	दसयितु	मुनिसानं	आदिसे	बहूहि	वससते .	.
शहबाज़गढ़ी	४१	द्रशयितु	जनस	यदिशं	बहुहि	वषशतेहि	न
मानसेरा	४२	द्रशेति	जनस(१२	अदिशे	बहुहि	वषशतेहि	न
संस्कृत-अनुवाद		दर्शयितुम् दर्शयित्वा दर्शयति	जनस्य। जनं। मनुष्याणाम्।	यादृशं	बहुभिः	वर्षशतैः	न
हिंदी-अनुवाद		दिखाने के लिये दिखा कर दिखाता है	मनुष्यों (प्रजा) को।	जैसा	बहुतों (से)	सैकड़ों वर्षों से	नहीं

कालसी	४३	हुतपुलुवे	तादिसे	अजा	वढिते	देवानं	पियसा	पियदसिने
गिरनार	४४	भूतपुवे	तारिसे	अज	बढिते	देवानं	प्रियस	प्रियदसिनो
धौली	४५	हूतपुलुवे	तादिसे	अज	बढि.	देवानं	पियस	पियदसिने
जौगड़	४६	. . . . .	. . .	. .	. . .	. . .	. . .	. . . . . .
शहबाज़गढ़ी	४७	भुतप्रुवे	तदिशे	अज	वढिते	देवनं	प्रियस	प्रियद्रशिस
मानसेरा	४८	हुतप्रुवे	तदिशे	अज	वढिते	देवन	प्रियस	प्रियद्रशिने
संस्कृत-अनुवाद		भूतपूर्व	तादृशं	अद्य	वर्धित:	देवानां	प्रियस्य	प्रियदर्शिन:
हिंदी-अनुवाद		पहले हुआ	तैसा	आज	बढ़ाया	देवताओं के	प्रिय (के)	प्रियदर्शी (के)

कालसी	४९	लाजिने	धंमनुसथिये	अनालंभे	पानानं	अविहिसा	भुतानं
गिरनार	५०	राञो	धंमानुसस्टिया	अनारं(५) भो	प्राणानं	अविहीसा	भूतानं
धौली	५१	लाजिने	धंमानुसथिया(१५)	अनालंभे	पानानं	अविहिसा	भूतानं
जौगड़	५२	...(१६)		धंमानुसथिया	अनालंभे	पानानं	अविहिसा भूतानं
शहबाज़गढ़ी	५३	रञो	ध्रंमनुशस्तिय	अनरंभो	प्रणनं	अविहिस	भुतनं
मानसेरा	५४	रजिने	ध्रमनुशस्तिय	अनरभे	प्रणनं	अविहिस	भुतन
संस्कृत-अनुवाद		राज्ञः	धर्मानुशिष्ट्या	अनारम्भः	प्राणानां	अविहिंसा	भूतानां
हिंदी-अनुवाद		राजा के	धर्मानुशासन से	न मारा जाना	प्राणियों का	अहिंसा	जीवों की

कालसी	५५	नातिसु[१०]	संपटिपति	बंभनसमनानं	संपटिपति
गिरनार	५६	ञातीनं	संपटिपती	ब्रह्मणसमणानं	संपटिपती
धौली	५७	नातिसु	संपटिपति	मनबंभनेसु	संपटिपति
जौगड़	५८	नातिसु	संप . . .	. . . .	. . . . . .
शहबाजगढ़ी	५९	ञतिनं	संप्रटिपति	ब्रमण[८] श्रमणनं	संपटिपति
मानसेरा	६०	ञतिन[१४]	संपटिपति	बमणश्रमणनं	संपटिपति
संस्कृत-अनुवाद		ज्ञातिषु ज्ञातीनां	संप्रतिपत्तिः	ब्राह्मणश्रमणानां श्रमणब्राह्मणेषु	संप्रतिपत्तिः
हिंदी-अनुवाद		संबंधियों में	आदर	ब्राह्मण और श्रमणों का (में)	आदर

कालसी	६१	मातापितिसु	सुसुसा		एष	चा	अंने
गिरनार	६२	मातरि पितरि (६)	सुस्रुसा	थैरसुस्रुसा	एस		अञ्ञे
धौली	६३	मातिपितु	सुसूसा	वुढसुसूसा	एस		अंने
जौगड़	६४	. . . .	. . .	. . . . . (१७)	एस		अंने
शहबाज़गढ़ी	६५	मतपितुषु		वुढनंसुश्रुष	एत		अञ्ञं
मानसेरा	६६	मतुपितुषु	सुश्रुष	वुध्रनसुश्रुष	एषे		अञ्ञे
संस्कृत-अनुवाद		मातापित्रो मातरि पितरि	शुश्रूषा	वृद्धानां शुश्रूषा। स्थविरशुश्रूषा। वृद्धशुश्रूषा।	एतत्	{च}	अन्यत्
हिंदी-अनुवाद		माता पिता में (की)	शुश्रूषा	बुड्ढों की शुश्रूषा।	यह	{और}	दूसरा

कालसी	६७	चा	बहुविधे	धंमचलने	वढिते	वढियिसति	चेबा	
गिरनार	६८	च	बहुविधे	धंमचरणे	वढिते	वढयिसति	चेव	
धौली	६९	च	बहुविधे(१५)	धंमचलने	वढिते	वढयिसति	चेव	
जौगड़	७०	च	बहुविधे	धंमचलने	वढिते	वढयि . .	. .	
शहबाज़गढ़ी	७१	च	बहुविधं	ध्रमचरंण	वढितं	वढिशति	च	यो
मानसेरा	७२	च	बहुविधे	ध्रमचरणे	वध्रिते	वध्रयिशति	येव	
संस्कृत-अनुवाद		च	बहुविधं	धर्मचरणं	वर्धितम् ।	वर्धयिष्यति	चैव च	{इदं}
हिंदी-अनुवाद		और	बहुत प्रकार का	धर्माचरण	बढ़ाया है ।	बढ़ावेगा बढ़ेगा	और भी और	{यह}

कालसी	७३	देवानं	पिये	पियदसि	लाजा	इमं	धंमचलनं	
गिरनार	७४	देवानं	प्रियो (७)	प्रियदसि	राजा		धंमचरणं	इदं
धौली	७५	देवानं	पिये	पियदसी	लाजा		धंमचलनं	इमं
जौगढ़	७६	. . .	. .	. . . .	. .		. . . . .	. .
शहबाज़गढ़ी	७७	देवनं	प्रियस	प्रियद्रशिस	रञो		ध्रमचरणो	इम
मानसेरा	७८	देवन	प्रिये (१४)	प्रियद्रशि	रज		ध्रमचरण	इम
संस्कृत-अनुवाद		देवानाम्	प्रिय: प्रियस्य	प्रियदर्शी प्रियदर्शिन:	राजा राज्ञ:	इदं	धर्मचरणं	इदं।
हिंदी-अनुवाद		देवताओं का देवताओं के	प्रिय प्रिय (का)	प्रियदर्शी प्रियदर्शी (का)	राजा राजा का	इस (को) यह	धर्माचरण को धर्माचरण	इस(को)।

कालसी	७९	पुता		च	कं	नताले	चा	पनातिक्या	चा
गिरनार	८०	पुत्रा		च		पोत्रा	च	प्रपोत्रा	च
धौली	८१	पुता	पि	च		नति		पनति	च
जौगड़	८२	. . .	.	.		. .		. . .	.
शहबाज़गढ़ी	८३	पुत्र	पि	च	कु	नतरो	च	प्रनतिक	च
मानसेरा	८४	पुत्र	पि	च	कु	नतरे	च	पणतिक	
संस्कृत-अनुवाद		पुत्राः	अपि	च	खलु	नप्तारः पौत्राः	च	प्रनप्तारः प्रपौत्राः	च
हिंदी-अनुवाद		पुत्र	भी	और	निश्चय	नाती	और	परनाती	और

कालसी	८५	देवानं	पियसा	पियदसिने	लाजिने(११)	पवढयिसंति	
गिरनार	८६	देवानं	प्रियस	प्रियदसिनो	राञो(८)	वधयिसंति	इदं
धौली	८७	देवानं	पियस	पियदसिने	लाजिने(१६)	पवढयिसंति	
जौगड़	८८	. . .	. . . (१८)	पियदसिने	लाजिने	पवढयिसंति	
शहबाज़गढ़ी	८९	देवनं	प्रियस	प्रियद्रशिस	रञो	वढेशंति	
मानसेरा	९०	देवनं	प्रियस	प्रियद्रशिने	रजिने	पवढयिशंति	
संस्कृत-अनुवाद		देवानां	प्रियस्य	प्रियदर्शिनः	राज्ञः	प्रवर्धयिष्यन्ति	{इदं}
हिंदी-अनुवाद		देवताओं के	प्रिय (के)	प्रियदर्शी (के)	राजा के	बढावेंगे	{इस(को)}

कालसी	९१	येव	धंमचलनं	इमं	आवकपं	धंमसि	सिलसि
गिरनार	९२		धंमचरणं		आवसंवटकपा	धंमम्हि	सीलम्हि
धौली	९३	येव	धंमचलनं	इमं	आकपं	धंमसि	सीलसि
जौगड़	९४	येव	धंमच . .	. .	. . .	. . .	. . .
शहबाज़गढ़ी	९५		. मचरणं	इमं	अवकपं	ध्रमे	शिले
मानसेरा	९६		ध्रमचरण	इमं	अवकपं	ध्रमे	शिले
संस्कृत-अनुवाद		चैव	धर्मचरणं	इ	यावत्कल्पं यावत्संवर्तकल्पं	धर्मे	शीले
हिंदी-अनुवाद		और भी	धर्माचरण को	इसको	कल्पांत तक	धर्म में	शील में

कालसी	९७	चा	चिठितु	धंमं	अनुसासिसंति	एसे	हि	सेठे
गिरनार	९८		तिस्टंतो	धंमं	अनुसासिसंति(९)	एस	हि	सेस्टे
धौली	९९	च	चिठितु	धंमं	अनुसासिसंति	एस	हि	सेठे
जौगड़	१००	.	. . .	. .	. . . .	. .	.	. .
शहबाज़गढ़ी	१०१	च (१६)	तिस्तिति	ध्रमं	अनुशशिशंति	एत	हि	स्नेठं
मानसेरा	१०२	च (१६)	तिस्तितु	ध्रमं	अनुशशिशंति	एषे	हि	स्नेठे
संस्कृत-अनुवाद		च	तिष्ठन्तः स्थातुं (स्थित्वा)	धर्मं	अनुशासिष्यन्ति ।	एतत्	हि	श्रेष्ठं
हिंदी-अनुवाद		और	रहने को (रहकर) रहते हुए	धर्म को	अनुशासन करेंगे ।	यह	ही	श्रेष्ठ

कालसी	१०३	कंमं	अं	धंमानुसासनं	धंमचलने	पि	चा	नो	होति
गिरनार	१०४	कंमे	य	धंमानुसासनं	धंमचरणे	पि		न	भवति
धौली	१०५	कंमे	या	धंमानुसासना	धंमचलने	पि	चु (१७)	नो	होति
जौगड़	१०६	. .	.	. . . . . . (१६)	धमंचलने	पि	चु	नो	होति
शह्बाजगढ़ी	१०७	क्रमं	यं	ध्रमनुशशनं	ध्रमचरणं	पि	च	न	भोति
मानसेरा	१०८		अं	ध्रमुनशशन	ध्रमचरणे	पि	च	न	होति
संस्कृत-अनुवाद		कर्म	यद्	धर्मानुशासनं।	धर्मचरणं	अपि	च	न	भवति
हिंदी-अनुवाद		कर्म[है]	जो	धर्मानुशासन।	धर्माचरण	भी	और	नहीं	होता है

कालसी	१०९	अखिलसा	से	इमसा	अथसा	वधि	अहिनि	चा
गिरनार	११०	असीलस	त	इमम्हि	अयम्हि (०१)	वधी च	अहीनी	च
धौली	१११	असीलस	से	इमस	अठस	वुढी	अहीनि	च
जौगड़	११२	....	.	...	...	..	...	.
शहबाज़गढ़ी	११३	अशिलस	सो	इमिस	अथस	वढि	अहिनि	च
मानसेरा	११४	अशिलस	से	इमस	अथस	वध्रि	अहिनि	च
संस्कृत-अनुवाद		अशीलस्य।	तत्	अस्य	अर्थस्य	वृद्धिः {च}	अहानिः	च
हिंदी-अनुवाद		बिना शीलवाले का।	सो	इस(के)	अर्थ को	वृद्धि {और}	हानि न करना	और

कालसी	११५	साधु	एताये	अथाये	इयं	लिखिते(१२)	इमसा	अथसा	वधि
गिरनार	११६	साधु	एताय	अथाय	इदं	लेखापितं	इमस	अथस	वधि
धौली	११७	साधु	एताये	...	इयं	लिखिते	इमस	अठस	वढी
जौगड़	११८	...	...	...	...	...	...	...	...
शहबाज़गढ़ी	११९	सधु	एतये	अठये	इमं	दिपिस्त	इमिस	अठस	वढि
मानसेरा	१२०	सधु	एतये (१०)	अथ्ये	इमं	लिखिते	एतस	अ . स	वध्र
संस्कृत-अनुवाद		साधु ।	एतस्मै	अर्थाय	इदं	लिखितं लेखितं	अस्य एतस्य	अर्थस्य	वृद्धिं
हिंदी-अनुवाद		अच्छा है	इस(के लिये)	प्रयोजन के लिये	यह	लिखा लिखवाया	इस(की)	प्रयोजन की वृद्धि के	

कालसी	१२१	युजंतु	हिनि	च	मा	अलोचयिसु	दुवाडसवशाभिसितेना
गिरनार	१२२	युजंतु	हीनि	च(११)	मा	लोचेतव्या	द्वादसवासाभिसितेन
धौली	१२३	युजंतू	हीनि	च	मा	अलोचयिसु (११)	दुवादसवसानि अभिसितस
जौगड़	१२४	. . . (११)	हीनि	च	मा	अलोचयि .	. . . .
शहबाज़गढ़ी	१२५	युजंत	हिनि	च	म	लोचेषु(१०)	बदयवषभिसितेन
मानसेरा	१२६	युजंतु	हिनि	च	म	अनुलोचयिसु	दुवदशवषभिसितेन
संस्कृत-अनुवाद		युंजन्तु	हानिं	च	मा	आलोचयन्तु।	द्वादशवर्षाभिषिक्तेन द्वादश वर्षाणि अभिषिक्तस्य
हिंदी-अनुवाद		प्रयत्न करें	हानि को	और	नहीं	देखें।	बारह वर्ष से अभिषिक्त (ने)(के)

कालसी	१२७	देवानं	पियेना	पियदशिना	लाजिना			लेखितं
गिरनार	१२८	देवानं	प्रियेन	प्रियदसिना	राजा	इदं		लेखापितं (१२)
धौली	१२९	देवानं	पियस	पियदसिने	लाजिने	यं	..	लिखिते (१४)
जौगड़	१३०	. . .	. . .	. . . . . .	. . .	.	..	. . . (२१)
शहबाज़गढ़ी	१३१	देवनं	प्रियेन	प्रियद्रशिन	रञ	इदं	न	दिपपितं
मानसेरा	१३२	देवन	प्रियेन	प्रियद्रशिन	रजिन	इयं		लिखपिते (१८)

संस्कृत-अनुवाद	देवानां	प्रियेण प्रियस्य	प्रियदर्शिना प्रियदर्शिनः	राज्ञा राज्ञः	इदं	लेखितं।
हिंदी-अनुवाद	देवताओं के	प्रिय(ने) (के)	प्रियदर्शी(ने) (का)	राजा ने राजा का	यह	लिखाया।

[हिंदी अनुवाद ।]

बहुत काल बीत गया, सैंकड़ों वर्ष [बीत गए] [पर] प्राणों का नाश, जीवों की हिंसा, [और] संबंधियों, श्रमणों तथा ब्राह्मणों[1] का अनादर बढ़ता ही गया। सो आज देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण से भेरीनाद[3] तथा धर्म

१ ब्राह्मणश्रमण—तीसरे प्रज्ञापन में सभी जगह यही पाठ है, चौथे से लेकर जहाँ जहाँ यह पद आया है वहां वहां गिरनार में तो प्रायः ब्राह्मणश्रमण और दूसरी जगह प्रायः श्रमणब्राह्मण दिया है। इसी प्रज्ञापन में आगे चल कर धौली के पाठ में (और शायद जौगड़ में) श्रमणब्राह्मण है, और जगह ब्राह्मणश्रमण। संस्कृत व्याकरण से दोनों ही ठीक हैं—थोड़ी मात्राओंवाले शब्द का पूर्व प्रयोग मानें (अल्पाच्तरम्, पाणिनि २।२।३४) तो श्रमणब्राह्मणम् और उसी सूत्र के वार्तिक (अभ्यर्हितम्) को मानें तो ब्राह्मणों के प्रयोग में ब्राह्मणश्रमणम् और बौद्धों के प्रयोग में श्रमणब्राह्मणम्। दोनों प्रयोग वैकल्पिक भी हो सकते हैं। संभव है कि गिरनार प्रांत में बौद्धधर्म की प्रबलता उस समय न हुई हो, अथवा खोदनेवाला बौद्ध न रहा हो, उसने ब्राह्मण पद पहले रख दिया। पतंजलि के समय में भी जान पड़ता है कि ब्राह्मण और श्रमणों का चूहे बिल्ली का सा विरोध हो चला था, क्योंकि उसने एक जगह शाश्वतिक विरोध (पाणिनि, २।४।९) के उदाहरण में 'श्रमणब्राह्मणम्' लिखा है (पाणिनि. २।४।१२)। यह उदाहरण में 'श्रमणब्राह्मणं' प्रयोग शाश्वतिक विरोध के उदाहरण में काशिका की टीका जिनेंद्रबुद्धि रचित न्यास में भी दो पोथियों में मिलता है, बाकी पोथियों में ब्राह्मणनास्तिकम् है (पाणिनि २।४।९ पर न्यास, वरेंद्र रिसर्च सोसाइटी का संस्करण, पृ०४४७)। इन उदाहरणों में वैदिक पतंजलि और बौद्ध न्यासकार दोनों ने 'श्रमणब्राह्मणम्' ही दिया है।

२ असंप्रतिपत्ति—(शब्दार्थ) जो जिसका हक हो वह उसे ठीक ठीक न पहुँचाना, न चुकाना।

३ (धर्म का) नगारा बजना, डंका बजना। जातक (४। २६४·७६) में धम्मभेरी चरापेसी = धर्म का नगारा बजाया मिलता है।

का घोष हुआ तथा प्रजा को विमानों [४] के दर्शन, हाथियों के दर्शन, अग्निस्कंध [५] और दूसरे दिव्यरूपों [६] के दर्शन कराए गए। जैसा सैंकड़ों वर्ष पहले से [कभी] नहीं हुआ था वैसा देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्मानुशासन से आज कल प्राणियों का न मारा जाना, जीवों की अहिंसा, संबंधियों, ब्राह्मणों तथा श्रमणों [७] का आदर, माता पिता [८] और वृद्ध जनों की सेवा बढ़े हैं। ये तथा दूसरे अनेक प्रकार के धर्माचरण बढ़े हैं। देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस धर्माचरण को [और भी] बढ़ावेगा। देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र [९] इस धर्माचरण को

---

४ प्रतिमाएं या मूर्तियां। हाथी गुंफा के खारवेल के लेख में 'ततो लेखरूपगणनाववहारविधिविसारदेन' में भगवानलाल इंद्रजी ने 'रूप' का अर्थ चित्रविद्या किया है और पभोसा के लेख में 'श्रीकृष्ण-गोपीरूपकर्ता' में बूलर ने रूप का अर्थ प्रतिमा किया है। 'निसग्गिय पाचितिय' नामक बौद्ध ग्रंथ की टीका सामंतपासादिका में 'रूपं छिन्दित्वा कतो मासको, रूपं सामुत्थापेत्वा कत मासको' में 'रूप' का अर्थ सिक्के पर की मूर्ति है। जैसे आज कल रामलीला रासलीला में 'स्वरूप' बनाए जाते हैं वैसे ही अशोक ने प्रजा को दिखलाए हों यह भी हो सकता है। विमान का अर्थ दिव्य रथ है।

५ अग्निस्कंध का अर्थ आग का ऊँचा पुंज है, चाहे वह लकड़ियों का ढेर (bonfires) जलाकर, चाहे आतिशबाजी छोड़कर, चाहे मंदिरों के शंकु की आकृति के शिखरों वा बड़े दीपस्तभों पर बत्तियां रख कर, चाहे दक्षिण की शैली से वृक्षों की डालियों पर तेल से भीगे हुए कपड़े बांध कर जलाने आदि किसी भी रीति से हो।

६ बौद्ध धर्म के इन दृश्यों के प्रचार के वर्णन से फाहियान का पाटलिपुत्र की रथयात्रा का वर्णन बहुत मिलता है। कई सौ वर्ष पीछे भी अशोक की चलाई हुई यह विमान तथा दिव्यरूपदर्शना होती रही थी (फाहियान, नागरीप्रचारिणी सभा का संस्करण, पृष्ठ ६०—६१)

७ देखो ऊपर टिप्पण १।

८ गिरनार के पाठ में माता पिता का समास नहीं है, दो न्यारे न्यारे पद हैं। देखो प्रज्ञापन ३ टिप्पण ७।

९ हिंदी में नाती का अर्थ प्रायः दौहित्र ही रह गया है किंतु संस्कृत नप्तृ के दोनों अर्थ होते हैं—पौत्र और दौहित्र। प्रज्ञापनों में नप्तृ और प्रनप्तृ का अभिप्राय राज्यसंबंध से पोते परपोते से ही है, न कि दौहित्र प्रदौहित्र से।

कल्पांत[१०] तक बढावेंगे तथा धर्म और शील में [स्थित] रहते हुए धर्म का अनुशासन करेंगे [क्योंकि] धर्मानुशासन ही श्रेष्ठ कर्म है। बिना शीलवाले का धर्माचरण भी नहीं होता है। इसलिये इस बात की बढ़ती होना तथा घटती न होना श्रेष्ठ है। इसी प्रयोजन से यह लिखा गया कि[११] [लोग] इस उद्देश्य की वृद्धि में लगें[१२] और उसकी हानि [घटती] न देखें। राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष[१३] देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने यह [प्रज्ञापन] लिखाया[१२-१४]।

१० गिरनार में 'यावत्संवर्तकल्पं' है। संवत और कल्प का एक ही अर्थ है, पुनरुक्ति अतिशय दिखाने के लिये है।

११ लेखापितं (गिरनार)—संस्कृत में प्रेरणावाचक (णिजन्त) कुछ ही धातुओं के आगे 'प' लगता है। दूसरे प्रज्ञापन में हारापित रोपापित प्रयोग आए हैं। कारापित कारापित. लेखापित लिखापित (=कराया, लिखाया) आदि प्रयोग पोथियों की संस्कृत भाषा की दृष्टि से अशुद्ध हैं, उनका प्रयोग नहीं होता, किंतु शिलालेखों की जीवित (व्यवहार की) संस्कृत में बहुत मिलते हैं, प्राकृत में यह 'प' बहुत जगह मिलता है, प्राकृत की छाया पर चलनेवाली जैन संस्कृत में भी मिलता है। हिंदी 'करवाया' 'लिखवाया' तथा गुजराती 'कराव्युं' का व इसी प का प्रतिनिधि है। पिछले संस्कृत वैयाकरणों को 'लेखापयति' को शुद्ध बताने की आवश्यकता सूझी। दुर्घटवृत्ति के कर्ता शरणदेव (११७२ ई०) ने कारस्थ नामक वैयाकरण (?) के लिखापयति, वर्णयति प्रयोगों को रक्षित नामक वैयाकरण की सम्मति से सिद्ध किया है (त्रिवेंद्रम संस्करण, पृ० ५५)। भट्टोजिदीक्षित ने प्रौढमनोरमा में लिखापयति (=लेखयति) को यों शुद्ध बताना चाहा है—अपनं, आपः = प्राप्तिः, लिखस्य आपः लिखापः, तं करोति लिखापयति !! व्यवहार को प्रमाण न मानने से यही दशा होती है।

१२ शब्दार्थ—वृद्धि को जुड़ें, वृद्धि में जुट जांय।

१३ धौली के पाठ में समास नहीं है।

१४ दिपिस्त, दिपपित (शहबाज़गढ़ी) —पाणिनि ने एक सूत्र में लेख के अर्थ में लिपि और लिबि दो शब्द दिए हैं (अष्टाध्यायी ३।२।२१)। प्राचीन आर्य भाषा में लिप् और लिब् की तरह दिप् और दिब् धातु भी लिखने के अर्थ में थे। संस्कृत में उनका प्रयोग नहीं मिलता किंतु फारसी दबीर (=लेखक), संस्कृत दिविर (=कायस्थ, यथा दिविरो दिवि रोदिति) शब्द संस्कृत लिपि + कर के अर्थ और गठन में समान हैं। शहबाजगढ़ी के पाठ में दिप् धातु भी इस प्रयोग में मिल गया। दिपिस्त का स्त भूतकाल का प्रत्यय फारसी गश्त, गुज़श्त के जोड़ का है। संस्कृत के कई धातुओं में परोक्ष और सामान्य भूत में ०ईष्ट ०इष्ट वाले रूप होते हैं। कर्म-(भाव) प्रधान धातुज विशेषण (निष्ठा) में तो ०त या ०ट है ही।